दृष्टिकोण

कला, मानविकी एवं वाणिज्य की मानक शोध पत्रिका

संपादक

डॉ. अश्विनी महाजन

रीडर, डी.ए.वी. पी.जी. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

कार्यकारी संपादक

डॉ. पुष्प राज गौतम

प्राचार्य, बी.पी.एस. कॉलेज, भोरे, गोपालगंज

दृष्टिकोण प्रकाशन

WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045

वर्ष : 8 **अंक :** 2 ❑ मार्च-अप्रैल, 2016

दृष्टिकोण

संपादक मंडल

प्रो. लॉरेंस ओएडिजी
वेगेनिंग्न विश्वविद्यालय, नीदरलैंड
डॉ. मार्टिन ग्रिन्डले
नॉटिंग्म विश्वविद्यालय, लंदन
डॉ. अरुण अग्रवाल
ट्रेन्ट विश्वविद्यालय, पीटरवोरोग, ओन्टारियो
डॉ. दया शंकर तिवारी
राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
डॉ. आनंद प्रकाश तिवारी
काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी
डॉ. सुरज नन्दन प्रसाद
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
डॉ. प्रकाश सिन्हा
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
डॉ. दीपक त्यागी
दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर
डॉ. सी.पी. शर्मा
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग
डॉ. अरुण कुमार
रांची विश्वविद्यालय, रांची
डॉ. महेश कुमार सिंह
सिद्धू कान्हू विश्वविद्यालय, दुमका
डॉ. पूनम सिंह
बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर
डॉ. एस. के. सिंह
पटना विश्वविद्यालय, पटना
डॉ. अनिल कुमार सिंह
जे.पी. विश्वविद्यालय, छपरा
डॉ. मिथिलेश्वर
वीर कुंअर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091
फोन : 011-22753916, 49050844, 64683387
e-mail : editorialindia@gmail.com

©Editorial India
Editorial India is a content development unit of Permanence Education Services (P) Ltd.

मूल्य: ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक निर्मल कुंमार सिंह द्वारा WZ-724, पालम गांव, नई दिल्ली-110045 से प्रकाशित तथा प्राइमा प्रिंटर्स, वाई-56, ओखला, औद्योगिक क्षेत्र, फेस-2, नई दिल्ली से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

शिक्षा एक अति महत्वपूर्ण निवेश और मानव संसाधन विकास में एक अनिवार्य तत्व है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में इसे हमेशा से सम्मानजनक स्थान दिया गया है। इसका अभिप्राय है लोगों की पढ़ने-लिखने और समझने की क्षमता। इसका मूलभूत पहलू ज्ञान, विवेक और संस्कृति है। यह व्यक्ति की अंतर्निहित क्षमता और योग्यताओं को निखारने में सहायता करती है। सुपरिभाषित शिक्षा प्रणाली देश के आर्थिक विकास, सामाजिक परिवर्तन, आधुनिकीकरण और देश की अखंडता की कुंजी है। यह अर्थव्यवस्था के विभिन्न वर्गों के लिए जनशक्ति विकसित करता है। यह ऐसा आधार है जिस पर नवपरिवर्तन, अनुसंधान और विकास पुष्पित और पल्लवित होते हैं। इस प्रकार से शिक्षा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तरों पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक लक्ष्य हासिल करने में देश की सहायता करती है। यह स्वास्थ्य, स्वच्छता, जनसांख्यिकीय रूपरेखा, उत्पादकता और जीवन की गुणवत्ता में सुधार को प्रभावित करता है।

स्वतंत्रता के बाद से ही भारत सरकार के लिए निरक्षरता का उन्मूलन एक मुख्य राष्ट्रीय चिन्ता का विषय है। भारत के संविधान के तहत, आरंभ में शिक्षा राज्य का विषय था, अर्थात् यह राज्य की विशिष्ट जिम्मेदारी थी। परन्तु 1976 के 42वें संशोधन अधिनियम ने इसे राज्य सूची से समवर्ती सूची में रख दिया है। इस कदम ने केन्द्रीय और राज्य दोनों सरकारों को समवर्ती सूची में रख दिया है। यह कदम केन्द्रीय और राज्य दोनों सरकारों को समवर्ती रूप से क्षेत्राधिकार देता है। जबकि शिक्षा में राज्यों की भूमिका और जिम्मेदारी मोटे तौर पर अपरिवर्तित रही हैं। केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा की राष्ट्रीय और एकीकृत विशेषता के प्रवर्तन, सभी क्षेत्रों के लिए गुणवत्ता का स्तर बनाए रखने, जिसमें शिक्षण व्यवसाय तथा शिक्षा की अपेक्षाओं का देश में निगरानी और अध्ययन शामिल है, के लिए बड़ी जिम्मेदारी ली है। दूसरे शब्दों में इसका लक्ष्य सभी स्तरों के शिक्षा पिरामिड में सक्षम जनशक्ति आधार का विकास करने, अनुसंधान और विकसित अध्ययन की पूर्ति तथा शिक्षा के अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं में उत्कृष्टता का संवर्धन करना था।

'तकनीकी शिक्षा' देश के सशक्त मानव संसाधन विकास के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह कुशल जनशक्ति के सृजन में सहायता देती है, औद्योगिक उत्पादकता को बढ़ावा देती है और जीवन की गुणवत्ता में सुधार आता है। यह अभियांत्रिकी, प्रौद्योगिकी, प्रबंधन, वास्तुकला, टाउन प्लानिंग, भैषजिकी, अनुप्रयुक्त कला और हस्तशिल्प, होटल प्रबंधन तथा केटरिंग प्रौद्योगिकी के पाठ्यक्रमों और कार्यक्रमों को कवर करता है। यह मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बांटा गया है, जिनके नाम हैं- केन्द्रीय सरकार द्वारा निधिकृत संस्थान, राज्य सरकार/राज्य द्वारा निधिकृत संस्थान और स्वयं वित्तपोषित संस्थान। वर्ष 2007-08 में 52 केन्द्रीय निधिकृत संस्धान हैं जो तकनीकी और विज्ञान शिक्षा प्रदान करते हैं, इसके अलावा शीर्षस्तरीय अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् (एआईसीटीई) और वास्तुकला परिषद् (सीओए) आदि भी उल्लेखनीय हैं।

वर्ष 2005-06 के दौरान कोलकाता और पुणे में विज्ञान शिक्षा और अनुसंधान के दो भारतीय संस्थान (आईआईएसईआर) स्थापित किए गए और 2006-07 में मोहाली में तीसरा संस्थान बनाया गया। ग्यारहवीं योजना के दौरान भोपाल और तिरुवनंतपुरम में दो और विज्ञान शिक्षा और अनुसंधान भारतीय संस्थान बनाने का अनुमोदन दिया गया है। तकनीकी शिक्षा को और अधिक व्यापक आधारित बनाने के लिए ग्यारहवीं योजना के केन्द्रीय निधिकृत तकनीकी शिक्षा संस्थानों में बड़े विस्तार की संकल्पना की गई है, जैसे कि (1) आठ नए आईआईटी स्थापित करना, जिनमें से 4 बिहार, आंध्र प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में होंगे, (2) सात अन्य आईआईएम स्थापित करना, जिनमें से 2007-08 के दौरान शिलांग में राजीव गांधी भारतीय प्रबंध संस्थान पहले ही स्थापित किया गया है, (3) विभिन्न विशिष्ट प्रक्षेत्र हिस्सों में सूचना प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग पर फोकस सहित 20 नई आईआईआईटी की स्थापना करना।

इसलिए वर्षों से साक्षरता, स्कूल में नामांकन, स्कूलों का नेटवर्क और उच्च शिक्षा की संस्थाओं का विस्तार, जिसमें तकनीकी शिक्षा भी शामिल हैं, की दृष्टि से उल्लेखनीय प्रगति हासिल की गई है। साक्षरता दर वर्ष 1951 में 18.43 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2001 में 64.84 प्रतिशत हो गई है। भारत की जनगणना 2001 के अनुसार पुरुष साक्षरता 75.26 प्रतिशत है और महिला साक्षरता 53.67 प्रतिशत है। व्यावसायीकरण और रोजगारोन्मुखी पाठ्यक्रमों पर अधिक बल देते हुए पाठ्यक्रमों की पुनरीक्षा करने के सभी प्रयास किए जा रहे हैं, इसमें मुक्त अभिगम्यता प्रणाली के विस्तार और विविधीकरण, प्रशिक्षक प्रशिक्षणों का पुनर्गठन तथा नए सूचना और संचार प्रौद्योगिकी का अधिकाधिक उपयोग जैसे कम्प्यूटर आदि शामिल हैं। इस प्रकार से शिक्षा क्षेत्र में विकास, विविधीकरण और निवेश के प्रचुर अवसर मौजूद हैं। यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अर्थव्यवस्था में सभी मंचों पर राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में शिक्षा अंतिम गारंटी है।

संपादक

इस अंक में

हिन्दी

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में छन्द-विधान—*डॉ० आनन्द प्रकाश गुप्ता* 7

पंत के काव्य में विविध दर्शन का प्रभाव—*कुमारी सुषमा* 14

महादेवी वर्मा का नारी चिंतन: एक दृष्टि—*डॉ० रश्मि जैन* 22

फणीश्वर नाथ 'रेणु' कृत 'ठुमरी' कहानी संग्रह का समीक्षात्मक अध्ययन —डॉ० मनोज कुमार पाण्डेय 26

मैला आँचल में जन-जागृति तथा लोक-संस्कृति का चित्रण—*डॉ० बिभा कुमारी* 33

संपादक, विचारक और समालोचक—*रणविजय पासवान* 36

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि—*डॉ० पूजा कुमारी* 41

हिन्दी की समकालीन कहानियों में दलित-चेतना—*डॉ० रमण कुमार* 46

उपन्यास 'काला पहाड़' का समीक्षात्मक अनुशीलन—*डॉ० नीलम तिवारी* 50

संस्कृत

सीताचरित एवं मानवाधिकार: एक समीक्षण—*डॉ० प्रसून दत्त सिंह* 58

भासविरचित प्रतिमानाटके रसाणां समीक्षा—*डॉ० राजवीर शास्त्री* 64

स्मृति-साहित्य में वर्णित कर-व्यवस्था—*डॉ० दीपिका कश्यप* 69

वेदों के अंगभूत वेदांग-साहित्य: एक परिचय—*प्रा० किकाणी भूपतभाई एफ* 72

उपनिषदों में श्रेय पथ—*डॉ० नलिनी श्रीवास्तव* 76

इतिहास

बुद्धकालीन मगध साम्राज्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन—*महमूद आलम* 82

स्मृतियों में वर्णित धार्मिक विधान एवं नारी—*महेन्द्र प्रताप यादव* 86

वहाबी आंदोलन, जनजातीय और 1857 विद्रोह का तुलनात्मक अध्ययन—*डॉ० प्रवीण कुमार* 108

सिपाही विद्रोह के उभार के विभिन्न आयाम—*जितेन्द्र कुमार* 115

गांधीजी की दृष्टि में सामाजिक न्याय—*आलोक कुमार सिन्हा* 120

ब्रिटिश काल में न्याय प्रणाली की विवेचना—*देवेश कुमार* 124

प्राचीन भारत में विज्ञान एवं तकनीक—*डॉ० मयूराक्षी रानी* 127

दृष्टिकोण

दर्शनशास्त्र

बौद्ध और जैन दर्शन का एक समीक्षात्मक अध्ययन–*कहकशाँ कौसर* 131

संगीत

प्रकृति और संगीत–*सुनील कुमार तिवारी* 140

राजनीति विज्ञान

प्राचीन भारत के ग्रामीण विकास में पंचायतीराज व्यवस्था–*बिपिन दुबे* 146
भारतीय समाज में महिला-पुरूष सम्बन्धों की सोच के विभिन्न आयाम–*डॉ० रीता कुमारी* 150
लैंगिक असमानता का वैश्विक और भारतीय संदर्भ–*डॉ० अनुपा देवी* 156
लैंगिक विभेद में पितृसत्ता की भूमिका–*विकास कुमार* 161
सार्क और भारत स्थापना एवं उद्देश्य–डॉ० अनुजा रानी गर्ग 165

मनोविज्ञान

झारखण्ड के सिमडेगा जिलान्तर्गत कंवर जनजाति के बीच समस्या एवं समाधान का एक क्षेत्र अध्ययन (बड़कीविउरा गाँव के संदर्भ में)–*स्मृति अनु* 169
आवासीय पृष्ठभूमि में आदिवासी, ग्रामवासी एवं नगरवासियों की सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृत्ति का एक अध्ययन–*डॉ० आशा कुमारी* 178
वर्तमान समय में युवावर्ग की मूल्य पद्धति एवं समाज पर इसका प्रभाव–*डॉ० अनामिका* 183
वेद पर आधारित भारतीय मनोविज्ञान: एक मनोवैज्ञानिक विवेचन–*डॉ० राहुल प्रकाश* 188
मादा भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण–*जितेन्द्र कुमार सिंह* 191
शिक्षा मनोविज्ञान का शैक्षिक विवेचन–*डॉ० भगवानजी उपाध्याय* 197
मादा भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (आर्थिक स्थिति के संदर्भ में)–*प्रो० गीता कुमारी* 201
युवाओं में बढ़ती नशाखोरी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन–*डॉ० रश्मि सिंह* 207

शिक्षा

जान डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन –रत्नेश कुमार जैन; डॉ० नम्रता जैन 213

अर्थशास्त्र

ग्रामीण विकास के लिए कृषि को बढ़ावा: एक दृष्टि–डॉ० शिखा 219

हिन्दी

आदिकालीन हिन्दी साहित्य में छन्द–विधान

डॉ॰ आनन्द प्रकाश गुप्ता

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जे.के. कॉलेज, बिरौल, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

मुख्य अन्वेषक, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग परियोजना

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की छन्द-योजना अत्यंत विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है। इस काल के कवियों ने परंपरा से चली आ रही छन्द-योजना की विरासत को बहुत ही अच्छे से पहचाना है क्योंकि आदिकालीन हिन्दी साहित्य पर संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के छन्दों का व्यापक प्रभाव रहा है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि सदियों से चली आ रही छन्द-योजना को इस युग के कवियों ने आँख मूँदकर अपना लिया बल्कि सच तो यह है कि परंपरा से चली आ रही छन्दों को इन्होंने युगीन परिवेश के अनुसार विश्लेषण किया है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा होती है। इस भाषा के स्थूलत: दो रूप होते हैं- गद्य और पद्य। गद्य जैसे व्याकरण के द्वारा शासित होता है उसी प्रकार पद्य पिगंल के द्वारा।[1] पिंगल वस्तुत: पद्य का व्याकरण होता है जिसके आदि आचार्य 'पिंगल मुनि' माने जाते हैं जो नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि से भी पुराने हैं।[2] यह नाम भी इन्हीं मुनि के आधार पर रखा हुआ है, वरना इसे छन्दशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। उपर्युक्त बातों के आधार पर हम 'छन्द' को इस प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं- 'अक्षर, अक्षरों की संख्या एवं क्रम, मात्रा, मात्रा-गणना तथा यति-गति आदि से सम्बन्धित विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य रचना 'छन्द' कहलाती है।[3] इसका महत्त्व इसी से आंका जा सकता है कि यह वेद के छह अंगों- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद तथा ज्योतिष में से एक है।

छंदों का सम्बन्ध भाषा के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है अत: उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो नियम भाषा के सम्बन्ध में लागू होते हैं वही छन्दों के सम्बन्ध में भी। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पहला और पुराना मत तो यह है कि-भाषा, संगीत, नृत्य, छन्द विधान और लय ये सभी दैवी स्रोत से उत्पन्न हैं- 'सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवति' परंतु आज का जीवन-वैज्ञानिक या भाषा तत्वज्ञ अथवा बौद्धिक प्राणी इस सिद्धांत को मानने से इन्कार करता है। समवेत रूप से इनका कहना है कि ये काव्य, संगीत, छन्द, नृत्य और लय आदि आदिम मानव की व्यावहारिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही विकसित हुए। मानव ने इन्हें स्वयं उन्नतिशील बनाया। इनकी रचना, शृंगार और

सजावट में मनुष्य का मेहनत-मशक्कत तथा खून-पसीना लगा हुआ है। इसलिए जर्मन समाजशास्त्री व्यूचर ने संगीत तथा काव्य का श्रम से घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़कर आदिम विकास स्थिति में उन्हें एक ही प्रेरणा की देन माना है।[4] कार्लमार्क्स तो इन सभी के मूल में आर्थिक तत्व की प्रधानता ही बतलाया है। उसके अनुसार- 'संस्कृति, धर्म, राजनीति, सामाजिक और बौद्धिक जीवन का निर्धारण उत्पादन की प्रणालियों द्वारा होता है और ये उत्पादन की प्रणालियों के तत्कालिक परिणाम है।[5]

आचार्य रामचन्द शुक्ल ने लिखा है कि ''ज्ञानेन्द्रियों से समन्वित मनुष्य जाति जगत नामक अपार और अगाध रूप- समुद्र में छोड़ दी गयी है, न जाने वह कब से इसमें बहती चली आ रही है। इसी रूप-तरंगों से उसकी कल्पना का निर्माण और उसी की रूपगति से उसके भीतर विविध मनोविकारों का विधान हुआ है।[6] और ये मनोविकार ही छंदों के मूल उत्स है। ये मनोविकार भावावेग की अवस्था में तीव्रतम और उत्कट हो जाते हैं परिणामस्वरूप भाषा स्वत: ही लयात्मक प्रवाह में फूट पड़ती है। ''प्रेम, करूणा, भय, क्रोध आदि की उत्कटता में हम एक प्रकार से उन्माद की सी अवस्था में पहुँच जाते हैं और हमारी अभिव्यक्ति अपने-आप छन्दोमयी हो जाती है।[7]'' परंतु यह उत्कटता सामाजिक प्रतिक्रिया के ही परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है। इस प्रकार छन्द परंपरा का सम्बन्ध परोक्ष या अपरोक्ष रूप से समाज के साथ जुड़ा हुआ है। विभिन्न कालों में नये छंदों के आविर्भाव की सूचना इसी तथ्य को पुष्ट करती है। संस्कृत का श्लोक, प्राकृत का गाथा और अपभ्रंश के दोहा छंद का विकास इसी सामाजिक आवश्यकता की माँग के साथ जुड़ा हुआ है।

जहाँ तक काव्य, छंद, लय और संगीत के आपसी सम्बन्ध का प्रश्न है तो इसको लेकर विद्वानों के बीच मतभेद की स्थिति बनी हुई है। अरस्तू पहला आलोचक है जो इनके आपसी सम्बन्ध को इन्कार करता है और छन्द को काव्य का अनिवार्य माध्यम नहीं मानता। इसके सम्बन्ध में अरस्तू के मत का सारांश निम्न है-

1. छंद काव्य का अनिवार्य माध्यम नहीं है।
2. छंदहीन गद्य में भी सफल काव्य-रचना हो सकती है।
3. केवल छन्द के कारण कोई कृत्ति काव्य नहीं हो जाती।
4. काव्य और संगीत पृथक कलाएँ हैं- सामान्य रूप से काव्य का माध्यम संगीत विहीन पद्य ही होता है।[8]

अरस्तू ही नहीं बल्कि सिडनी, कॉलरिज, रास्किन आदि आलोचकों ने भी स्पष्ट रूप से छन्द को काव्य का अनिवार्य माध्यम मानने से इन्कार कर दिया।[9] कॉलरिज ने तो स्पष्ट लिखा कि ''सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता छन्द के बिना भी हो सकती है।''[10] परंतु ठीक इसके विपरीत ड्राइडन, डॉ॰ जान्सन, कार्लाइल, स्टुअर्ट- मिल आदि साहित्य- मर्मज्ञों ने दृढ़तापूर्वक काव्य के लिए छन्द की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया। डॉ॰ जान्सन छन्दोबद्ध रचना को ही कविता कहता है। कार्लाइल ने स्पष्ट घोषित किया कि ''जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे काव्य की यह ग्राम्य विशिष्टता बहुत कुछ सार्थक प्रतीत होती है कि कविता छन्दोबद्ध होनी चाहिए- उसमें संगीत होना चाहिए। जॉन स्टुअर्ट मिल की सम्मति में जब से मानव है, तभी से सब गहन और स्थायी भाव लययुक्त भाषा में ही अभिव्यक्त होते

आये- मानव जितना ही गहन होता है लय उतनी ही विशिष्ट एवं सुनिश्चित हो जाती है।''[11]

वस्तुत: इन मतभेदों के परे आज यह सिद्धांत प्राय: मान्य हो गया है कि इनका आपसी सम्बन्ध स्वभावानुकूल ही है। और, इसके सम्बन्ध में यह कथन प्राय: सत्य प्रतीत होता है कि काव्य में रसात्मक तत्व का अतिशय होने के कारण लय और छन्द की आवश्यकता स्वभावत: ही हो जाती है। रसात्मक स्थिति मन की उच्छ्वसित अवस्था ही तो है। मन का उच्छ्वास श्वांस के आरोह-अवरोह में व्यक्त होता है और वही 'लय' है- यही लय शब्द के साथ संयुक्त होकर छन्द बन जाती है। इस प्रकार छंद रसात्मक अनुभूति का सहज माध्यम बन जाता है।

इसी मनोवैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्टुअर्ट मिल ने काव्य और छंद का नित्य सम्बन्ध माना है। इसके अनुसार साहित्य के 'काव्य' नामक रूप के लिए छन्द आवश्यक उपबन्ध सिद्ध हो जाता है। अत: छन्द काव्य का अनिवार्य माध्यम है, उसके अभाव में काव्य का रूप अपूर्ण रह जाता है।[12] संभवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ॰ व्यास ने लिखा है कि ''संगीत तथा छंद दोनों की वास्तविक आत्मा 'लय' है। 'लय' के अभाव में न तो काव्य का छन्दोविधान ही होगा, न संगीत ही। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य को सर्वथा पद्यबद्ध न मानकर गद्यबद्ध रागात्मिका वृति वाली कृतियों को भी काव्य माना, तथा कॉलरिज ने भी काव्य का प्रतियोगी (विरोधी) गद्य को न मानकर 'विज्ञान' को माना या, फिर भी काव्य का छन्दोबद्धता से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा समस्त पुराना काव्य ही नहीं, विश्व साहित्य का अधिकतम भाग छन्दोबद्ध ही है। इसलिए कि छन्द स्वत: काव्य के प्रेषणीय भाव को तद्नुरूप 'लय' में अभिव्यक्त करता है।''[13]

इस प्रकार साहित्य में छन्दों का महत्त्व असंदिग्ध है। प्राचीनतम् साहित्य से लेकर आज तक इनका प्रयोग निरंतर होता चला आया है। केवल शुद्ध साहित्य के लिए ही इनका प्रयोग होता रहा हो ऐसी बात भी नहीं, अपितु इनका प्रयोग व्याकरण, कोश, धर्मशास्त्र, इतिहास, राजनीति, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि परिभाषिक विषयों के लिए भी होता रहा है।

अपभ्रंश साहित्य की अपनी खास विशेषता है- मात्रिक छंदों के प्रयोग की। तुक मिलाने की प्रथा भी यही से आरंभ होती हैं। 'पुरानी हिन्दी' ने इन दोनों विशेषताओं को सुरक्षित रखा। नीचे के छन्दों के विवेचन से यही तथ्य सिद्ध होता है।

आदिकाल के प्रमुख छंद

दोहा

दोहा अपभ्रंश ही नहीं हिन्दी-काव्य-परंपरा का एक सर्वाधिक प्रचलित छन्द है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' से लेकर आज तक इसका प्रयोग लगातार होता चला आ रहा है। संभवत: दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ। संस्कृत और प्राकृत के अतुकांत छंदों की तुलना में यह बड़ा परिवर्तन था।

दोहा 24 मात्राओं का एक अर्द्ध सम चतुष्पदी छन्द है। 'प्राकृत पैंगलम' के अनुसार इसकी मात्रिक

गण व्यवस्था विषम चरणों में 6+4+3 और समचरणों में 6+4+1 मानी गयी है। 14 मति पदांत में होती है। विषम चरणों के आदि में जगण नहीं होना चाहिए। तुक प्राय: सम पादों का मिलता है।[15]

विद्वानों का विचार है कि दोहा संभवत: नवीन जातियों के संपर्क का परिणाम हो।[16] पंडित राहुल सांकृत्यायनम् इसे शकों की देन मानते हैं।[17] उन्होंने लिखा है कि- ''इसमें शक नहीं, ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसा की पाँचवीं सदी तक यवन, ग्रीक, हूण (हैकताल) आदि जातियाँ भारी संख्या में भारत में आकर सदा के लिए बस गयी। शक सामंत हमारे यहाँ के संभ्रांत राजपूतों, जाटों, अहीरों, गूजरों के रूप में आज भी मौजूद है। हिन्दी ने मुस्लिम काल में अरबी और फारसी विशेषकर अरबी के कितने ही छंदों को लिया, जिनका प्रयोग आज भी होता है। ऐसे ही यदि उपर्युक्त घुमन्तु जातियों के गीतों और छन्दों के बारे में किया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।[18]'' जो भी हो इसमें कोई संदेह नहीं कि अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के मुक्तक और प्रबन्ध दोनों काव्य-रूपों में इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। हिन्दी आदिकालीन साहित्य के प्राय: सभी काव्य-ग्रंथों में इसका प्रयोग दिखाई पड़ता है। जैन कवियों ने इस छन्द का प्रयोग अध्यात्म, उपदेश और भक्ति आदि विषयों के लिए खूब किया है। 'संदेश रासक', 'पृथ्वीराज रासो', 'कीर्तिलता', 'थूल्लिभद्द फागु', 'ढ़ोलामारू-रा-दूहा', 'चंदायन' तथा 'प्राकृत पैंगलम' में इसके उदाहरण प्राय: मिल जाते हैं। भक्तिकाल और रीतिकाल में भी इसकी महत्ता में कोई कमी नहीं दिखाई पड़ती।

सोरठा

यह मात्रिक अर्द्ध सम चतुष्पदी छंद है। प्राकृत पैंगलम में इसे दोहे का उलटा बताया गया है।[19] संभवत: सौराष्ट्र के कवियों के यहाँ विशेष प्रचलित होने के कारण इस छन्द का नाम 'सोरट्ठ' या 'सोरठा' पड़ गया।[20] पृथ्वीराजरासो में इसे 'सोरठि दूहा' के नाम से पुकारा गया है।[21] यथा-

'सम इक सोम कुमार, सम सामंतन सूर सम
सोम सीस भुअ भार, सो बैठे सुभ सभा रचि।'

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में भी इसका प्रयोग कम नहीं दिखाई पड़ता। खासकर तुलसी के मानस में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है।

चउपई (चौपई)

इसके प्रत्येक चरण में 15 मात्रायें होती है और अंत में गुरू-लघु (S।) का विधान होता है। विनम चन्द्रसूरि रचित आदिकालीन काव्य 'नेमिनाथ चउपई' इसी छन्द में निर्मित है। उसकी एक चउपई का उदाहरण निम्न है:-

भाद्वि मरिया सर निक्खेवि। सकरूण रोअइ राजल देवि।
हा एकलडी मइ निराधर। किम ऊबेपिसि करूणासार।[22]

चन्द, सूर, नन्ददास, केशव आदि कवियों ने भी इस छंद के इसी रूप को अपनाया। 'संदेशरासक' के 85 वें छन्द के अनुसार 86 वाँ इन्द 'चउपई है।[23]

चौपाई

चौपई में एक मात्रा जोड़ देने से 'चौपाई' छन्द बन जाता है। अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में 16 मात्रायें होती है। तुकांत में जगण (।S।) अथवा तगण (SS।) का निषेध होता है।[24] अंत में प्राय: दो गुरू वर्णों के रखने से उस छंद में प्रवाह आ जाता है। डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी इसका सम्बन्ध अपभ्रंश के 'अलिल्लह छंद' से जोड़ते हैं।[25] इस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश के 16 मात्रिक वर्णनात्मक छंदों से विकसित हिन्दी का यह सर्वाधिक प्रिय और अपना छंद बन गया। चंद के 'पृथ्वीराज रासो' में जो चौपाई छंद प्रयुक्त है उसका रूप निम्न है:-

कहे हंस सुनि बाल विचारी। पंग बधुर बीर सु पुत्तारी।
तिहि तु दई मातु पितु बंध। सो तुम जोग नहीं वर कंध।।[26]

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का तो यह बड़ा ही प्रिय छंद रहा है। सूफी कवियों के प्रेमाख्यानकों में तथा तुलसी के मानस में इसका सर्वाधिक प्रयोग दिखाई पड़ता है।

अरिल्ला (अडिल्ला)

आदिकाल में इस छंद का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले कवि स्वयंभू हैं।[27] बाद में अब्दुल रहमान के 'संदेशरासक', चंद के 'पृथ्वीराज रासो, विद्यापति के 'कीर्तिलता', तुलसी के 'मानस', सूर के सूरसागर, केशव के 'रामचंद्रिका' आदि में भी इसके उदाहरण प्राय: मिल जाते हैं।

पद्धड़िया

यह हिन्दी में सर्वाधिक प्रचलित चौपाई छंद का पूर्व रूप है। अपभ्रंश भाषा में स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि अनेक आदिकालीन कवियों ने इसका प्रयोग किया है।

मरहट्टा

जैन कवियों के काव्यों में इसके उदाहरण मिल जाते हैं।

कामिणी मोहन

इसे छंद शास्त्रियों ने 'मदनावतार' भी कहा है।[28] यह पंचमात्राओं का छंद होता है।

झूलना

आदिकालीन जैन साहित्य में यह छंद प्राप्त होता है। इसके संबंध में डॉ॰ व्यास ने लिखा है कि ''मूलत: ये सभी छंद गुजरात राजस्थान में नृत्य के साथ गाये जाते वाले लोकगीतों की 'लय' में निबद्ध है। 'झूलना' नाम भी इसका संकेत करता है, जो 'दोला नृत्य' से संबद्ध जान पड़ता है।[29]

गाथा (गाहा)

यह प्राकृत का बड़ा ही प्रिय छंद है ''जिसकी प्रथम अर्धाली में 30 तथा द्वितीय अर्धाली में 27 मात्रायें होती थीं।''[30]

उपर्युक्त रूप से चर्चित छंदों के अतिरिक्त आदिकालीन साहित्य में प्रयुक्त होने वाले छंदों में द्विपदी (दुबई), फुल्लस, चुडिल्लय, डोमिलय, त्रिभंगी, पद्मावती, दण्डफल, रासक, चंद्रायण,

प्लवंगम चर्चरी, विअष्षरी (वियक्खरी), निश्पिाल (खंजा), नंदिणि अथवा तोटक, भ्रमरावलि, गातिका, मधुमार, रोला, उल्लाला, छप्पय, कुण्डलिया, रड्डा, खड्हडय, सवैया, धनाक्षरी, गीत मालची, माधुर्य, वीर छंद, हरिगातिका, करषा, कड़रवा, हनूफाल, रसावल, सरस्वती धबल, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्र व्रजा, दुत्त विलंबित, वसंत तिलका, शार्दुल विक्रीड़ित, रथोद्धता, मालिनी, नाराच, अर्द्धराच, मोतीदाम, विधुन्माल आदि अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण छन्द हैं जिनकी प्रचुरता स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिकालीन साहित्य में कथ्य की विविधता के साथ-साथ छंद-प्रयोग की विविधता भी रही है। यद्यपि साहित्य-मर्मज्ञों ने छंद की दृष्टि से कुछ सीमायें बनाते हुए श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत का तथा दोहे को अपभ्रंश का मुख्य छंद स्वीकार किया है तथापि जनभाषा की प्रकृति के अनुसार हिन्दी के साहित्यिक भाषा बनने पर ये प्रवृत्तियाँ इनकी रचना का मुख्य अंग बन गयी। चूँकि अपभ्रंश ने भी जनकंठ से ही इस प्रवृत्ति को ग्रहण किया था। अतः दोनों में ही इस प्रवृत्तियों का प्रयोग एक ही स्रोत से आरंभ हुआ माना जा सकता है।

संदर्भ-सूची

1. पं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'काव्यांग कौमुदी', तृतीय कला, पृ॰ 212
2. A.B. Kaith, A History of Sansrit Literature P. 416
3. 'हिन्दी साहित्य कोश; प्रथम भाग, पृ॰ 291
4. That in the First stage of their development, work, music and poetry were most intimately connected with one another, but that the basic element of this trinity was work, while the other two elements had only a subordinate significance.

   –Bucher quoted by plekhanor, Art and social life, p. 49.
5. डॉ॰ राधाकृष्णन्, 'धर्म और समाज' पृ॰ 36
6. पं॰ रामचन्द्र शुक्ल, 'रस मीमांसा', पृ॰ 259
7. घाटे, वैदिक मीटर', The language of Nature clothes itself in metre, पुनः Deep strong passions expresses themselves in metre साथ ही, शोक श्लोकत्वमागतः, बाल्मीकि, रघुनन्दन शास्त्री, 'हिन्दी छन्द प्रकाश, पृ॰ 15 पर उद्धृत।
8. 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भूमिका, डॉ॰ नगेन्द्र, पृ॰ 24
9. वही, भूमिका, डॉ॰ नगेन्द्र, पृ॰ 24
10. वही
11. वही
12. डॉ॰ नगेन्द्र, 'अरस्तु का काव्य-शास्त्र', भूमिका, पृ॰ 251
13. डॉ॰ भोला शंकर व्यास, 'प्राकृत पैंगलम्' भाग 2, पृ॰ 291
14. 'प्राकृत पैंगलम्' 1.85
15. 'हिन्दी साहित्य कोश; पृ॰ 342
16. डॉ॰ द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', पृ॰ 100

17. पं॰ राहुल सांकृत्यायन, सरहण कृत' दोहाकोश', भूमिका, पृ॰ 65
18. वही, पृ॰ 64-65
19. प्राकृत पैगंलम्', 1.170
20. पं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'काव्यांग कौमुदी', तृतीय कला, पृ॰ 254 तथा डॉ॰ व्यास, 'प्राकृत पैंगलम् भाग 2, पृ॰ 549
21. डॉ॰ द्विवेदी, 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो', आदि पर्व, छं सं- 103 पृ॰ 26
22. 'हिन्दी काव्यधारा', पृ॰ 428
23. विन्नि चउपइस पभणिज्ज तसु निग्धिणे।
24. पं॰ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 'काव्यांग कौमुदी, तृतीय कला, पृ॰ 247
25. डॉ॰ द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ॰ 59
26. 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो', शशिव्रता विवाह प्रस्ताव, पृ॰ 6
27. डॉ॰ हरिबल्लभ भयाणी, sand esarasaka study, Metres, p. 51
28. 'संदेश रासक', मीटर्स, पृ॰ 58 के आधार पर।
29. 'प्राकृत पैंगलम', भाग-2, पृ॰ 480
30. 'पठमं बारह मत्ता, बीए अट्ठारएहि सजुत्ता।
    जह पठमं तह तीअ, तह प चविहंसिआ गाहा।'
    डॉ॰ व्यास 'प्राकृत पैंगलम; भाग 2, पृ॰ 413

हिन्दी

पंत के काव्य में विविध दर्शन का प्रभाव

कुमारी सुषमा

यू॰जी॰सी॰ नेट उत्तीर्ण, अनुसंधायिका

हिन्दी विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

भारतीय साहित्य में दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि पर्याप्त समृद्ध रहा है। आदि-ग्रंथ वेद से ही इसका विकास सूत्र स्पष्ट होने लगता है। तदुपरान्त साहित्य में इस चिंतन की एक परंपरा-सी दिखाई देती है जो दर्शन अनुभूत एवं साक्षात्कार सत्य की युक्ति-युक्त व्यवस्था के रूप में स्थापित है। तभी तो हिन्दी के छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत की अन्तर्मुखी दृष्टि स्वत: दर्शन का रूप धारण कर लेती है। दर्शन की ओर सहज प्रवृत्ति के कारण ही वह चाहता है कि 'अन्तर जग ही बहिर्जगत् बन जावें। बहिर्मुखी चेतना के सामने अन्तर्मुखी दृष्टिकोण को कुण्ठित होते देखकर वह चिंतित स्वर में कहता है-

बहिर्चेतना जाग्रत जग में, अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अन्तर्जीवन मूर्च्छित मृत।[1]

इसलिए कवि अन्तर्बाह्य जीवन पर विचार कर अन्तर्जीवन को परिष्कृत एवं परिमार्जित करने पर बल देता है। पंत में दर्शन के अनुरूप चिंतन की प्रवृत्ति है। द्रष्टा की दृष्टि-सूक्ष्मता के कारण ही वे अचिर में चिर के अन्वेषण को विश्व का महत्वपूर्ण दर्शन घोषित करते हैं। समग्र जीवन का दर्शन-मिश्रित काव्यात्मक मूल्यांकन करते हुए पंत लिखते हैं-

स्वर्ग शैशव स्वप्नों का जाल,
मंजरित यौवन सरस रसाल।
प्रौढ़ता, छाया वट सुविशाल,
स्थविरता, नीरव सायंकाल।।[2]

स्पष्टत: परम भावुक कवि तथा चिंतनशील पंत की काव्यधारा, उनके विकासशील कवि-मानस की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई परिणति के चित्रों को उपस्थित करती है। शैशव से प्रौढ़ोत्तर तक की आयु में उनके कोमल ग्राहयित्री प्रतिभा से संपन्न मानस-चित्रपट पर अनेक वैविध्यपूर्ण चित्र अंकित होते रहे हैं। कवि की कारयित्री प्रतिभा ने इन सब चित्रों, बिम्बों और भावनाओं को अपनी कृत्तियों के पर्दे पर चलचित्रों की भाँति उपस्थित किया है। अत: उनके काव्यग्रंथ सहृदय पाठकों के लिए केलेडेस्कोप के समान नये तथा परिवर्तित होने वाली मान्यताओं और प्रभावों की छटा दिखलाते हैं। अपने काव्य में उपस्थित विविध दार्शनिक भावों के संदर्भ में कवि ने भारतीय व पाश्चात्य चिंतनधारा के महत्व

को स्वीकार करते हु 'ज्योत्स्ना' के एक पात्र देवव्रत के स्वर में कहता है- ''जिस प्रकार पूर्व की सभ्यता अपने एकाकी आत्मवाद और आध्यात्म की सभ्यता अपने एकाकी प्रगतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल में डूब गयी। पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के आध्यात्म प्रकाश की आत्मा भरकर एवं आध्यात्मवाद के अस्थिपंजर में भूत या जड़ विज्ञान के रंग रूपों को भरकर हमने आनेवाले युग की मूत्ति का निर्माण किया है।'' कवि मानवता का कल्याण चाहता है। तदर्थ वह अपने लिए यहाँ तक कहता है कि- ''भारतीय ही नहीं बल्कि मैं हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर''[3], फिर भी यह सत्य है कि पंत में भारतीयता का अंश अन्य तीनों छायावादी कवियों की अपेक्षा कम है। संभवत: इसी कारण डॉ॰ नगेन्द्र ने कहा है कि- ''जहाँ दावा किया है वहाँ भी अभिव्यक्ति में अंत:करण का सहज वेग नहीं।''[4] पंत द्वारा अपने आपको शुद्ध भारतीय मान लेने पर भी उसमें जो संदेह उत्पन्न होता है वह इसी कारण कि वे बाह्य प्रभावों को शीघ्र ग्रहण करते रहे हैं। पंत-काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि कवि अनेक विचारकों से प्रभावित रहा है। स्वयं कवि के शब्दों में- ''मैं अपने युग, विशेषत: देश की, प्राय: सभी महान विभूतियों से किसी न किसी रूप में प्रभावित हुआ है। वीणा-पल्लव काल में मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा है, युगान्त और बाद की रचनाओं में महात्माजी के व्यक्तित्व तथा मार्क्स के दर्शन का, महात्माजी के देह-निधन के बाद की रचनाएँ जो युगपथ में संगृहित है, उनके प्रति मेरे हृदय की श्रद्धा का परिचायक है। कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति भी मेरी दो रचनाएँ युग पथ में प्रकाशित हो रही है। किन्तु इन सब में जो एक पूर्ण एवं संतुलित अंतर्दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्त्ति मुझे श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन में मिली, और इस अन्तर्दृष्टि को मैं इस विश्व-संक्रांति-काल के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ। (मैंने अपने समकालीन लेखकों तथा विशिष्ट व्यक्तियों पर समय-समय पर स्तुति गान लिखने में सुख का अनुभव किया है। श्री अरविन्द के प्रति मेरी कुछ रचनाएँ, भेंट-रूप में, स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि तथा युगपथ में पाठकों को मिलेंगी।''[5]

इस प्रकार पंत की काव्य-चेतना के विकास में अनेक परिवर्त्तन दिखाई देते हैं। व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व के माध्यम से अनेक मनीषियों में उन्हें प्रभावित किया है। उन समस्त प्रभावों को अपने में आत्मसात करते हुए कवि का साहित्यिक जीवन विकसित हुआ है। पंत-काव्य के विकास क्रम हैं जिसके आरंभ में सौन्दर्यभावना की प्रधानता है और अंत में चिंतन और बुद्धि की। किन्तु कोई भी रचना दार्शनिक विश्लेषण की सीमाओं से पूर्णत: बाहर नहीं है।

दार्शनिक प्रभाव के आधिक्य के कारण पंत के काव्य में बौद्धिकता का प्राचुर्य दिखाई देता है। उनकी वैचारिक दुरूहता साहित्यिक सरसता को पुष्ट नहीं करती। वस्तुत: काव्य में व्यक्त विचारधारा तभी सफल स्वीकार की जा सकती है जबकि पाठक उससे सहज भाव से तादात्म्य कर सके, वह उसे आरोपित प्रतीत न हो। पंत के काव्य में विद्यमान बौद्धिकता से पाठक सहज रूप से तादात्म्य नहीं कर पाता। कारण स्पष्ट है, एक विचार की प्रशंसा मात्र सहृदय पाठक को प्रभावित कर भी नहीं सकती। विचारक कवि पंत ने बौद्धिकता तथा हार्दिकता को यथार्थ मान लिया है। उनके अनुसार ''बौद्धिकता हार्दिकता का दूसरा रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती।''[6] कवि की 'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप, हृदय में बनता प्रणय व्यापार' उक्ति इसी विचार को पुष्ट करती है। कवि बच्चन ने इस बौद्धिकता को उपयुक्त स्वीकार किया है। उनके अनुसार ''जिसके लिए कवि अन्यथा लेखक ने साधना की है उसका आनंद लेने के लिए पाठक को भी साधना करनी पड़ती है। कविता से सहज

ही आनंद प्राप्त करने की माँग बढ़ती जा रही है- बस, कविता तो ऐसी हो कि तीर की तरह दिल पर चोट करे। यह अस्वस्थ प्रवृत्ति है। पंत जी की कविता साधना माँगती है।''[7]

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पंत की रचनाओं में बौद्धिकता है और इस कारण वह पर्याप्त बोझिल हो गयी है। इस बौद्धिकता का एक मुख्य कारण है- कवि द्वारा विविध दर्शन-ग्रंथों का विस्तृत अध्ययन। इस काव्य में अध्ययन जन्य चिंतन को देखकर ही डॉ॰ नगेन्द्र ने कहा है कि-''पंत ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक।'' इसलिए उनके जीवन-दर्शन में अनुभूत गहराई का अभाव है। पंत काव्य में लोक-कल्याणमय दार्शनिक चिंतन, उज्ज्वल, रंगीन कल्पना, मधुर सौन्दर्य भावना की विशेषताएँ विद्यमान है। इसके आधार पर डॉ॰ नागेन्द्र का विचार यह है कि -ये तीनों मिलकर एक मधुर बौद्धिक शांति को जन्म देते हैं। मैंने यहाँ बौद्धिक-शांति शब्द का प्रयोग जानबूझकर इस आशय से किया है कि यह शांति आध्यात्मिक शांति से भिन्न है। आध्यात्मिक शांति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति। और इन कविताओं के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। बौद्धिक शांति से मेरा अभिप्राय उस शांति से है जो बौद्धिक विश्वास के ग्रहण से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में यह कहिए कि आध्यात्मिक विश्वासों को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लेने से प्राप्त होती है।''[8]

मानवतावादी विचारधारा से आद्यान्तपुष्ट कवि पंत की दार्शनिक-चेतना पर पड़ने वाली विविध प्रभावों को हम निम्न रूपों में अवलोकित कर सकते हैं-

वेद तथा उपनिषद्

दर्शन के संदर्भ में कवि पंत ने भारतीय चिंतनधारा का महत्व स्वीकार करता है। उस महत्व को न समझ सकने वाले आज के युवक पर व्यंग्य करते हुए पंत कहते हैं- ''साधारणतया हमारा बुद्धिजीवी युवक जो विदेशी सभ्यता या संस्कृति से बाहर ही बाहर प्रभावित है और अपने देश के विराट् ज्ञान-भंडार से प्रायः अपरिचित - यह समझता है कि भारतवर्ष की समस्त आध्यात्मिक और दर्शन पिछली सामंती परिस्थितियों का प्रकाश मात्र है, जिसकी इस युग में कोई उपयोगिता नहीं रह गयी है।''[9] आगे वे स्पष्ट करते हैं ''किन्तु बाहर की इस काई को हटा देने के बाद भारत के अन्तश्चेतन मानस में जो कुछ शेष रहता है, उसके जोड़ का आज के संसार में कुछ भी देखने को नहीं मिलता, और यह मेरा अतीत का गौरव गान नहीं, भारत के अपराजित व्यक्तित्व के प्रति विनीत श्रद्धांजलि मात्र है।''[10]

पंत ने वेद-उपनिषदों का पर्याप्त अध्ययन किया है। फलतः उनके साहित्य में इनका प्रभाव भी पर्याप्त सीमा तक दिखाई देता है। कहीं-कहीं तो कवि पर आर्ष-प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है। उसका दृष्टिकोण आर्षवाणी से अनुप्राणित है। पंत अन्तर्नभ में जिस दिव्य स्फुरण की चर्चा करते हैं वह भी आर्ष-मंत्रों से प्रभावित है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं-

आर्ष मंत्रों के ज्योति तरंगित में उदात्त स्वर
ध्वनित आज भी अन्तर्नभ में दिव्य स्फुरण भर।।[11]

इसी दृष्टिकोण के कारण कहीं-कहीं कवि कतिपय वैदिक मंत्रों का अनुवाद तक प्रस्तुत कर देता है यथा- 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृत गमय' का ही पद्यमय अनुवाद करते हुए लिखा है-

असत् तमस के मृत्यु सलिल में हमें पार कर
सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर।[12]

उपनिषदों में निरूपित विद्या-अविद्या संबंधी मन्तव्य[13] का ही अनुवाद-सा प्रायः उन्हीं शब्दों द्वारा करते हुए पंत लिखते हैं-

अंध तमस में गिरते वे जो मात्र अवद्या में रत
भूरि तमस में पड़ते वे जो विद्या में रत सतत
विद्याऽविद्या अभय एक में, भेद जिन्हें यह अवगत
विद्यामृत पी, मृत्यु अविद्या से वे तिरते अविरत।।[14]

'स्वर्ण किरण' की 'द्वा सुपर्णा' कविता के पूर्वार्द्ध में तो उपनिषद् के एक मंत्र[15] का ही अनुवाद किया गया है। उपनिषदों में त्याग-भाव, से संसार का भोग करने की बात कही गयी है तथा गीता में नश्वर शरीर में आत्मा का दिव्य-संदेश दिया गया है। दोनों को एक साथ ग्रहण करते हुए पंत लिखते हैं -

क्षणभंगुर यह तन, आत्मा रे मुक्त चिरंतन।
ईश्वर में जग प्राप्त, त्याग से भागो भव जन।।[16]

इस प्रकार कवि पंत ने अपने काव्य में वेद तथा उपनिषद् की संपूर्ण उदात्तता को वाणी प्रदान किया है।

पौराणिक प्रभाव

पंत पर भारत की कतिपय पौराणिक मान्यताओं का भी प्रभाव दिखाई देता है। 'सृजन शक्तियाँ' कविता में समस्त दिव्य-शक्तियों का परिचय देते हुए कवि ने उसका अभिवादन किया है। माहेश्वरी, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, आदिति, दिति, इला, वाणी, दक्षिणा, शर्मा आदि विविध शक्तियाँ की स्तुति की है।[17] श्री अरविन्द ने उनमें से प्रथम चार को भगवती माता से सम्बद्ध स्वीकार किया है। उनके अनुसार (महेश्वरी, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती) ये चार शक्तियाँ माताजी के विश्व देता हैं जो जगत लीला में स्थायी रूप से रहते हैं, ये उन महत्तर देवगणों के बीच अवस्थान करती है जिनकी ओर लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि इस त्रिविध-जगत की शक्ति के रूप में माताजी वहाँ (अधिमानस लोक में) देवताओं से ऊपर अवस्थान करती है।

देवगण जैसा कि पहले कहा जा चुका है मूलतः और तत्त्वतः भगवान की स्थायी अंश विभूतियाँ हैं, जिन्हें पर्यापरा मा आद्या शक्ति ने परमात्मास के अंदर से बाहर प्रकट किया है, अपने विश्वगत कर्म में देवगण भगवान की शक्तियाँ और व्यक्ति रूप है और विश्व ब्रह्माण्ड के अंदर उनमें से प्रत्येक का अपना विश्वगत स्थान, अधिकार और कार्य है।''[18] कुछ स्थलों पर पंत पर शाक्त प्रभाव दिखाई देता है, यथा-

देवि, तुम्हारे सित गति-प्रिय पद छूकर,
बनता निष्क्रिय जीवन-शव शिव चेतन।[19]
जड़ शव हो फिर से शिव, चित्त शक्ति समन्वित।[20]

योग-दर्शन का प्रभाव

कवि औपनिषदिक योग-दर्शन से भी प्रभावित है। इसी आधार पर वह मुक्ति की अवस्था को सत्-चित्-आनंद से युक्त स्वीकार करता है-

वहाँ सत् का भास रहता,
वहाँ चित्त का लास रहता।
वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग-दर्शन।।

इन्दु द्वारा ज्योत्स्ना को मनोगति से आकर मिलने का यही आधार भी है, ''जब भी तुम मेरा स्मरण करोगी, मैं मनोगति से आकर तुमसे मिलूँगा, प्रिय।''[21]

कहीं-कहीं पंत में बुद्ध के अनुरूप विचारधारा दिखाई देती है, यथा- इच्छा को मानव दु:ख का कारण बताते हुए उसके निवारण के उद्देश्य से वे कहतें हैं-

इच्छा मानव दु:ख का कारण,
इच्छा का यदि करें निवारण,
तो जग जीवन हो फिर पावन।[22]

महात्मा बुद्ध की भाँति पंत ने[23] अतिवादी दृष्टियों का निषेध किया है। कवि की निम्नोक्ति पर भी धम्मपद का प्रभाव दिखाई देता है-

गाँवों के पशु तजते ज्यों बन पशुओं का पथ
पाप कर्म तुम छोड़, रहो सत्कर्मों में रत।

लेकिन पंत में सामान्यत: बौद्ध प्रभाव की झलक गहराई नहीं पकड़ सका।

आधुनिक भारतीय विचारकों में से कवि स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा गाँधी से प्रभावित रहा। विदेशी मनीषियों में से उन्हें मार्क्स ने प्रभावित किया। लेकिन उन पर अंतिम प्रभाव श्री अरविन्द का ही पड़ा।

विवेकानन्द का प्रभाव

कवि स्वीकार करता है कि वीणा पल्लव काल की रचनाओं पर स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है। अपनी संतुलन प्रधान व्यक्तियों के लिए कवि उनका आभारी है। कुछ वैसी उक्तियों का उद्धरण देते हुए वे कहते हैं- ''.....ऐसा कहकर मैं स्वामी विवेकानन्द के सारगर्भित कथन - ''मैं यूरोप का जीवन सौष्ठव तथा भारत का जीवन-दर्शन चाहता हूँ'' की ही अपने युग के अनुरूप पुनरावृत्ति कर रहा हूँ।''[24]

रवीन्द्रनाथ का प्रभाव

पंत पर रवीन्द्र का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। प्रारंभिक अवस्था में रवीन्द्रनाथ की कुछ पुस्तकों का भी कवि ने विशेष अध्ययन किया है।''[25] रवीन्द्र की प्रभाव सूचक एक कविता 'मम जीवन की प्रमुदित गात' वीणा में संकलित है। स्वयं कवि स्वीकार करता है कि गीतांजलि के 'अन्तर मम विकसित कर' से प्रभावित होकर तदनुरूप भाव की रक्षा के उद्देश्य से कवि ने सप्रयास इस कविता

की रचना की है।[26] इसी प्रकार कवीन्द्र के 'आभार बंधन माँझे त्नभिव मुक्तिर स्वाद' की भाँति पंत भी अनुभव करते हैं-

तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन
है सजह मुनि का मधु क्षण।
पर कठिन मुक्ति का बंधन।[27]

गाँधीवाद

महात्मा गाँधी के प्रति श्रद्धा भावना को कवि ने अनेक प्रशस्ति गीतों में व्यक्त किया है। 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता में गाँधी ने 'शुद्ध बुद्ध आत्मा' 'चिर पुरण' तथा 'चिर नवीन' का रूप देखते हुए उनके सत्य अहिंसा के सिद्धान्त में विश्वास प्रकट करता है-

बीनेगा सत्य अहिंसा के
ताने बानों से मानवपन।[28]

महात्मा गाँधी के देहावसान पर कवि अनेक कविताओं में उन्हें अपने श्रद्धा-प्रसून अर्पित करता है।[29] 'रजत शिखर' में 'शुभ्र पुरुष' काव्यरूपक में गाँधीजी की स्तुति की है। स्वयं कवि के अनुसार ''शुभ्र पुरुष' महात्मा जी के तप:पूत व्यक्तित्व का शुभ्र प्रतीक है। महात्माजी भारतीय चेतना के आधुनिकतम रजत संस्करण है।'' इन जन-मन-गण अधिनायक गाँधीजी से कवि बहुत प्रभावित रहा है। संपूर्ण लोकायतन में गाँधीजी को लोकनायक मानकर उनके सिद्धांतों के अनुकरण को ही आदर्श जीवन प्रणाली स्वीकार किया है। साधना, कर्म, शांति, मानवता आदि के लिए समष्टिपरक दृष्टिकोण कवि बापू की वाणी में प्रस्तुत करता है-

शांति हिमालय की चोटी पर नहीं मिलेगी
उसे प्राप्त करना होगा मानव समाज में
प्रतिदिन के कर्मों में, जीवन संघर्षण में।[30]

मार्क्सवाद

गाँधीजी से प्रभावित होने के कारण सामान्यत: कवि ने अहिंसा के सिद्धान्त की ही प्रशंसा की है, पर कहीं-कहीं उनका अन्तर्मन मार्क्सवाद के प्रभावस्वरूप हिंसा की महत्ता को भी स्वीकार करता है, यथा-

लो झरता रक्त प्रकाश आज नीले बादल के अंचल से।[31]
राष्ट्र हेतु बलि जाओ।[32]
तेरे श्वाँसों में ज्वाला हो।[33]

लेकिन इस संबंध में पंत स्पष्ट कर देते हैं कि ''मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उनके रक्त-क्रांति और वर्ग युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमाएँ स्वीकार करता हूँ।''[34] किन्तु मार्क्सवाद में पंत का व्यक्तित्व समुचित अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसका कारण स्पष्ट करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र ने उचित ही कहा है- ''पंत के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों

के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद पंत जैसे कोमल प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है और आत्मा और ईश्वर में ही अंत में जीवन और जगत का समाधान मिलता है।''[35] अतः अपनी दोहरी विचारधारा के प्रभाव स्वरूप पंत ने गाँधीवाद एवं साम्यवाद की एक साथ प्रशंसा की है-

मनुष्यत्व का तत्व सिखाना निश्चय हमको गाँधीवाद।
सामूहिक जीवन विवाद की साम्य योजना है अविवाद।।[36]

अरविन्द दर्शन

पंत श्री अरविन्द के व्यक्तित्व से भी प्रभावित है। पंत ने अनेक कविताओं में उनका स्तवन किया है। कवि श्री अरविन्द को योगेश्वर संबोधन प्रदान करता है क्योंकि चेतना के स्तर पर स्तर पार कर उन्होंने इस स्थिति को प्राप्त किया है। वह उनमें मानवत्व तथा ईश्वरत्व का संतुलन देखता है। इसलिए कवि पंत उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं-

एक स्तंभ उपनिषत् ब्रह्म विद्या के निश्चय,
ज्योति तंभ दूसरा देव का शब्द असंशय,
दिव्य चेतनासेतु, उर्ध्व जिन पर ज्योतिर्मय
आर पार भव जीवनाब्धि के, अति मानव, जय।।[37]

श्री अरविन्द का महत्व स्वीकार करते हुए पंत लिखते हैं, ''श्री अरविन्द को मैं इस युग की महान तथा अतुलनीय विभूति मानता हूँ। उनके जीवन-दर्शन से मुझे पूर्ण संतोष प्राप्त हुआ। उनसे अधिक व्यापक ऊर्ध्व तथा अतलस्पर्शी व्यक्तित्व, जिनके जीवन-दर्शन में आध्यात्म का सूक्ष्म, बुद्धि अग्राह्य सत्य नवीन ऐश्वर्य तथा महिमा से मंडित हो उठा है, मुझे दूसरा नहीं देखने को मिला। विश्व कल्याण के लिए मैं श्री अरविन्द की देन को सबसे बड़ी देन मानता हूँ।''[38]

समग्रतः पंत काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि एक ओर जहाँ के इस देश की प्राचीनतम वैदिक एवं औपनिषदिक विचार-परंपरा से प्रभावित हैं वहाँ वर्त्तमान मनीषियों में से गाँधीजी और अरविन्द का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। इस संबंध में वे स्वयं स्वीकार करते हैं- ''गाँधीजी के संसर्ग में मुझे सदैव आत्मबल तथा आत्म-विश्वास मिला है और श्री अरविन्द के संपर्क में मेरा मानसिक क्षितिज व्यापक, गहन तथा सूक्ष्म बन सका, ऐसा मेरा अनुभव है।''[39]

सन्दर्भ-सूची

1. स्वर्णकिरण, पृ॰ 19
2. पल्लव, पृ॰ 161
3. स्वर्णधुलि, पृ॰ 105
4. सुमित्रानंदन पंत, डॉ॰ नगेन्द्र, पृ॰ 173
5. उत्तरा (प्रस्तावना), पृ॰ 22
6. आधुनिक कवि, भाग-2, पृ॰ 7
7. पल्लविनी, बच्चन, पृ॰ 37
8. सुमित्रानंदन पंत- सं- शचिरानी गुर्टू, पृ॰ 267

9. उत्तरा (प्रस्तावना), पृ॰ 12
10. वही, पृ॰ 16
11. स्वर्णकिरण, पृ॰ 16
12. वही, पृ॰ 16
13. अंधन्तमः प्रविशान्ति येऽविद्यामुपासते।
    ततो भूय इव ते तमो ये उ विद्यायांरता।।
    विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
    अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्यामृतमश्नुते।।
14. स्वर्ण किरण, पृ॰ 22
15. श्वेताश्वतरोपनिषद्, 4/6/
16. स्वर्णकिरण, पृ॰ 126
17. स्वर्ण धुलि, पृ॰ 16
18. श्री अरविन्द के पत्र, भाग-2, पृ॰ 127
19. लोकायतन, पृ॰ 34
20. वही, पृ॰ 232
21. ज्योत्स्ना, पृ॰ 27
22. स्वर्णधुलि, पृ॰ 147
23. ज्योत्स्ना, पृ॰ 77
24. उत्तरा (प्रस्तावना), पृ॰ 25
25. साठ वर्ष एक रेखांकन- सुमित्रानंदन पंत, पृ॰ 26
26. वीणा- विज्ञापन, पृ॰ 2
27. गुंजन, पृ॰ 28
28. युगांत, पृ॰ 61
29. युग पथ, गीत संख्या- 11, 13, 14, 15, 16 ।
30. शिल्पी, पृ॰ 19
31. युगपथ, पृ॰ 84
32. वही, पृ॰ 94
33. वही, पृ॰ 95
34. उत्तरा, पृ॰ 6
35. सुमित्रानंदन पंत- सां- शचिरानी गुर्टू, पृ॰ 255
36. युगवाणी, पृ॰ 47
37. स्वर्णकिरण, पृ॰ 90-91
38. उत्तरा (प्रस्तावना), पृ॰ 22
39. साठ वर्ष एक रेखांकन - सुमित्रानंदन पंत, पृ॰ 67

हिन्दी

महादेवी वर्मा का नारी चिंतनः एक दृष्टि

डॉ० रश्मि जैन

एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, एस0आर0के0 पी0जी0 कॉलेज, फीरोजाबाद, उ0प्र0

सारांश

महादेवी ने युग-चेतना के तहत नारी प्रश्नों पर विचार नहीं किया अपितु यह तो उनके जीवन के विकास-पथ की प्रतिष्ठा है, प्रगतिशीलता है। उनके अनुसार मानव जीवन की पूर्णता स्त्री-पुरुष की सापेक्षता पर आश्रित है न पुरुष के आश्रय में स्त्री की पूर्णता है और न पुरुष के अतिरिक्त स्त्री के जीवन को पूर्णता है। तभी मानव समाज में साम्य संभव है। इसका प्रमाण उनके रेखाचित्र एवं संस्मरण के पात्रों में स्त्री एवं पुरुष दोनों पात्रों के प्रति समान आस्था दृष्टिगोचर होती है। महादेवी वर्मा के अनुसार नारी के लिए जीवन में शिक्षा, स्वतंत्रता एवं सम्मान मूलभूत आवश्यकता है। समाज द्वारा उसके संवेदनशीलता की, सहनशीलता की, करुणा, त्याग वात्सल्य एवं कर्मठता की अर्थात् विश्वाधारित गुणों की उपेक्षा न हो बल्कि उसके प्रति अंतःकरण से कृतज्ञता, सहृदयता एवं मानवता का व्यवहार किया जाए।

वर्तमान समय में भारतीय स्त्री-जीवन से संबद्ध रचनाओं में स्त्री-जीवन संबंधित विभिन्न पहलुओं पर कविता, कहानी, उपन्यास आदि विधाओं के माध्यम से भाव एवं विचार प्रकाशित किए जा रहे हैं। विशेष रुप में भारतीय हिंदी साहित्य के क्षेत्र में सन् 1960 के पश्चात् स्त्री-विमर्श मूलक विचारों ने धूम मचायी किंतु इसके पूर्व भी साहित्य में स्त्री जीवन के सुख-दुःख साथ ही उसके शाश्वत रुपों पर गहन चिंतन किया गया है। इस दृष्टि से आधुनिक काल में महीयसी महादेवी वर्मा के नारी जीवन संबंधित भावों एवं विचारों को जानना, समझना साथ ही उसे सार्थक रुप में अपने जीवन में उतारना अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने उस काल से आगे चलकर जो अभिव्यक्त किया, वह अपने जीवनानुभवों के आधार पर है, इसलिए वह विशेष महत्वपूर्ण एवं सत्य है और सत्य निरंतर वरेण्य होता है।

महादेवी के प्रारंभिक काल में प्रेमचंद, प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त आदि रचनाकारों ने नारी जीवन पर लिखा साथ ही उस समय पर ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महादेव गोविंद रानाडे, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, ज्योतिबा फुले, महात्मा गांधी आदि समाज सुधारकों ने नारी समस्याओं पर विशेष कार्य किया । संभवतः सर्वप्रथम स्त्री-मुक्ति हेतु, सामाजिक बंधनों को तोड़ने हेतु जितने परिश्रम इन महापुरुषों ने किए उतने नारी समाज ने भी नहीं किए। यहाँ यह तथ्य भी उल्लेखनीय है। अस्तु ! नारी जीवन में स्वतंत्रता प्राप्त करने के साथ ही उसे बनाए रखने के लिए जो आवश्यक है, उस पर महादेवी का चिंतन उनकी गद्य रचनाओं में विशेष रुप में उभरकर आया है। यह चिंतन किसी एक वाद या सिद्धांत से संलग्न न होकर सर्वसमावेशक एवं मानवतामूलक है।

महादेवी वर्मा ने नारी-समाज के हितार्थ अपने विचार 'श्रृंखला की कड़ियाँ' एवं अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएँ इन रचनाओं में विशेष रुप में स्पष्ट किए हैं। 'श्रृंखला की कडिय्याँ' इस ग्रंथ में नारी की शिक्षा, नारी और नौकरी तथा घर और बाहर का नारी जीवन आदि अनेक गंभीर प्रश्नों के उत्तर नारी के पथ-प्रदर्शक एवं सार्थक जीवन की मिसाल है। साथ ही अतीत के चल-चित्र के नारी पात्र भी इसमें कम नहीं है।

महादेवी ने स्त्री जीवन में स्वतंत्रता, सम्मान एवं समानता की अभिलाषा की है। पुरुष द्वारा स्त्री को उपभोग की वस्तु मात्र माना जाना उन्हें स्वीकार नहीं है। उन्होंने कहा है- ''इस समय तो भारतीय

पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय या घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही यह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का सजीव चित्र देखना हो तो विवाह के समय, गुलाब-सी खिली हुई स्वस्थ बालिका को पाँच वर्ष बाद देखिए। उस समय, प्रौढ़ हुई दुर्बल संतानों की रोगिणी पीली माता में कौन-सी विवशता, कौन-सी रुला देने वाली करुणा न मिले।''[1]

पुरुष द्वारा एक से अधिक विवाह करने और स्त्री का विधवा जीवन जीने की अमानवीय, क्रूर असमानता की रीति उन्हें मंजूर नहीं है। साथ ही विवाह पूर्व पिता या भाई, विवाह पश्चात् पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र पर निर्भर, परावलंबी, आश्रित जीवन स्त्री को गौण स्थान देता है, उसे बोझ समझता है, ऐसा समाज वे बदलना चाहती हैं। कन्या के जन्म होते ही भारतीय पुरुषसत्ता परिवार उसे कलंक समझते हैं और पुत्र का जन्म होते ही खुशियाँ मनाते हैं। इसका चित्रण महादेवी ने अपने एक रेखा-चित्र में इस प्रकार किया है-''आँगन में गाने वालियाँ, द्वार पर नौबत वाले और परिवार के बूढेघ से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढियाँ संकेत से मूक गाने वालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते - यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।''[2]

इससे स्पष्ट होता है कि समाज में स्त्री का जन्म न चाहनेवाले अत्याधिक हैं। आज भी 21 वीं सदी में भारतीय संविधानानुसार स्त्री-भ्रूण हत्या अपराध होने के बावजूद कई नगरों स्त्री-भ्रूण हत्या किए छोटे-छोटे शव मिल रहे हैं, डॉक्टरों को अपराधी के रुप में कैद किया जा रहा है। यह तो सबसे बड़ी विडंबना है कि उनमें कई महिला डॉक्टर भी शामिल हैं।

महादेवी के अनुसार नारी को जहाँ अपने पिता के घर में व्यापार में होनेवाला बड़ा नुकसान माना जाता है वहाँ पति के घर में दासी का स्थान दिया जाता है। यहाँ श्रृंखला की कडिघ्याँ में से ध्यातव्य है -

''पतिगृह में, यदि वह विद्वान् पति की इच्छानुकूल विदुषी नहीं है तो उसका स्थान दूसरी को दिया जा सकता है, यदि वह सौंदर्योपासक पति की कल्पना के अनुरुप नहीं है तो उसे अपना स्थान रिक्त कर देने का आदेश दिया जा सकता है, यदि वह पति-कामना का विचार करके संतान या पुत्रों की सेना नहीं दे सकती, यदि वह रुग्ण है या दोषों का नितांत अभाव होने पर भी पति की अप्रसन्नता की दोषी है तो भी उसे उस घर में दासत्व स्वीकार करना पड़ेगा।''[3]

यहां इस प्रकार के दासत्व से मुक्ति की आकांक्षा करते हुए महादेवी यह एहसास जागृत करना चाहती हैं कि भारत की आधी आबादी का जीवन यदि दूसरों के आश्रय में होगा तो निश्चित ही समाज भी कमजोर, निर्बल होगा।

आधुनिक युग में समाज ने स्त्री की सदस्यता को मानने की कोशिश इसलिए की क्योंकि स्त्री के त्याग, ममत्व एवं सहनशीलता पर पुरुषों का जीवन आधारित है। जीवन का यह अनिवार्य अंग है जिसे स्त्री के बिना पूर्णता नहीं मिल सकती।

यहां दृष्टव्य है - ''स्त्री में मां का रुप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुंदर है। जब वह इन विशेषताओं के साथ पुरुष के जीवन में प्रतिष्ठित होती है तब उसका रिक्त स्थान भर लेना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।''[4]

प्रस्तुत उद्धरण से महादेवी ने स्त्री एवं पुरुष दोनों की पारस्परिक निर्भरता स्पष्ट करते हुए समानता स्थापित करना आवश्यक माना है और इस समानता की स्थापना में नारी का महत्व भी प्रतिपादित किया है।

श्रृंखला की कडियां, में वे कहती हैं कि ''स्त्री पुरुष के वैभव की प्रदर्शनी मात्र समझी जाती है और बालक के न रहने पर जैसे उसके खिलौने निर्दिष्ट स्थानों से उठाकर फेंक दिये जाते है, उसी

प्रकार एक पुरुष के न होने पर स्त्री के जीवन का न कोई उपयोग ही रह जाता है, न समाज या गृह में उसको कहीं निश्चित स्थान ही मिल सकता है। जब जला सकते थे तब इच्छा या अनिच्छा से उसे जीवित ही भस्म करके स्वर्ग में पति के विनोदार्थ भेज देते थे, परंतु अब उसे मृत पति का ऐसा निर्जीव स्मारक बनकर जीना पड़ता है जिसके सम्मुख श्रद्धा से नतमस्तक होना तो दूर रहा, कोई उसे मलिन करने की इच्छा भी रोकना नहीं चाहता।''[5]

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट होता है कि महादेवी ने कोरे निरर्थक कानून का, स्त्री सतीप्रथा, समाज द्वारा पुनर्विवाह का विरोध उसके जीवन में विधवापन की त्रासदी, दहेज प्रथा आदि का विरोध भी किया है।

महादेवी के रेखाचित्रों, संस्मरणों, निबंधों में नारी जीवन के मर्मस्पर्शी प्रसंगों एवं विभिन्न पहलुओं के माध्यम से उन्होंने नारी शिक्षा को उनकी उन्नति, सामर्थ्य साथ ही अस्मिता का आधार माना है। नारी शिक्षा की पक्षधरता स्वीकार करते हुए उसे उसका अधिकार माना है। उनके पात्रों में बिंदा, बिट्टो, बिबिया, सबिया, भक्तिन आदि के आत्मसमर्पण, परिश्रमी, साहसपूर्ण जीवन को शिक्षा की जोड़ आवश्यक प्रतीत होती है । शिक्षित महिलाएं अशिक्षित महिलाओं को हीन न समझते हुए उन्हें उनका अधिकार देने-दिलाने की कोशिश करें, सहायता करें। यह आशा स्वयं उन्होंने अपने जीवन-व्यवहार में, आचरण में उतारते हुए कही है।

विवाहपूर्व नारी जीवन पिताश्रित होता है तो उस पिता या पालक को उसके विवाह की चिंता न करते हुए उसे स्वावलंबनत्व की शिक्षा देनी चाहिए । इसके समर्थन में श्रृंखला की कडिघ्यां रचना में से - ''यदि उनके जन्म के साथ विवाह की चिंता न कर उसके विकास के साधनों की चिंता की जाये, उनके लिए रुचि के अनुसार कला, उद्योग-धंधे तथा शिक्षा के द्वार खुले हों, जो उन्हें स्वावलंबिनी बना सकें और तब अपनी शक्ति और इच्छा को समझकर यदि वे जीवनसंगी चुन सकें तो विवाह उनके लिए तीर्थ होगा, जहां वे अपनी संकीर्णता मिटा सकेंगी, व्यक्तिगत स्थार्थ को बहा सकेंगी और उनका जीवन उज्ज्वल से उज्ज्वलतर हो सकेगा।''[6]

इससे स्पष्ट होता है कि नारी का जीवन शिक्षा से स्वयं प्रकाशित होता है। शिक्षा से उसका परपोषण, उसकी अनिच्छा, अस्वीकृति, अज्ञान, अयोग्यता, नकारात्मकता आदि अभिशाप उसके जीवन में नहीं होंगे, संपूर्ण जीवन सकारात्मक, आत्मनिर्भर, सजग, सशक्त होगा और उसे अबला न कहते हुए उसकी सदस्यता को स्वीकार किया जाएगा। समाज की आधी आबादी सक्षम होगी और यही सक्षमता आदर्श स्थापित कर सकती है।

आज के इस उत्तर-आधुनिग युग में जहां मनुष्य भौतिक सुखसुविधाओं एवं नए-नए नोटों के पीछे दौड़ रहा है, वहां स्त्री को अर्थ के लिए किसी दूसरों के अधीन रहने की आवश्यकता न हो। इस दृष्टि से महादेवी के गद्य लेखन पर विचार करें तो उन्होंने नारी को नौकरी का अधिकार अत्यंत जीवनावश्यक माना है। अपने भावुक, कोमल, सहनशील, परिश्रमी स्वभाव से वह घर एवं बाहर की जिम्मेदारियां निभा सकती है। उनकी लेखनी मर्मस्पर्शी स्त्री पात्र घर के एवं बाहर के काम करते हुए हर युग में मिसाल सिद्ध होते रहेंगे । ऐसे पात्र जो कृषक परिवार से संबद्ध है, आर्थिक दृष्टि से कमजोर हैं वे पात्र कृषि प्रधान देश को मार्गदर्शन करते प्रतीत होते हैं कि किसान की पत्नी यदि घर में और खेत में काम कर सकती है तो उसे बंधनों में जकड़कर न रखते हुए उससे मानवीय मूल्यों के अनुसार व्यवहार करें । उन्होंने बिबिया के पति रमई का जो जुआरी और शराबी है, सबिया का पति मैकू जो अपनी पत्नी को छोड़कर किसी और के साथ (गौंदा) प्रेम करता है आदि कृतघ्न, अविश्वसनीय पात्रों की भर्त्सना भी की है और बिबिया, सबिया को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनने का समर्थन किया है। साथ ही स्त्री को अपने घर के कामों से सम्मान न मिलने पर दु:ख भी प्रकट किया है। श्रमजीवीत्व पुरुष और स्त्री दोनों के लिए आवश्यक माना है।

श्रृंखला की कडिघ्यां और अतीत के चल-चित्र ग्रंथों के प्रारंभिक अध्ययन काल में लगा कि महादेवी पुरुष जाति का विरोध करने के लिए दृढ़ है, किंतु यह विरोध पुरुष जाति का नहीं अपितु उस व्यक्ति का है जो किसी अन्य से दुर्व्यवहार, दुष्टता करे किसी स्त्री को बंधनों में, कुरीतियों में

बांधकर रखे। साथ ही यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उन्होंने 'श्रृंखला की कडिय़ाँ' ग्रंथ की भूमिका में लिखा है ''अन्याय के प्रति मैं स्वभाव से असहिष्णु हूँ, अत: इन निबंधों में उग्रता की गंध स्वाभाविक है, परंतु ध्वंस के लिए ध्वंस के सिद्धांत में मेरा कभी विश्वास नहीं रहा।''[7]

महादेवी ने वेश्याओं का जीवन वासनासिक्त समाज का शिकार मानते हुए समाज के विचारों में सदाचार, नैतिकता एवं सात्विकता की अभिलाषा की है। साथ ही मातृशक्ति को श्रृंगार का अवकाश नहीं होता यह कहते हुए समन्वय भी स्थापित किया है। उनका नारी चिंतन संपूर्ण विश्वकल्याण की कामना करता है, जिसमें निष्पक्षता, सहृदयता, सहिष्णुता है। स्त्री एवं पुरुष दोनों को जीवनरुपी रथ के पहिए माना है। दोनों अपने कर्तव्यों को, क्षमताओं को, सामर्थ्य-असामर्थ्य को समझकर प्रेम से इस रथ को उन्नति की राह पर चलाएं यही उनका उद्देश्य है। इस दृष्टि से महादेवी का नारी चिंतन प्रासंगिक, स्वस्थ, शुद्ध एवं आदर्श के साथ अपने समय से आगे चलकर समाज को आदर्श बनाने में कारगर सिद्ध हो सकता है। महादेवी के इस गद्यलेखन को उपदेश की शुष्कता की गंध न होकर मां का शिशु से मर्मस्पर्शी वार्तालाप प्रतीत होता है। उनके निबंध एवं रेखाचित्र, संस्मरण यथार्थ को स्पर्श करने वाले होकर भी आदर्श एवं मनोविश्लेषणात्मक विवेचन से युक्त है। उसमें कोरी सहानुभूति न होकर अनुभूतियों की गहराई है। शब्द चयन, भाषा एवं शैली बेजोड़ है। बिंबात्मकता के कारण उनके पात्र एवं विचार जीवंत हो उठे हैं। श्रृंगार विरहित पात्रों में एवं नारी की समस्याओं के दु:खभरे विषय पर उनकी जीवनात्मा के सौंदर्य ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह सराहनीय है साथ ही भारतीय समाज के लिए आवश्यक एवं अनुकरणीय है । उनका यह लेखन कुरुप नहीं वरन् करुणामयी, मार्मिक है। वह पीड़ितों के प्रति ममता, उपेक्षितों के प्रति उदारता, शोषितों के प्रति सहानुभूति एवं मानवीयता, क्षमा, दया का ओतप्रोत संगम है। उनकी शैली की यह कुशलता है कि विचारों एवं विभिन्न प्रसंगों का तथ्यपूर्ण वर्णन सुबोध, रोचक बना है। उनकी मार्मिक भावभूमि की सुंदरता सर्वथा अध्येताओं को बांधकर रखती है।

यदि शिक्षण की जोड़ मिले तो वह सामर्थ्य उसमें है कि वह परिवार, समाज एवं संपूर्ण राष्ट्र का उत्थान कर सकती है, भार संभाल सकती है। उन्होंने नारी संबधित समस्याओं का मूल सामाजिक कुरीतियों एवं विचारों को माना है। साथ ही उसमें परिवर्तन हेतु उपाय भी बताए हैं। महादेवी की स्वतंत्रता में स्वैछाचार का नहीं अपितु भारतीय मर्यादाओं की नैतिक सीमा में उन्नति का स्वर मुखरित है जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिए है। स्त्री अपने गुणों से श्रेष्ठ है। उसके लिए इन गुणों का त्याग न करते हुए ही अपना अस्तित्व निर्माण करना एवं उसे स्थिरता प्रदान करना संभव है। महादेवी के नारी चिंतन में अनुभूति की गहराई, मानवता एवं समन्वयात्मकता है। उसमें पुरुषों के प्रति तीव्र आक्रोश एवं उग्रता न होकर अहिंसा, भावुकता एवं सामंजस्य है। महादेवी के नारी चिंतन में अपराधियों को कठोर से कठोर दंड देनेवाला शासन नहीं है बल्कि उसे सुधारने हेतु आवश्यक विश्वास एवं प्रेम है क्योंकि वह करुणार्द्र है, सुधार हेतु आवश्यक जितना दंड परिस्थिति को बनाता है बिगाड़ता बिल्कुल नहीं। उनके गद्य का भाव एवं पक्ष बेजोड़ है उसे एक-दूसरे से अलग करना असंभव है। काव्य के क्षेत्र में उनका स्थान जितना श्रेष्ठ है उतना ही गद्य के क्षेत्र में भी । उनका नारी चिंतन किसी एक वाद या सिद्धांत तक सीमित, संकीर्ण न होकर अत्यंत व्यापक एवं स्वस्थ है। इस दृष्टि से उनका योगदान महान है, उपयोगी है। उसमें 'विस्तृत नभ का प्रत्येक कोना' अपना करने एवं बनाने की शक्ति भी है। यह हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि है।

ग्रंथ सूची

1. श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 102
2. अतीत के चलचित्र, महादेवी वर्मा, पृ. 11
3. श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ0 37
4. अतीत के चलचित्र, महादेवी वर्मा, पृ. 119
5. श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 21
6. श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, पृ. 79
7. श्रृंखला की कड़ियाँ, महादेवी वर्मा, भूमिका से

हिन्दी

फणीश्वर नाथ 'रेणु' कृत 'ठुमरी' कहानी संग्रह का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० मनोज कुमार पाण्डेय

वरिष्ठ प्रवक्ता (हिन्दी), कालीचरण पी0जी0 कॉलेज, लखनऊ

फणीश्वर नाथ 'रेणु' अच्छे उपन्यासकार होने के साथ-साथ अच्छे कहानीकार भी थे। 'ठुमरी' रेणु का प्रथम कहानी संग्रह है। सन् 1959 में यह प्रकाशित हुआ। पाठक इस संग्रह की कहानियों में से प्रत्येक की रसधारा में अपने को वैसे ही सराबोर पायेगा जैसे कि उसने उनके उपन्यासों को पढ़ते समय पाया था। इस संग्रह में ठुमरी नाम की कोई कहानी नही है, सभी संयोजित कहानियां ठुमरी धर्मा है। एक स्वर को लेकर विभिन्न स्वरों से उसकी क्रमिक संगति दिखला-दिखला कर ही किसी राग के रूप को प्रकाशित किया गया है। ठुमरी की कहानियों के विश्लेषण विवेचन के लिए समर्पण और 'स्वर लिपि' में दिये गये, उक्त दोनों संकेत काफी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। कहते हैं कि ध्रुपद का गायन जब अपनी स्वाभाविकता छोड़कर कला बन गया तो उसकी प्रतिक्रिया में ख्याल गायन का उन्मेष हुआ था। आगे चलकर ख्याल भी कलाबाजी का शिकार हो गया। ठुमरी इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न गायन है।

1. रसप्रिया- 'रसप्रिया' पचकौड़ी मिरदंगिया के उस मूल राग की कथा है जिसमें वह किसी छोटी जाति में जन्मा सुन्दर सलोना मोहना की तलाश में भटकता फिरता है। मोहन को देखकर मिरदंगिया अवाक रह जाता है- ''धूल में पड़े कीमती पत्थर को देखकर जौहरी की आँखों में एक नयी झलक झिलमिला गयी अपरूप-रूप।''[1] रसप्रिया का यही मूल स्वर है। परन्तु इसके साथ ही किसी ब्राह्मण के बच्चे को बेटा कह देने पर गाँव के बच्चे गुस्सा हो जाते हैं, गुस्से में बूढ़े मिरदंगिया को पत्थर से मारते है और उसका मृदंग फोड़ने को कहते है। मिरदंगिया बच्चों से माफी मांगते हुए कहता है, सरकार इस बार माफ आगे से आप लोगों को बाप कहूँगा। इसी प्रकार मिरदंगिया मृदंग बजाकर लोगो को खुश रखता था। किसी भी शुभ कार्य में मिरदंगिया को गाँव वाले बुलाते थे, पूर्णिया जिले में मिरदंगिया की मंडली ने खूब यश कमाया। कोई ऐसा नही था, सहरसा और पूर्णिया जिले में जो मिरदंगिया को नही जानता हो, सभी लोग जानते थे, लोग सम्मान भी करते थे। मिरदंगिया रमपतिया से झूठे प्रेम का नाटक करता और फिर छोड़कर चला जाता है। मिरदंगिया रमपतिया को नन्द बाबू के साथ जोड़ता है। रमपतिया मिरदंगिया के झूठे प्रेम की वजह से दु:खी हो जाती है और मिरदंगिया को शाप देती है, सूर्य भगवान से प्रार्थना करती है और कहती है, मेरे मन में कोई चोर नही था, मिरदंगिया ने फुसलाकर मेरा सर्वनाश कर दिया। परन्तु मिरदंगिया की उगली टेढ़ी हो जाने पर रमपतिया फिर सूर्य भगवान से प्रार्थना करती है, कहती है भगवान मेरी बात लौटा दो वो तो गुस्से में कह दिया था, रमपतिया मिरदंगिया की ऊँगली को पकड़कर रोती रही, मिरदंगिया की उँगली रमपतिया के प्रार्थना से ठीक हो जाती है और उसकी उगलियाँ खुद-बखुद मृदंग पर नाचने लगती

है। मिरदंगिया का पागलपन अचानक बढ़ जाता है। मिरदंगिया मोहना को रसप्रिया गाते देख चौंक जाता है। मोहना बेसुध होकर मृदंग के बोल पर खूब झूम-झूमकर गाता है। इस प्रकार रेणु की इस कहानी में मिरदंगिया की मोहना के प्रति सहानुभूति उसके सुन्दर गाने के कारण है। रसप्रिया कहानी की सबसे मोहक विशेषता इसकी आंचलिकता है। कहानी के वातावरण में आदि से अन्त तक यह आंचलिकता प्राणधर्म की तरह सन्निविष्ट है। पात्रों में, वातावरण में, कथा में, कथा की प्रस्तुति में, भाषा में, एक शब्द में कहें, सब कुछ में। आँचलिकता का संगीत और संगीत की आंचलिकता पाठको को मुग्ध कर देती है। 'ठुमरी' की सभी कहानियों में ऐसा असर है कि पाठक बेबस हो जाता है।

2. ठेस- 'ठेस' इस संग्रह की दूसरी आंचलिक कहानी है। इस कहानी का प्रमुख पात्र सिरचन है, गाँव के लोग सिरचन को बेकार समझते है। गांव के कुछ लोग सिरचन को कामचोर तथा चटोर कहते है परन्तु कुछ लोग कहते है कि कभी सिरचन का भी जमाना था। सिरचन कारीगर था, सिरचन काम करते समय सिर्फ काम पर ही ध्यान देता था। सिरचन मुँहजोर है, कामचोर नही। वह बिना मजदूरी के पेट भर भोजन पर काम करने चला जाता है। दूध में कोई मिठाई न मिले, तो कोई बात नही, किन्तु बात में जरा भी झाल वह नही बर्दाश्त कर सकता। सिरचन को लोग चटोर भी कहते है। सिरचन के खाने पीने में तनिक भी कमी हुई तो वह काम में भी कमी कर देता है, सिर दर्द का बहाना बना लेता है और फिर कभी भी उस काम को नही करता। सिरचन बहुत गुणवान है, वह मोथी घास, और पटरे की रंगीन शीतलपाटी, बाँस की तीलियों की झिलमिलाती चिक, सतरंगे डोर के मोढ़े, भूसी-चुन्नी रखने के लिए मूँज की रस्सी के बड़े-बड़े जाले, हलवाहों के लिए ताल के सूखे पत्तों की छतरी-टोपी बनाना तथा इसी तरह के बहुत से काम जानता है। इन कामों को सिरचन के सिवा गांव में कोई और नही जानता है। इन सभी कामों को करने पर सिरचन अनाज या पैसे नही लेता सिर्फ पेट भर भोजन और पुराने वस्त्रों से ही प्रसन्नतापूर्वक काम कर देता है। आत्मकथा शैली में लिखित इस कहानी का कथा नायक पात्र बताता है कि उस बार मेरी सबसे छोटी बहन मानू पहली बार ससुराल जा रही है। मानू के पति ने पहले ही बड़ी भाभी को पत्र द्वारा बता दिया था कि मानू मिठाई की पतीली भले ही न लाये, लेकिन तीन जोड़ी फैशनेबल चिक और परेट की दो शीतलपाटियों को जरूर ले आऐगी इसीलिए एक सप्ताह पहले से ही सिरचन को बुलाकर माँ ने काम पर तैनात करवा दिया था। डेढ़ हाथ की बिनाई देखकर लोग समझ गए कि इस बार एकदम नये फैशन की चीज बन रही है। जो पहले कभी नही बनी है। मझली भाभी से नही रहा गया, चाची भी कई कारणों से जली-भुनी रहती थी, सिरचन से। सिरचन की लाजवाब फैशन की बुनाई देखकर दोनो ईर्ष्या से जल उठी और ऐसा बखेड़ा शुरू किया कि सिरचन चिक को अधूरी छोड़कर दनदनाता हुआ आँगन से बाहर निकल गया। मानू कुछ नही बोली, चुपचाप अधूरी चिक को देखती रही। कथा-नायक पात्र कहता है कि ठेस खाये सिरचन को जब मैं मनाने गया तो देखा कि फटी हुई शीतलपाटी पर लेटकर कुछ सोच रहा था। और मुझे देखते ही बोला- बबुआ जी अब नही, कान पकड़ता हूँ, अब नही।''[2] अब यह काम नही करुँगा। सिरचन कहता है गाँव में तुम्हारी हवेली में मेरी इज्जत होती थी। अब क्या, मैं चुपचाप वापिस लौट आया। समझ गया सिरचन के दिल में पैठ लगी है। वह नही आ सकता। सिरचन मानू दीदी से मिलने स्टेशन पर जाता है, और वही पर मानू दीदी को शीतलपाटी, चिक और कुश की एक जोड़ी आसनी देते हुए कहता है, दीदी ये मेरी ओर से है। गाड़ी चली जाती है, सिरचन ने जीभ को दांत से काटते हुए दोनो हाथ जोड़ लिए, मानू, सिसक-सिसक कर रोने लगी। रेणु की इस कहानी में आंचलिक कौशल अनायास साकार हो उठा है। एक जमाना था। जब लोग इस कला के दीवाने थे और इसलिए शिल्पकारों का खुशामद किया करते थे। आज सिरचन मुफ्तखोर है, कामचोर है, चटोर है। ऐसा कहकर शिल्प का निरादर करते है।

3. पंचलाइट- 'पंचलाइट' ठुमरी की तीसरी आंचलिक कहानी है। विभिन्न जातियों और वर्गों में विभाजित बिहार गाँव के आपसी संघर्ष की भूमिका पर आश्रित इस कहानी में रेणु ने एक बड़ी ही सामान्य बात को मनोरम कथा के रूप में डाला है। इस कहानी में हर एक जाति की अलग-अलग 'सभाचट्टी' है। सभी पंचायतों में दरी, जाजिम सतरंगी और पेट्रोमेक्स है- पेट्रोमेक्स, जिसे गाँव वाले पंचलाइट कहते है। गांव वाले पंचलाइट खरीदते है और मेले में ही यह तय कर लेते है कि बचे हुए पैसे से पूजा की सामग्री खरीद लेंगे। बिना नेम-टेम के कल कब्जे वाली चीज का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए, अंग्रेज बहादुर के राज में भी पुल बनाने से पहले बलि दी जाती थी। पेट्रो मैक्स देखकर महतो टोले भर के लोग जमा हो गए। औरत, मर्द, बूढ़े बच्चे सभी काम-काज छोड़ दौड़े आये- चल रे चल अपना पंचलैट आया है। और फिर शाम को पूजा की तैयारी हुई। टोले की कीर्तन मंडली, औरतों की मंडली भी जुट आई। शाम होने के पहले ही मुहल्ले के लोग एकत्रित हो गये, बच्चे खुशी के मारे झूम रहे थे। लेकिन ऐन टाइम पर सवाल यह उठा पंचलैट जलायेगा कौन। यह बात पहले किसी ने नही सोची थी। पूजा का समय हो गया सारी सामग्री एकत्रित है लोग कीर्तन के लिए तैयार है। परन्तु पंचलैट पड़ा हुआ है, उसे जलाना कोई नही जानता है। दूसरे टोले के लोगों से सहायता भी नही लेना चाहते है। लोग अपने-अपने घरों में ढिबरी तक नही जलाते है, पंचों के चेहरे पर उदासी छाई है, सब परेशान है। दूसरे टोले के लोग हंसी उड़ा रहे है। हर एक पंचायत में एक-एक पंचलैट है और पंचलैट जलाने वाले लोग भी है, परन्तु कोई किसी से कहना नही चाहता। इस कहानी की स्त्री पात्र गुलरी काकी की बेटी मुनरी बार-बार सोच रही है कि गोधन जानता है, पंचलैट जलाना पर वो भी कह नही सकती, मुनरी की माँ पंचायत वालों के सामने ही गोधन की शिकायत करती है, कहती है कि गोधन मुनरी को छेड़ता है।'' सलम-सलम वाला सलीमा का गीत गाता है- 'हम तुमसे मोहब्बत करके सलम।'' पंचो ने दस रुपये का जुर्माना करके गोधन को दण्ड दिया था। जुर्माना न देने पर गांव वाले गोधन का हुक्का पानी बन्द कर देते है, यही सब सोचकर मुनरी गोधन का नाम नहीं लेती है। लेकिन वह अगर गोधन का नाम न ले तो जात का पानी उतर जाएगा, मुनरी चालाकी से अपनी सखी कनेली से बता देती है कि गोधन जानता है पंचलैट जलाना, कनेली जाकर सरदार से बताती है, गोधन जानता है पंचलैट बालना। यह सुनकर सरदार दीवान की तरफ इशारा करते है और दीवान पंचो की तरफ, गोधन से सभी लोग नाराज रहते है परन्तु सरदार के यह समझाने पर कि जाति की बंदिश क्या जब जाति की इज्जत जा रही हो, सब मान जाते है। लेकिन गोधन नही मानता है, जब गुलरी काकी स्वयं जाती हैं गोधन को मनाने तो गोधन आता है और इसपिरिट न रहने पर भी पंचलैट जला देता है। पंचलैट के बढ़ते हुए प्रकाश ने रात के अंधेरे के साथ ही लोगों के दिल के अंधेरे भी दूर हो जाते है। सभी लोग गोधन की प्रशंसा करते है, पंचलैट जलाकर गोधन ने सबका दिल जीत लिया, मुनरी प्यार भरी नजर से गोधन की ओर देखती है और मन्द-मन्द मुस्काती है, आँखों ही आँखों में बातें होती है। इशारों से माफी भी मांग लेती है। कहानी के अन्त में सरदार गोधन को अपने पास बुलाते है। और कहते हैं, ''तुमने जाति की इज्जत रखी है। तुम्हारा सात खून माफ। खूब गाओ सलीमा का गाना।''[3] गुलरी काकी भी खुशी से कहती, गोधन रात में खाना मेरे घर खाना। गोध न फिर मुनरी की तरफ देखता। मुनरी की पलके शर्म से झुक जाती है। कीर्तन करने वाले लोग कीर्तन समाप्त करते है, जय ध्वनि की जय हो! जय हो! ..... पंचलैट के उजाले से पेड़-पौधों का पत्ता-पत्ता पुलकित हो जाता है। कहानी यही समाप्त हो जाती है।

4. सिरपंचमी का सगुन- 'सिरपंचमी का सगुन' ठुमरी संग्रह की चौथी आंचलिक कहानी है। इस कहानी के प्रमुख पात्र कालू तथा सिंघाय है। सभी की नजर कालू कमार की निहाई पर एक साथ केन्द्रित हो गई- यह क्या, टेढ़ा फाल! किसका फाल! सिंघाय का? क्या हुआ? टेढ़ा फाल! ऐन सिर

पंचमी के दिन? सिरपंचमी के दिन सभी किसाने अपने-अपने सगुन की बात सोचते है, उस दिन किसी से लड़ाई न हो, किसी की नजर न लगे, कोई छींक न दे। किसान की सोच थी कोई अपशकुन न हो, सिरपंचमी के दिन बैलों को नहलाकर उस दिन माँ लक्ष्मी की पूजा की जाती है। नयी खुसी से सवा हाथ जमीन छीलकर केले के पत्ते पर अक्षत-दूध और केले का मोती-प्रसाद चढ़ाया जाता है। पूजा पाठ करने के बाद इन बैलों को जोतकर पूजा के स्थान से जुताई का श्री गणेश किया जाता है। जुताई के समय जिसका बैल मलमूत्र त्याग करें, उसको खाद-पानी की कमी नही, इस साल की खेती में। आज के दिन जिसका बैल बैठ गया? या खुल गया। उसकी खेती भगवान के भरोसे है। ऐसा गांव के लोग सोचते है। सिंघाय का सगुन तो लुहरसार में ही बिगड़ गया था। कालू ने उसकी फाल नही तकदीर टेढ़ी कर दी। गांव में आते ही काग की अशुभ असगुन बोली को सुना तो आँखों के सामने लुहरसार का दृश्य छा गया। सिरपंचमी के दिन ही टेढ़ा होना था, घर लौटते हुए सिंघाय कुछ सोच नही पा रहा है कि क्या करे? कहां जाये? क्या जवाब देगा, माधो और उसकी माँ को? माधो की माँ इस संकट से छुटकारा पाने का उपाय सोच रही है। सामने सिर पंचमी का सगुन। इज्जत ले ली कालू की बीबी ने, उसने फाल की तरफ देखा- ऐंठा हुआ फाल काला-कलूटा लोहे का बेकार सा टुकड़ा देखकर परेशान होती है, फिर अचानक उसे रेलवे पुल के पास काम कर रहे रेलवे मिस्त्रियों का ध्यान आता है। उसे यह पता रहता है कि गाँव का कोई लुहार टेढ़े फाल को नही छुऐगा। जाति की बन्दिश से कौन बाहर जाऐगा? जाति की बड़ी सभा में इस बात की भी बन्दिश हो चुकी, इस बार। कहाँ जाऐगा सिंघाय हलवाला टेढ़ा फाल लेकर? कालू कमार का कमाया हुआ खैन मारकर खेती कटना खेल नही। कालू अपने सभी देनदार गृहस्थों का फाल पीटता है और कठौत में डाल देता है। रेलवे के बूढ़े मिस्त्री ने माधो की मां की दु:खभरी कहानी सुनी। गाँजे की चिलम शेष कर चुकने पर उसने नई निगाह से उसके सलोने स्वास्थ्य को गौर से देखा। दोपहर में खिलने वाले फूल का भला-सा नाम है, 'लेटियर साहब' के बंगले का दोपहरिया फूल। फिर बात ही बात में लाल हो गया फाल। लाल टेढ़े फाल को निकालकर निहाई पर रखा जवान मिस्त्री ने। ठनांग-ठनांग-ठनांग।

गांव के लोग जो सिरपंचमी का सगुन देखने आये है और सीधा फाल देखकर सब चौक जाते है। सब सोचते है कि इतनी जल्दी फाल सीधा कैसे हो गया। सिंघाय की पूजा के समय गांव भर के लोग एकत्रित हो जाते हैं। इसको कहते है! 'सगुन'! गांव के सरगना किसान की पूजा के समय भी इतनी भीड़ जमा नही थी। मुट्ठी भर अक्षत लेकर भक्ति भरे मन से सिंघाय ने पूजा की। ''न जाने कितने कुग्रहों की नजर लगी रहती है।'' हल जोतकर लौटते समय हरखू की बात लाल लोहे की तरफ उसके कलेजे को बींध गई- 'सिंघाय यह रेलवे गरमी बहुत देर नही रहेगी तुम्हारी। सिंघाय की आँखों के सामने टेढ़ा फाल नाच गया, बार-बार हुक्का धुला है। माधो की मां के कहने पर सिंघाय रेलवे मिस्त्री के पास जाता है। यह देखने के लिए कि हरखू की बात ठीक या उसकी। सिंघाय को देखते ही दोनो मिस्त्री हंस पड़े। बूढ़े मिस्त्री ने कहा, देखता हूँ, तुमसे ज्यादा समझदार तो तुम्हारी पत्नी है। सिंघाय को अपनी भैस की याद आयी, भैस के साथ अपनी पत्नी भी याद आयी। रास्ते में रह रहकर बूढ़े मिस्त्री की कूट भरी मुस्कुराहट याद आई। उस तरह मुस्कुराने के माने? तुम्हारी भैस दुध ार है माने? तुमसे ज्यादा होशियार तो तुम्हारी घरवाली है, माने? बूढ़ा साला रसिया है! ओ-ओ! शहर भागने का मन्तर भी दे चुका है। गाँव में प्रवेश करने के बाद सिंघाय के पैर खुद-ब-खुद कालू कमार के टीले की पगडण्डी पर चढ़ गए। सिंघाय कालू कमार की मित्रता हो जाती है। परन्तु ''माधो की माँ खिलखिलाकर हंस पड़ी। बोली, लेकिन तुमको बता देनी ही होगी। बोलो, फिर रास्ते पर पाँव नही दोगे, माधो के बाबू!''[4] इस कहानी में कथा ही नही, कथा की संवेदना भी आंचलिक है। आपसी मनमुटाव और छोटे-छोटे झगड़े किसी असहाय गरीब के रास्ते में रोड़ा बन जाते है और भोक्ता तथा

दर्शक पर उसकी क्या प्रतिक्रियाएं होती है इसे रेणु ने बड़ी सहानुभूति के साथ चित्रित किया है। औरतों के झगड़े किस तरह मर्दो के बीच आ जाते है, इन झगड़ो के पीछे भय और आक्रोश की क्या स्थिति होती है और अगर ठण्डे दिल से सोचकर उनको दूर करने की कोशिश की जाए तो कितनी आसानी से उनके प्रभाव को उलटा जा सकता है। यह इस कहानी में बड़े सहज ढंग से व्यंजित किया गया है। सिरपंचमी का सगुन इसी स्वार्थ-संघर्ष की कथा है, नितान्त मानवीय, लेकिन नितान्त आँचलिक।

5. तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफाम- 'तीसरी कसम' ठुमरी की पाँचवी आंचलिक कहानी है। इस कहानी का उतना ही महत्व है, जितना 'मैला आंचल' का। रेणु की कृतियों में उपन्यासों में मैला आँचल और कहानियों में 'तीसरी कसम' अर्थात मारे गये गुलफाम से रेणु को ख्याति मिली। पाठक रेणु की किसी भी कृति को चाहे भले ही न पढ़े हो, परन्तु इन दोनों पर उसकी जरूर दृष्टि पड़ी होगी। इस कहानी पर बनी फिल्म को 'राष्ट्रपति स्वर्ण' पदक भी प्राप्त हुआ है। बिहार का आंचलिक जीवन, उसकी सहज मानवीयता, उसकी परम्परागत रीति-नीति, स्वार्थ-संघर्ष और ऐसे न जाने कितने छोटे-छोटे मानवीय संघर्ष इस कहानी में अनायास जुड़ते गये है। कहानी होकर यह गीत का रस देने वाली रचना बन गई है। पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता है हिरामन। कण्ट्रोल के जमाने में जोग बनी से विराट नगर तक चोरबाजारी का माल पहुँचाने के बाद हिरामन का कलेजा पोख्ता हो गया किन्तु सीमा के इस पार पाँचवी बार गाड़ी पकड़ी गई। हिरामन समझ गया इस बार निस्तार नहीं। वहां से भागने के पश्चात उसने शपथ ली थी- कि अब कभी भी ऐसी चीजों की लदनी नहीं लादेंगे, चोरबाजारी का माल हो, हिरामन कम्पनी वालो को दूसरी गाड़ी में बैठाते समय वह पूछ लेता है कि इसमें चोरी-चमारी वाली कोई वस्तु तो नही है, बांस तो नही है। लेकिन इस बार हिरामन की गाड़ी में कोई औरत है। औरत यानि चम्पा का फूल! जब से गाड़ी में बैठी है, गाड़ी मह-मह महक रही है। हिरामन की सवारी ने करवट ली। चाँदनी चेहरे पर नजर पड़ी तो हिरामन चीखते-चीखते रुक गया- अरे बाप! ई तो परी है! हू-बहू! हिरामन के रोम-रोम बज उठे है। ऐसा लग रहा है जैसे आज वह 'तीसरी कसम' खा रहा है। कम्पनी की औरत की लदनी ...। परी-देवी-मीता-हीरा देवी-महुआ घटवारिन कोई नही। सर्वत्र कहानी में एक अनाम महक, कोमलता और मिठास है, लेकिन शेष है, मरे हुए मुहूर्तो की गूँगी आवाजे, जो मुखर होना चाहती है। पूरी कहानी हिरामन के अकेलेपन की तीव्रतम अनुभूति को सुध्वनित करती है- मेले में अपने मित्रों के साथ और लौटती हुई सड़क पर वह एक रिक्तता से भरा है। 'जारे जमाना' को दुहराता हुआ अपने बीते दिनों से कटना चाहकर भी बार-बार वहीं लौट जाता है। जहाँ उसके खालीपन का कोष है। ग्राम्य-कथा और ग्राम्य गीतों से भरी इस कहानी की सम्पूर्ण संवेदना गीतात्मक है। रेणु ने इस कहानी को उस विशिष्ट अंचल की छोटी से छोटी प्रतिक्रिया को सम्पृक्त आत्मीयता और रागात्मक तल्लीनता से चित्रित किया है। संगीत के सूक्ष्म स्वर की ही तरह एक-एक प्रतिक्रिया अपना-अपना प्रभाव छोड़ती है। हिराबाई को स्वर्ग की अप्सरा समझने वाले हिरामन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, स्वयं हीराबाई हिरामन की इस प्रतिक्रिया को क्या अर्थ देती है। कहानी के ताने-बाने में यह सब कुछ अनुभूति के स्तर पर अनुभूत होता है। कहानी के अन्त में शायद वह तीसरी कसम खा रहा है- कम्पनी की औरत की लदनी ....। हीरामन ने हठात् अपने दोनों बैलों की झिड़की दी, दुआली से मारते हुए बोला, ''रेलवे लाइन की ओर उलट-उलटकर क्या देखते हो?'' दोनों बैलों ने कदम खोलकर चाल पकड़ी। हिरामन गुनगुनाने लगा- ''अजी हाँ, मारे गये गुलफाम .....!''[5] कथा संवेदना के स्तर पर कथित हैं। यही इस कहानी की सबसे बड़ी जान है। वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टि से कहानी आंचलिक है।

6. लाल पान की बेगम- ''लाल पान की बेगम' ठुमरी की छठी तथा अन्तिम कहानी है। इस कहानी में गांव की महिलायें बलरामपुर का नाच देखने के लिए लालायित रहती है। यहाँ के पुरुष अपनी-अपनी स्त्रियों को गाड़ी पर बैठाकर नाच दिखाने ले जाना अपना गौरव समझते है, एक दूसरे की ईर्ष्या में नाच देखने जरूर जाते है। सरबे सित्तल मिंटी (सर्वे सेटलमेंट) के हाकिम के द्वारा बिरजू के माता-पिता दो-तीन बीघा जमीन पा जाते है। और उससे अच्छी फसल पैदा कर एक जोड़ी बैल खरीदते है। किस तरह इस फसल का मनोवैज्ञानिक असर बिरजू के माँ-बाप पर होता है। यही इस कहानी का मूल वक्तव्य है। बिरजू के माता-पिता यही सोचते हैं कि जब बैल अपने पास है। तो बैलगाडिघ्या हजार मिलेंगी, बिरजू के पिता की बड़ी इच्छा होती है कि वे बिरजू की मां को बैलगाड़ी पर बिठाकर बलरामपुर का नाच दिखाने ले जायेंगे, बिरजू की माँ बहुत मन से नाच देखने जाने की तैयारी करती है। मीठी रोटी बनाने का हौसला उनका उस समय पस्त दिखाई देता है, जब सहुआइन की दुकान से गुड़ लेकर लौटती है। और माँ के कहने पर कि ''सूरज भगवान डूब गये, दिया बत्ती की बेला हो गई, अभी तक गाड़ी ..... बीच में ही चम्पिया बोल उठती है- कोयरी टोले में किसी ने गाड़ी नही दी भैया।[6] चम्पिया माँ से कहती है पिता जी कहे है कि माँ से कह देना सब तैयारी ठीक तरह से कर लें। मैं मलदहिया टोले के मियाँ जान की गाड़ी लेने जा रहा हूँ। बिरजू की माँ का चेहरा तो उतर ही चुका था, यह सुनकर कि कोयरी टोले में किसी ने गाड़ी नही दी तो अब कहीं नही मिलेगी, जब अपने गांव के लोगों ने नही दिया तो मलदहिया टोली के मियाँ जान का क्या कहना! चम्पिया की मां चम्पिया के संदेश को सुनकर बहुत निराश हो जाती है, और गुस्से में बड़बड़ाती है- ''न तीन में, न तेरह में! क्या होगा शकरकन्द छीलकर! रख दे उठाके! ..... यह मर्द नाच दिखावेगा। बैलगाड़ी पर चढ़कर नाच दिखाने ले जायेगा! चढ़ चुकी बैलगाड़ी पर, देख चुकी जी भर नाच ..... पैदल जाने वाली सब पहुँचकर पुरानी हो चुकी होगी।''[7] चम्पिया की माँ लोगों के व्यंग्य सुनकर मन ही मन दुःखी रहती है, मखनी फुआ के यह पूछने पर कि 'क्यों बिरजू की मां, नाच देखने नही जायेगी? इस बात पर मखनी बुआ को बिरजू की मां गालियां भी देती है। बिरजू की मां जंगी की पतोहू की व्यंग्य भरी गालियां सुनी थीं और फिर दोनों बच्चों को लेकर दिया बत्ती जलाकर सो जाने को कहती है। नींद किसी को नही आती है। चम्पिया को तनिक भी उम्मीद नही रहती है कि वो अब नाच देखने जा पायेगी। सुबह होने को है तारे डूब रहे हैं, पिता जी अभी तक नही आये, मां एक महीना पहले से ही कहती थी कि बलरामपुर वाले नाच के दिन मीठी रोटी बनेगी, चम्पिया छींट वाली साड़ी पहनेगी, बिरजू पैंट पहनेगा, बैलगाड़ी पर चढ़कर जायेंगे। बिरजू को तो अब विश्वास हो गया था, कि नाच देखने नही जा पायेगा। बिरजू माँ चटाई पर लेटी करवटे ले रही थी, बच्चों को आदेश देती हैं कि ढिबरी बुझा दो पिता जी बुलाये तो मत बोलना, खैर बिरजू के पिता को गाड़ी मिल गई, अपने खेत में पैदा धान की बालियां भी, बिरजू के पिता गाड़ी में साथ ले आये थे, ढिबरी के उजाले में धान की बालियों का रंग देखते ही बिरजू की मां के मन का मैल दूर हो गया। ..... धानी रंग उनकी आंखों में उतरकर रोम-रोम में घुल गया। मन में फिर से खुशी की लहर आ गई। रोटियां भी जल्दी-जल्दी बन गई। गाड़ी न मिलने की खीझ में जिस मखनी बुआ को गालियां दी गई थी उसी बुआ को तम्बाकू देकर रात भर घर की रखवाली के लिए कहती है। और जिस जंगी की पतोहू ने व्यंग्य भरी गालियां दी उसे स्वयं बिरजू की मां नाच देखने जाने के लिए कहती है। गाड़ी जब जंगी के घर के पीछे पहुँची तो किसी के रोने की आवाज सुनायी पड़ती है, जंगी घूर ताप रहा है। बिरजू के पिता के यह पूछने पर कि पतोहू नाच देखने चले तो जंगी साफ जवाब दे देता है। रंगी अभी तक बलरामपुर से नही लौटा, पतोहिया नाच देखने कैसे जायेगी। इन्तजार करते-करते गांव की सभी औरते चली गई थी। गाड़ी पर बैठी बिरजू की आँका मन उमंग से भरा था। विष भरी गालियां

वह भूल चुकी थी। बड़े प्यार से उसने निमंत्रण दिया था, 'अरी टीशन वाली तो रोती है काह! आ जा जल्दी से कपड़ा पहनकर। सारी गाड़ी खाली पड़ी हुई है। इसके बाद सुनरी भी गाड़ी में बैठ गई थी, बाँस की झाड़ी के उस पार से गिलट का झुनकी कड़ा पहनकर झमकती हुई आ गई थी, लरेना खवास की बहू थी। गाड़ी गांव के बाहर होकर धान के खेतों के बगल से जाने लगी। कार्तिक की चाँदनी, खेतो में लहराते धान के झरते हुए फूलों की गन्ध, जंगी के पतोहू की गौने की रंगीन साड़ी से कड़वे तेल और लठवा सिन्दूर की गन्ध, अपनी गाड़ी पर बैठाकर, दूसरों को भी नाच दिखा लाने की महत्ता आदि ने बिरजू की माँ चम्पिया को जिस बैसकोप के गीत के लिए मना करती थीं, वही बैसकोप का गीत अब बैलगाड़ी में बैठी औरतों से गाने के लिए कहती है। झगड़े के समय जंगी की बहू के मुँह से अपने लिए 'लाल पान की बेगम' का विशेषण सुनकर बिरजू की माँ सिर से पैर तक जल उठी थी परन्तु अब उसे ऐसा लगता है, ठीक ही तो कहा था उसने- मैं बेगम हूँ लाल पान की बेगम! यह कोई बुरी बात थोड़ी न कही थी, हाँ सचमुच में लालपान की बेगम हूँ।' बिरजू की माँ ने अपनी नाक पर दोनों औरतों को केन्द्रित करने की चेष्टा करके अपने रूप की झाँकी ली। लाल साड़ी की झिलमिल किनारी, मंग टीका पर चाँद। बिरजू की माँ के मन में अब कोई भी लालसा नही। अंचल के रंग में डूबी इस कहानी में मानव-मन की अवसाद-विजडिघ्त और उल्लास पुलकित मन:स्थिति का ऐसा मनोहारी चित्रण हुआ है कि अंचल की सोधी गंध और मानव मन की सार्वभौम वृत्ति एक दूसरे से नितान्त घुलमिलकर जलतरंग की तरह एक होते हुए भी अलग और अलग होते हुए भी एक हो गई हैं। ठुमरी की इन कहानियों में बिहार प्रान्त के अनेक (किन्तु समग्रत: एक) अंचल उसी तरह अपनी समग्रता में मुखर हो उठे है, कमलेश्वर का कहना है- कि 'रेणु के व्यक्तित्व के दो पहलू बहुत मिलते-जुलते है', उनकी कृतियों में आस्था का स्वर और उसके अपने जीवन की आस्थापूर्ण दृष्टि। एक जीवन है जो संस्कार से उसे मिला है, उसे वह पूर्ण आस्था से जी रहा है। इस जीवन आस्था के प्रकाश में रेणु ने लाखों के बोल सहे हैं। रेणु ने सारे बोलों को सह लिया था, वैसे ही जैसे 'रसप्रिया' के मिरदंगिया ने सह लिया था, 'ठेस' के सिरचन ने पचा लिया था, 'सिरपंचमी का सगुन' की सिंघाय की औरत और सिंघाय ने सह लिया था। रेणु के खिलाफ गन्दी अफवाहे उड़ाने वाले, तथा वहाँ की धरती, वहाँ के लोग, उनके आमोद-प्रमोद उनके दु:ख-दर्द, उनके लड़ाई-झगड़े सभी कुछ कहानियों में जीवन्त बनकर दिखाई पड़ते है।

संदर्भ:

1. रेणु रचनावली - 1, पृ0 सं0 126
2. रेणु रचनावली: 1, पृ0 सं0 178, 179
3. रेणु रचनावली -1, पृ0 सं0 196
4. रेणु रचनावली - 1, पृ0 सं0 211
5. रेणु रचनावली - 1, पृ0 सं0 163
6. रेणु रचनावली-1, पृ0 सं0 166, 167
7. रेणु रचनावली - 1, पृ0 सं0 167

हिन्दी

मैला आँचल में जन–जागृति तथा लोक–संस्कृति का चित्रण

डॉ० बिभा कुमारी

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), आई.पी. कॉलेज फॉर वुमन, दिल्ली विश्वविद्यालय

''मैला आँचल'' में पूर्णियां जिले के 'मेरीगंज' गाँव की कथा है। लेखक ने उस अंचल विशेष के यथार्थ जीवन का चित्रण किया है। एक पिछड़े हुए अंचल में आर्थिक समस्याएँ, मनुष्य को अत्यन्त निम्न कोटि का जीवन-स्तर अपनाने के लिए विवश करती हैं। किन्तु इस पिछड़े हुए गाँव में आशा की कुछ किरणें भी उपस्थित हैं। जैसे - 'मलेरिया उन्मूलन अभियान', डॉ० प्रशान्त के माध्यम से ग्रामीणों के जीवन में आने वाली उम्मीद तथा बालदेव, बावनदास एवं कालीचरण के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना।

इस उपन्यास में कोई पात्र प्रमुख नहीं है क्योंकि यहाँ अंचल की प्रमुखता है। इसीलिए अंचल का प्रमुख तत्व उसकी लोक-संस्कृति उपन्यास में पूर्णत: जीवंत रूप में उपस्थित है।

अंचल के लोगों की अपनी विशिष्ट संस्कृति ही उनकी सबसे बड़ी पूंजी है, जिसमें सहजता और स्वाभाविकता के साथ-साथ आकर्षित करने वाली कलात्मकता होती है। लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-कथा, उत्सव समारोह आदि के जीवन्त दृश्य उपन्यास में स्वाभाविक रूप से उपस्थित हैं।

वस्तुत: आँचलिकता के सम्पूर्ण अर्थों में यह एक आँचलिक उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास में एक पिछड़े समाज का चित्रण है। यह गाँव आधुनिक जीवन और नगरीय-सभ्यता की छाया से भी दूर है। मेरीगंज और उसके आस-पास का वह अंचल भूख, गरीबी, बीमारी और अन्धविश्वासों से पीड़ित है। गाँव में जातिगत भेद-भाव पूरी तीव्रता से उपस्थित है। समाज की शक्ति वर्गों और वर्णों में बँटी हुई है। यह आँचलिक समाज जातीय विद्वेष और पारस्परिक घृणा, ईर्ष्या और क्षुद्रताओं से भरा हुआ है। लोगों में सामाजिक चेतना का पूर्णत: अभाव है। ऐसे में अन्धविश्वासों का पनपना स्वाभाविक है। गनेश की नानी गाँव वालों को डायन लगती है, गाँव की कुँवारी लड़कियों पर जिन आता है।

सामाजिक परिस्थितियों के बीच उपन्यासकार ने आर्थिक वर्गों का चित्रण राजनीतिक प्रभाव के संदर्भ में किया है। अभिशप्त जनता का आमूल परिवर्तन किए बिना गरीबी से उनका उद्धार नहीं किया जा सकता है। भूमिहीन लोगों की दयनीय स्थिति से सम्पूर्ण उपन्यास भरा हुआ है। साधन विहीन, बेजमीन, पशुवत जनता लाचार है। लेकिन यह लाचारी अब बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। उपन्यास में भूमिहीन किसानों की मर्म-वेदना का महत्वपूर्ण चित्रण है।

''फिर भी मैला आँचल का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचन्द की परम्परा से जोड़ता है। बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँवों के वर्ग संघर्ष का वर्ग शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा

जीता-जागता चित्रण मिलेगा। यह उसका सबल पक्ष है।''[1] इस पिछड़े समाज में नवजागृति का प्रभाव देखा जा सकता है। गाँव में डॉक्टर का आना, किसानों को दफा चालीस की जानकारी होना, चरखा सेंटर खुलना तथा राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं के प्रयासों से जनता द्वारा अपने अधिकारों को पहचानना। सामाजिक चेतना की झलक रामपियरिया के मठ की दासी बनने के प्रसंग में भी दिखाई पड़ती है। गाँव के नवयुवकों ने रामपियरिया के दासी बनने का घोर विरोध किया क्योंकि गाँव में लक्ष्मी दासी की दशा का सबको पता है। मठों में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रति जनता जागरुक हो रही है।

गाँव का बदलता हुआ परिदृश्य राजनीतिक दलों की गतिविधियों के द्वारा देखा जा सकता है। उपन्यास में सामाजिक और राजनीतिक चित्रण के द्वारा सामंती उत्पीड़न को प्रस्तुत किया गया है। नए सामाजिक राजनीतिक दबावों के कारण मेरीगंज की परिस्थितियों में बदलाव हो रहे हैं।

आँचलिक उपन्यास की प्रमुख विशेषता होती है - अंचल की संस्कृति का चित्रण। लोक-संस्कृति के सफल चित्रण के प्रभाव से ''मैला आँचल'' में अंचल और परिवेश पात्र के समान मुखर हो उठा है।

''मैला आँचल में नयी चीज है, लोक संस्कृति का वर्णन। लोकगीतों और लोक-नृत्यों के वर्णन द्वारा लेखक ने एक अंचल विशेष की संस्कृति का चित्र अंकित किया है।''[2]

किसी भी समाज विशेष की वेशभूषा, बोली, खान-पान, रीति-रिवाज तथा मनोरंजन के साधन उसकी संस्कृति के अभिन्न अंग हैं।

''भारत वर्ष की अतुलनीय लोक-संस्कृति की अपूर्व सम्पत्ति का इस पुस्तक में सर्वथा नवीन उपयोग है। वह कभी न थमने वाले किन्तु सर्वथा संवेदनशील, पार्श्व संगीत की भाँति है जिसमें जीवन के रंगमंच पर चलने वाले नाटक की हर बदलती मानदशा के अनुरूप नयी लय है, नया स्वर विन्यास है, नये बोल हैं, नई नृत्य भंगिमाएँ हैं। अन्त तक लेखक ने अपने उस विवेक को बनाये रखा है कि जिनके जीवन में संगीत और लय है वे सुख में विभोर होने पर भी गाते और नाचते हैं और दुख में विभोर होने पर भी।''[3]

मैला आँचल में लोक-संस्कृति का जीवन्त चित्रण हुआ है। लोक-संस्कृति के अनेकों दृश्य गीत-संगीत, नृत्य, पर्वों-त्योहारों के माध्यम से चित्रित किए गए हैं। वास्तव में ग्रामीण समाज में गीत-संगीत जन-जीवन के सुखों-दुखों की अभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है।

अंचल का जीवन्त परिवेश और संस्कृति का सजीव चित्रण पाठक को उस ग्रामीण समाज से पूरी तरह जोड़ देता है। ग्रामीण लोग दुख और अभाव में जीते हुए भी अपने गीत-संगीत, वाद्य-यन्त्र और नृत्य का दामन नहीं छोड़ते हैं, जिसका उदाहरण हमें मैला आँचल के पात्रों के रूप में दिखाई पड़ता है।

मैला आँचल में विदापत-नाच, जाट-जटिन के खेल तथा संथालों के नृत्य के माध्यम से लोक-संस्कृति को उपस्थित किया गया है। विदापत नाच में हास्य और व्यंग्य की प्रधानता दिखाई गई है। इसके माध्यम से मनोरंजनयुक्त वातावरण में गाँव की बुराइयों पर व्यंग्य किया गया है। गाँव के लोगों के नाम में भी लोक-संस्कृति की झलक है। जैसे - नामलरैन, रामपियरिया, लोकायदास, चलित्तरा आदि। गाँवों में प्रचलित नटवा नृत्य का सजीव चित्रण ''मैला आँचल'' में किया गया है।

जाट-जट्टिन का खेल मेरीगंज की महिलाओं के बीच प्रसिद्ध है। यह एक प्रकार का अभिनय नृत्य है जिसमें महिलाएँ गाँव के बड़े-बड़े लोगों की नकल उतारती हैं और सम्पन्न से सम्पन्न लोगों

को गालियाँ देती हैं। किन्तु गाँव में इन बातों का बुरा नहीं माना जाता। खेल के अंत में औरतें मिलकर हल जोतती हैं। ग्रामीण समाज में यह विश्वास है कि महिलाओं द्वारा जाट-जट्टिन खेलने और हल जोतने से सूखा नहीं पड़ता, अच्छी बारिश होती है। इसके अतिरिक्त संथाली नृत्य का भी उस अंचल में महत्वपूर्ण स्थान है।

उपन्यास में लेखक ने लोकगीतों, पर्वों-त्योहारों, ऋतुओं तथा उत्सवों का सजीव चित्रण किया है। देश की स्थितियों के प्रति जागरुकता की अभिव्यक्ति सुराजी गीतों के माध्यम से हुई है। इनके अतिरिक्त गाँव में होने वाले कीर्त्तन और मठ के अन्दर होने वाले बीजक पाठ भी लोक-संस्कृति के अंग हैं। सारंगा-सदाब्रिज की कथा यहाँ के जन-मानस में रची-बसी है।

गीत-संगीत के अतिरिक्त पर्वों-त्योहारों का वर्णन है। सिरवा पर्व पर 'मछहरी' होती है, और साथ ही सत्तुआनी पर्व में सत्तु खाया जाता है। संथालों के 'बन्धना पर्व' में अनेक नए सम्बन्ध जुड़ते हैं। पर्वों-त्योहारों पर गाए जाने वाले गीतों के माध्यम से अंचल का दृश्य साकार हो उठा है। जन-जीवन की जागरुकता और लोक-संस्कृति का समन्वय निम्नलिखित गीत में प्रकट हुआ है -

कथि जे चढ़िये आयेल
भारत माता
कथि जे चढ़ल सुराज
चलु सखी देखन को।
कथि जे चढ़िये आयेल
बीर जमाहिर
कथि पर गंधी महाराज।
चलु .....।।''[44] -मैला आँचल - फणीश्वर नाथ रेणु।

संदर्भ-सूची

1. आस्था और सौन्दर्य - रामविलास शर्मा, पृ. 120.
2. वही, पृ. 119.
3. विवेक के रंग - सं. डॉ. देवी शंकर शर्मा, पृ. 207.

अन्य सहायक ग्रन्थ

1. हिन्दी उपन्यास - पहचान और परख - सम्पादक - डॉ. इन्द्रनाथ मदान।
2. आँचलिक उपन्यास और उनकी शिल्पविधि - डॉ. आदर्श सक्सेना।
3. लोकदृष्टि और हिन्दी साहित्य - डॉ. चन्द्रबली सिंह।
4. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन - डॉ. गणेशन।
5. लोक जीवन और साहित्य - डॉ. रामविलास शर्मा।

हिन्दी

संपादक, विचारक और समालोचक

रणविजय पासवान

ग्राम-पचीसकुरवा, पो०-हाजीपुर, जिला-वैशाली

प्रेमचंद स्वयं साहित्य-स्रष्टा तो थे ही, वह दूसरों में साहित्य रचना की प्रेरणा पैदा करने वाले और नये लेखकों को प्रोत्साहित करने वाले साहित्यकार भी थे। वह भारतेन्दु बालमुकुंद गुप्त और महावीर प्रसाद द्विवेदी की शानदार परंपरा में उत्पन्न हुए थे और उन्होंने इस परंपरा को उन्नत किया था।[1] 'माधुरी' और आगे चलकर विशेष रूप से 'हंस' के जरिए उन्होंने हिन्दी-साहित्य की शक्तियों को बटोरने का भगीरथ प्रयत्न किया था। उनके पत्र में एक ओर निराला जी के छायावादी गीत प्रकाशित होते थे तो दूसरी ओर उनकी पत्नी अपनी यर्थाथवादी कहानियाँ भी छपती थीं। लेकिन प्रेमचंद तटस्थ संपादक नहीं थे। वह राष्ट्रीयता और जनों की भावनाओं का विरोध करनेवाली रचनाओं को खुद छापना तो दूर, दूसरी जगह भी वे छपें, तो उनकी आलोचना करना न भूलते थे।

'हंस' के द्विवेदी-अभिनंदनांक' में संपादकीय कलम से जो शब्द द्विवेदी जी के लिए लिखे गए हैं, वे कुछ घट-बढ़कर प्रेमचंद पर भी लागू होते हैं।

ह्रस्वभाव से अत्यंत दृढ़-प्रतिज्ञ और हृदय से परम कोमल, ये हमारे अपने हैं, इस बात को हिन्दी-जगत उसी दिन माना गया था, जब ये 'सरस्वती' में थे। उन दिनों ये हम सबको पिता की तरह शासित किया करते थे और माता की तरह प्यार! ये हमारी गलतियों पर फटकारते थे, उन्हें प्रेमपूर्वक सुधार देते और हमारी सफलता पर हमें प्रेम के मोदक भी खिलाते थे। इन्होंने ठोंक-ठोंक कर हमें सुधारा, पुचकार-पुचकार कर ठीक रास्ते पर चढ़ाया और उत्साह दे-देकर आगे बढ़ाया।

उनके प्रोत्साहित करने की एक एक मिसाल श्री वीरकेश्वर सिंह को लिखे हुए खत में है। दो महीने से प्रेमचंद खाट पर पड़े हुए थे। पेचिश की तकलीफ थी, लीवर भी ख़राब था, फिर भी लिखते हैं- "आज 'भारत' से तुम्हारा लेख पढ़वाकर सुना। बड़ी तकलीफ में था, लेकिन कुछ आराम ही मिला। बड़ा अच्छा लेख है।"[2]

ऐसी बीमारी में 'हंस' के एक लेखक की रचना को जो दूसरे पत्र में छपी थी- पढ़वाकर सुनना और उसकी दाद देना प्रेमचंद का ही काम था।

प्रसाद जी का 'कंकाल' प्रकाशित होने पर प्रेमचंद ने उसकी प्रशंसा छापी थी और उनके असर से प्रसाद जी ने 'तितली' में एक नये ढ़ंग की रचना करने की कोशिश की थी।

प्रेमचंद की रचनाओं को समझने के लिए ये शब्द सूत्र की तरह उपयोगी हैं। उनका साहित्य पाखंड, धूर्तता, अन्याय और बलात्कार से घृणा करना सिखलाता है। यह साहित्य जीवन में तटस्थ नहीं है। वह धूर्तता, अन्याय और बलात्कार देखकर किसी शाश्वत सत्य से आँचल में मुँह नहीं छिपा लेता।

वह पाठक से ललकार कर कहता है, आओ इस न्याय और अत्याचार से घृणा करो। इसे दुनिया से मिटा दो।

ब्राह्मणत्व की आड़ में होने वाले पाखंडाचरण की निंदा करते हुए प्रेमचंद ने आगे लिखा है- "हरेक टकापंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता। इस विकृत धर्मोपजीवी आचरण के हाथों हमारा समाज के अहित ही नहीं, कितना राष्ट्रीय अहित हो रहा है, यह वर्णाश्रम-स्वराज्य संघ के हथरंडों से जाहिर है।[3] ऐसी असामाजिक अराष्ट्रीय, अमानुषिक भावनाओं के प्रति जितना भी घृणा फैलायी जाए, वह थोड़ी है, केवल भावनाओं के प्रति, व्यक्ति के प्रति नहीं, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के संचालक हमारे वैसे ही भाई है जैसे आलोचक महोदय के।"

'जागरण' के पहले अंक में श्रीयुत प्रेमचंद जी ने अपने 'हंस' से आत्मकथांक के लिए लेख लिखते हुए 'भारत' की साहित्यिक नीति और लेख शैली को बहुत बुरे शब्दों में याद किया है। प्रेमचंद जी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेन्डा-वृत्ति के कारण काफी बदनाम हैं और हिन्दी के बड़े-से-बड़े समीक्षक ने उसकी शिकायत की है। वही वृत्ति उनके इस लेख में भी प्रसार पा रही है। यद्यपि प्रेमचंद जी लिखते हैं कि 'हमने तो कभी प्रोपेगेन्डा नहीं किया, हमारा बड़ा-सा-बड़ा दुश्मन भी हमारे ऊपर यह आक्षेप नहीं कर सकता, पर प्रेमचंद जी के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बड़ा दोष, जो उनकी साहित्य- कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है- यही प्रोपेगेण्डा है।[4] यदि प्रेमचंद की बिल्कुल ही भोले-भाले न बनें, तो वह अपने विरूद्ध इस प्रकार का आरोप एक ही अनेक बार सुन चुके होंगे, पढ़ चुके होंगे और हृदय की थाह लगाकर देख भी चुके होंगे। यदि उनके साहित्य के साथ उनके जीवन का कुछ भी संबंध है- और संबंध है क्यों नहीं? तो हमें उनके ये विचार पढ़कर कुछ भी आश्चर्य न होना चाहिए। उसमें भी हमें प्रेमचंद जी की उपन्यास-कला का एक रहस्य ही देख पड़ा।

इसका क्या जबाव दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेन्डा करते हैं- सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेन्डा न हो, तो संसार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेन्डा नहीं कर सकता, वह विचार शून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगेन्डा को गर्व से स्वीकार करता हूँ।[5] मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेन्डा के आक्षेप से है, जो मान, यश, कीर्ति और धन-मोह के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य-सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो, जो एक प्लेटफार्म को खूली का तख्ता समझता हो, उसे अपना ढिंढ़ोरा पीटने वाला कहना न्याय नहीं है। यों तो यहाँ किसी आर्डिनेंस का भय नहीं, जो आक्षेप कोई करना चाहे कर सकता है। वाजपेयी जी ने मनोविज्ञान के विद्यार्थी की हैसियत से मेरे उस लेख में मेरी प्रोपेगेन्डा-वृत्ति देखकर संतोषलाभ किया, यह मेरे लिए भी आनन्द की बात है।

प्रेमचंद पूँजीवादी घेरे में आ गयी बौद्धिक और सामाजिक स्थिति को महाजनी सभ्यता के नाम से व्यक्त करते हैं और विस्तार से इसके मिलने वाले रूपों की चर्चा करते हैं। वे कहते हैं- "धन-लोभ ने मानव भावों को पूर्णरूप से अपने अधीन कर लिया है। कुलीनता और शराफत, गुण और कमाल की कसौटी पैसा और केवल पैसा देता है, वह देवता-स्वरूप है, उसका अंत:करण कितना ही काला क्यों न हो।[6] साहित्य, संगीत, कला-समीधान की देहली पर माथा टेकनेवालो में से

है। यह हवा इतनी जहरीली हो गयी है कि इसमें जीवित रहना कठिन होता जा रहा है। डॉक्टर और हकीम है कि वह बिना लम्बी फीस लिए बात तक नहीं करता। वकील और बैरिस्टर है कि वह मिनटों को अशर्फियों से तौलता है। गुण और योग्यता की सफलता उसके आर्थिक मूल्य के हिसाब से मानी जाती है। मौलवी साहब और पंडित जी भी पैसे के गुलाम हैं। अख़बार उन्हीं का राग अलापता है। इस महाजनी सभ्यता ने नये-नये नियम गढ़ लिये हैं। उनमें से एक यह है कि समय ही धन है। ..... इस सभ्यता का दूसरा नियम है, Business is business, व्यवसाय व्यवसाय है उसमें भावुकता के लिए गुंजाइश नहीं।"

"मैं दुनिया में महात्मा गाँधी को सबसे बड़ा मानता हूँ। उनका भी उद्देश्य यही है कि मजदूर और काश्तकार सुखी हों। वह हमलोगों को बढ़ाने के लिए आंदोलन मचा रहे हैं। मैं लिख करके उसकों उत्साह दे रहा हूँ।[7] महात्मा गाँधी हिन्दु-मुसलमानों की एकता चाहते हैं। मैं भी हिन्दी और उर्दू को मिला करके हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूँ।" लेकिन तब भी वे साम्यवाद की महत्ता से अपरिचित नहीं थे। 'प्रेमाश्रम' में तरूण पीढ़ी के किसान के मुँह से उन्होंने कहलवाया है-

"मेसे पास जो पत्र आता है, उसमें लिखा है कि इस देश में काश्तकारों ही का राज है। वह जो चाहते हैं, करते हैं। इसी के पास कोई और देश बलगारी है, वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"

प्रेमचंद को समझने के लिए संक्षेप में मार्क्स और गाँधी के चिन्तनाधार को समझना आवश्यक है। मार्क्स के अनुसार अर्थ ही जीवन का विधायक है। युग का राजनैतिक और सामाजिक घटना-चक्र तात्कालिक आर्थिक प्रक्रिया से प्रभावित रहता है और सामाजिक और राजनैतिक विकास आर्थिक वर्गों के स्वाभाविक संघर्ष के आधार पर होते हैं। इस संघर्ष की भविष्य-जाति का उल्लेख करते हुए मार्क्स गति की विभिन्न स्थितियों में विभिन्न वर्गों की स्थितियों में क्या परिवर्तन होगा, इसकी ओर स्पष्ट संकेत करता है लेकिन मार्क्स भाग्यवादी नहीं है।[8] उसका कहना है कि मनुष्य आर्थिक परिस्थितियों की आवश्यंम्भाविता के प्रभावों से बच नहीं सकता, लेकिन यह प्रभाव परोक्ष नहीं होता। मनुष्य की इन प्रभावों के प्रति सक्रिय प्रतिक्रिया होती है, और वे युग की सामान्य आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होने पर भी कही हद तक अपने वातावरण को बदल सकते हैं। अगर सारी समाज व्यवस्था उत्पादन के साधनों से निर्धारित है, तो इन संबंधों में परिवर्तन करके समाज के दोषों को दूर किया जा सकता है।

प्रेमचंद का कम्युनिज्म केवल यह ही है कि हमारे देश में जमींदार सेठ आदि जो कृाकों के शोषक हैं, न रहें। कम्युनिज्म के साथ प्रेमचंद के मन का इतना ही मेल है, इसके आगे नहीं। वे एक शोषणहीन समाज की स्थापना चाहते हैं।[9] बस, अन्यथा न आर्थिक नियतिवाद में उन्हें विश्वास है और न ही वे अर्थ को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानते हैं। वे समाज के मार्क्सीय विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते और न समाज विकास को मार्क्सीय साधन से संभव मानते हैं। उनका लक्ष्य-मात्र मार्क्सीय है।

प्रेमचंद इस बात के कायल नहीं थे कि मनुष्य जो कुछ भी अनुभव करें, उस पर लिखे। साहित्य में अनुभूति की दुहाई देना दूसरे शब्दों में निरूद्देश्यता की घोषणा करना है। कविता निरूद्देश्य होती है कि सोद्देश्य, इस बात का जवाब देते हुए मई 36 के 'हंस' में प्रेमचंद ने लिखा था- इसलिए यह

कहना है कि कविता का कुछ उद्देश्य ही नहीं होता और उसको उपयोगिता के बंधन में बाँधना गलती है, एक सारहीन बात है।[10] कवि किसी को क्यों रूलाता है और क्यों हँसाता है, इस बात का जवाब देते हुए करूण भावनाओं को उत्तेजित करना, हमारी हम तो कवि की सभी अनुभूतियों के कायल नहीं। अगर उसने अपनी प्रेयसी के नख-शिख के बखान में वाणी का चमत्कार दिखाया है, तो हम देखेंगे कि उसने किन भावों से प्रेरित होकर यह रचना की है। अगर उससे हमारे मनोभावों का परिष्कार होता है। इसमें सौदर्य की भावना सजग होती है, तो उसकी रचना ठीक, वरना गलत। प्रेमचंद कथाकार ही नहीं थे, पत्रकार भी थे। भारतेंदु से लेकर प्रेमचंद तक हिन्दी-साहित्य की परंपरा में यह बात ध्यान देने की है हमारे सभी बड़े साहित्यकार पत्रकार भी थे। पत्रकारिता एक सजग और लड़ाकू पत्रकारिता थी, जो देश-विदेश के घटना-क्रम में दखल देती थी, जनता के जीवन और साहित्यकार के परस्पर संबंध को मजबूत करती थी।

प्रेमचंद अंतर्राष्ट्रीय जगत की देखभाल रखते थे हुए उस पर टीका-टिप्पणी करते थे। 'सोवियत रूस में प्रकाशन नाम की टिप्पणी में उन्होंने सन् 27 तक के आँकड़े देते हुए लिखा था- "रूस की जनसंख्या 12 लाख के लगभग है। इस जनसंख्या के लिए लगभग 8 करोड़ पुस्तकें प्रकाशित हुई। फिर हिन्दुस्तान के लोगों के उदासीनता और उनकी गुलामी का जिक्र करते हुए उन्होंने लिखा था- यहाँ 1930 में अग्रेंजी में 2332 पुस्तकें और हिन्दुस्तानी भाषाओं में 14815 पुस्तकें निकाली।'' कहाँ 8 करोड़ और कहाँ 15 करोड़ 15 हजार। "प्रेमचंद ने इस स्थिति के लिए गरिबों को दोषी नहीं ठहराया क्योंकि यहाँ साहित्य से थोड़ा बहुत जो प्रेम है वह उन्हीं को है जो अभाव से पीड़ित है।" उन्हें क्रोध आया है संपत्तिशाली लोगों की विरक्ति पर उनका कहना है- "अगर हममें विरक्ति की यह भावना न होती तो आए दिन हमारे आन्दोलन का बासी कढ़ी के उबाल का-सा हाल न होता।" दुनिया की गतिविधि देखकर प्रेमचंद इस नतीजे पर पहुँच रहे थे कि जिस आंदोलन में संपत्तिशाली वर्गों का नेतृत्व होगा उसका नतीजा बासी कढ़ी में उबाल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

प्रेमचंद साहित्य की उपयोगिता का सवाल उठाते हैं। कहते हैं- "जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी संदेह किया जाता है। प्रेमचंद यह नहीं मानते कि मनुष्य का स्वभाव बदल नहीं सकता। स्वभाव बदलता है और साहित्य उसे बदलने का साधन है।" किसी देश की जनता और उसके चरित्र की विशेषताओं से साहित्य का क्या संबंध है, इस पर वह कहते हैं- "विश्व की आत्मा के अंतर्गत भी राष्ट्र या देश की आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है- साहित्य।" प्रेमचंद की यह धारणा साम्राज्यवादियों के इस प्रचार का खंडन करती है कि साहित्य की राष्ट्रीय या जातीय विशेषताएँ नहीं होतीं। अमरीका और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी और उनके भाड़े के लेखक विश्व-संस्कृति और विश्व-सरकार की लंबी-चौड़ी बातें करते हैं। वे दूसरे देशों को गुलाम बनाते हैं, उनकी भाषा और संस्कृति को दबाते हैं, उनके जातीय चरित्र को नष्ट करते हैं। इस निंदनीय काम को छिपाने के लिए विश्व-संस्कृति की बातें नकाब का काम करती है। प्रेमचंद बहुत सी असंगतियों के बीच से गुजरते हुए क्रांतिकारी यथार्थवाद की तरफ आ रहे थे- एक ऐसे यथार्थवाद की तरफ, जो जीवन का सही चित्र देते हुए पाठक में अपने जीवन की परिस्थितियों को बदलने की, एक नया जनवादी और स्वाधीन जीवन निर्माण करने की प्रेरणा भी दे।[12] प्राचीन अध्यात्मवाद का प्रभाव जहाँ-जहाँ उन पर दिखाई देता है, लेकिन क्रमशः वह क्षीण होता जाता है। कहानी-कथा-संबंधी एक लेख में वह कहते

हैं- "मानव-संस्कृति का विकास ही इसलिए हुआ है कि मनुष्य अपने को समझे। अध्यात्म और दर्शन की भाँति साहित्य भी इसी सत्य की खोज में लगा हुआ है- अंतर इतना ही है कि वह इस उद्योग में रस का मिश्रण करके उसे आनंदप्रद बना देता है। इसलिए अध्यात्म और दर्शन केवल ज्ञानियों के लिए हैं, साहित्य मनुष्य मात्र के लिए।"

संदर्भ-ग्रंथ

1. प्रेमचंद और उनका युग- डॉ० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ० 119
2. वही, पृ० 120
3. वही, पृ० 122
4. हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, नन्ददुलारे वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, पृ० 81
5. वही, पृ० 83
6. गोदान, संपादक- राजेश्वर गुरू, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ० 24
7. वही, पृ० 32
8. वही, पृ० 33
9. वही, पृ० 34
10. प्रेमचंद और उनका युग- डॉ० राम विलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, पृ० 123
11. वही, पृ० 129
12. वही, पृ० 131

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा–दृष्टि

डॉ० पूजा कुमारी

व्याख्याता, हिन्दी विभाग, पारस-कौशल डिग्री कॉलेज, छपरा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के विलक्षण प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार हैं। इन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा और क्षमता से हिन्दी समीक्षा-साहित्य को गौरव के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने हिन्दी साहित्य के कोश निर्माण का कार्य किया, हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा, अनेक निबन्धों की रचना की, और जायसी, सूर, तुलसी के काव्य की प्रभावशाली समीक्षा प्रस्तुत की। हिन्दी साहित्य का इतिहास इनकी सबसे महत्वपूर्ण कृति है। आचार्य शुक्ल ने इसकी रचना काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में की थी। बाद में इसे ही संशोधित एवं विस्तृत रूप प्रदान कर अलग पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दिया गया। इस पुस्तक में आचार्य शुक्ल, साहित्य को जनता की चित्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हुए हिन्दी साहित्य का काल विभाजन करते हैं। वे लिखते हैं-'जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्रवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्रवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्रवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक या धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है। अत: कारणस्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के विवेचन करने में यह बात ध्यान में करनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगो में रूचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।[1]

वस्तुत: आचार्य शुक्ल ने साहित्य के प्रति एक स्पष्ट एंव तर्कसम्मत दृष्टिकोण का परिचय देते हुए युग की परिस्थितियों के अनुरूप साहित्य के विकास क्रम का विवेचन-विश्लेषण करने का प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने अपने इतिहास में काल तथा प्रवृत्ति दोनों का समन्वय किया है। उनका इतिहास कदाचित् अपने विषय का प्रथम ग्रंथ है, जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक एंव विकसित दृष्टिकोण का स्पष्ट विवेचन और प्रामाणिक निष्कर्षो का समावेश मिलता है। इस ग्रंथ में वे हिन्दी साहित्य के इतिहास को चार काल खण्डों-वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल के रूप में विभाजन करते हैं। हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल को वे वीरगाथाकाल कहते हैं क्योंकि इस काल में वीररसात्मक ग्रंथों की प्रमुखता थी। यद्यपि इन वीररसात्मक ग्रंथों में से अधिकांश

अप्रामाणिक, कुछ नोटिस मात्र और कुछ बाद की रचनायें ठहर जाती हैं और आदिकाल नाम मान्य हो जाता है, फिर भी आचार्य शुक्ल के प्रयास की सभी सराहना करते हैं। दूसरा काल भक्तिकाल है। इसकी चर्चा करते हुए डॉ० नगेन्द्र लिखते हैं- 'आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक अन्य विशेषता है- पूरे भक्तिकाल को चार भागों या शाखाओं में बाँटकर उसे शुद्ध दार्शनिक एंव धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना। उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण धारा और सगुण धारा में और फिर प्रत्येक को दो-दो शाखाओं-ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा समभक्ति शाखा व कृष्णभक्ति शाखा में विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों को, अपितु दार्शनिक, तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यानुसंधान करने वालों के लिए भी एक अत्यन्त सरल एंव सीधा मार्ग तैयार कर दिया।[2] ये इस काल के कवियों को अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलाते हैं। ये कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के प्रादुर्भाव को हिन्दी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिन्दी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा।

भक्तवर सूरदास ने ब्रज की चलती हुई भाषा को परम्परा से चली आती हुई काव्य भाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा का लोक व्यवहार के मेल में से ले आये। उन्होंने परम्परा से चली आती हुई काव्य भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूरसागर में पाते हैं, वहीं माधुर्य हम तुलसी कृत गीतावली और कृष्ण में गीतावली में देखते हैं। तुलसी को ब्रजभाषा और अवधी पर समान अधिकार था। हिन्दी साहित्य के तीसरे काल का नाम आचार्य शुक्ल रीतिकाल देते है। साथ ही साथ वे कहते हैं कि रस की दृष्टि से कोई इसे शृंगार काल कहना चाहे तो कह सकता है। इस काल की रचनाओं में रीति निरूपण की प्रधानता है। हिन्दी साहित्य में 'रीति' शब्द का प्रयोग अत्यन्त ही व्यापक अर्थ में किया जाता है। रीति शब्द का तात्पर्य काव्यशास्त्र के विविध अंगों रस, ध्वनि, अलंकार, काव्यगुण आदि के विवेचन से है। इस युग की कविताओं में हम इन्ही तत्वों की प्रधानता पाते हैं। उस समय के कवियों की कविताओं पर यह विवाद होता था कि उसमे कौन सा अलंकार रस, छन्द आदि है।

इस काल के बाद आधुनिक काल आता है। इस काल में गद्य की प्रधानता को देखते हुए गद्य काल कहते है। आचार्यशुक्ल का यह काल विभाजन अपनी स्पष्टता, सरलता और तर्कसम्मत विश्लेषणों के कारण सर्वमान्य रहा। यह इतिहास ही नहीं अपने विषय का पहला ग्रंथ था जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि विकसित दृष्टिकोण, स्पष्ट विवेचन-विश्लेषण और प्रामाणिक निश्कर्षों का समावेश था। उस समय हिन्दी का प्राचीन साहित्य प्रायः अज्ञात, अप्राप्त और अप्रकाशित था। उनके सामने आधारभूत सामग्री का अभाव था। अतः तथ्य-निरूपण, निष्कर्षो के निरूपण में न्यूनताओं एवं कुछ त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की परम्परा का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य राचन्द्रशुक्ल के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का प्रत्येक प्रयास आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तावित आयोजन पर ही आधृत है। काल विभाजन तथा विषय-प्रतिपादन में आचार्यशुक्ल के आदर्शो की स्थापना की गई हैं। आचार्य केशुक्ल के अनंतर हिन्दी क्षेत्र में अनेकशोध-प्रबंध तथा समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे गये।[3] आचार्य शुक्ल ने जायसी, सूर, तुलसी पर समीक्षाएँ लिखीं। इन समीक्षाओं से इन कवियों के काव्य की विशेषताएँ प्रकाश में आई।

इन्होंने तुलसी की भक्तिभावना, लोकधर्म, ज्ञान, नीति एवं आदर्श सबों की प्रशंसा की। तुलसी के रामचरितमानस को इन्होंने अनमोल ग्रंथ कहा। सूर के भ्रमरगीत में वर्णित विरह व्यंग्य एवं विनोद पर इन्होंने विस्तार से प्रकाश डाला।

हिन्दी साहित्य में जायसी की विशेषताओं को स्थापित करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्रशुक्ल को जाता है। इन्होंने जायसी ग्रंथावली की लम्बी भूमिका में जायसी की विशेषताओं का विस्तार से विवेचन-विश्लेषण किया। सूर, तुलसी पर लिखे ग्रंथ की अपेक्षा जायसी ग्रंथावली की भूमिका बड़ी है। जायसी प्रसिद्ध सूफी फकीरशेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस में रहते थे। जीवन के अंतिम समय में ये एक जंगल में रहने लगे, वहीं इनकी मृत्यु हुई। जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में उनका काफी सम्मान था। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखी- पद्मावत, अखरावट, और आखिर कलाम। 'आखिर कलाम' फारसी में है और बाबर के समय में लिखी गयी थी। इसमें बाबर की प्रशंसा और कयामत का वर्णन है। 'अखरावट' में ईश्वर, सृष्टि, जीव आदि विषयों पर विचार किया गया है। जायसी की कीर्ति का आधार 'पद्मावत' है। यह महाकाव्य है और दोहा-चौपाई शैली में लिखी गयी है। 'पद्मावत' पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी हृदय प्रेम की पीर से भरा हुआ था। 'पद्मावत' में इतिहास एवं कल्पना का सुन्दर योग है। इसमे सिंघलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती और चित्तौर के राजा रत्नसेन के बीच की प्रेम-कथा का वर्णन है। हीरामन तोता से पद्मावती के रूप की प्रशंसा सुनकर राजा रत्नसेन उसे पाने के लिए चल पड़ते हैं। इधर राममहल में रानी नागमती विरह की ज्वाला से जलने लगती है। अनेक कठिनाइयों के बाद राजा रत्नसेन, पद्मावती को प्राप्त करते हैं। जायसी इस कथा को फिर दिल्ली के बादशाह अल्लाऊदीन से जोड़ देते हैं।

आचार्य रामचन्द्रशुक्ल की पुस्तक, चिंतामणि भाग-1, भाग-2 रस मीमांसा आदि में इनकी सैद्धान्तिक समीक्षा का सुन्दर स्वरूप दिखलाई पड़ता हैं। चिंतामणि भाग-1 का निबंध 'कविता क्या है?' शुक्ल जी का पहला मौलिक निबंध है। यह सर्वप्रथम 'सरस्वती' पत्रिका में सन् 1909 में प्रकाशित हुआ। इसमें आचार्य शुक्ल कविता की परिभाषा इस प्रकार देते हैं- "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है उसे कविता कहते हैं।"[4] आचार्य शुक्ल के अनुसार कविता ही वह साधन है, जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। यह निबन्ध आधुनिक कविता का सौन्दर्यशास्त्र रचने का प्रयास प्रतीत होता है। यह निबन्ध निम्न शीर्षकों में विभक्त है-

(क) काव्य और व्यवहार
(ख) मनुष्य की उच्च भूमि
(ग) सौन्दर्य
(घ) चमत्कारवाद
(ङ) कविता की भाषा
(च) अलंकार

(छ) कविता पर अत्याचार

(ज) कविता की आवश्यकता।

आचार्य शुक्ल कविता में संसार के विविध रूपों का चित्र देखना पसन्द करते हैं, साथ ही इन रूपों के साथ हृदय का सामंजस्य देखना चाहते हैं। शुक्ल जी उन सभी प्राचीन और आधुनिक, भारतीय और पाश्चात्य आलोचना-सिद्धान्तों का खण्डन करते हैं जो जीवन और सहित्य के संबंधों को नकारते हैं। शुक्लजी संस्कृत काव्यशास्त्र की रसवादी परम्परा से अलग हटकर जीवानानुभूति में भी रसानुभति की स्थिति स्वीकार करते हैं, क्योंकि 'हृदय की मुक्तावस्था' जीवन में भी घटित होती है। शुक्लजी ज्ञान विरोधी भावुकता के समर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि ज्ञान-प्रसार के भीतर भी हृदय-प्रसार होता है और हृदय-प्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है। अत: ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा, तभी काव्य की नई-नई मार्मिक अर्थभूमियों की ओर वह बढ़ेगा।[5] छायावादी कवि कल्पना को बहुत अधिक महत्व देने लगे थे। आचार्य शुक्ल कल्पना को भावुकता के अन्तर्गत ही देखते है- 'जब भाव की उमंग कल्पना को प्रेरित करती है तब कवि का मूल गुण भावुकता अर्थात् अनुभूति की तीव्रता है। कल्पना उसकी सहयोगिनी है।'[6]

आचार्यशुक्ल के समय भारत पराधीन था। देश में स्वाधीनता आंदोलन चल रहे थे। लोग देशभक्ति एवं आजादी के महत्व को समझने लगे थे। उस समय देश-प्रेम की भावुक ललकार और आत्म-बलिदान की भावना का महत्व था। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने भावना पर बल दिया। उन्होंने करूणा और प्रेम के महत्व को समझाया। वे करूणा के समर्थक अधिक थे। अपने इस भावपरक दृष्टिकोण से उन्होंने देश-प्रेम का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया और इस देश-प्रेम का संबंध प्रकृति प्रेम से जोड़ा। इसीलिए वे प्राचीन रसवादियों का खण्डन करते हुए प्रकृति के आलम्बन रूप में वर्णन करने का पक्ष लेते हैं। प्राचीन आचार्यों ने करूणा और प्रेम में वैसा भेद नहीं किया जैसा कि शुक्ल जी ने। उनका कहना था कि यद्यपि करूणा और प्रेम दोनों मंगल का विधान करने वाले भाव है लेकिन करूणा की प्रवृत्ति रक्षा की ओर होती है जबकि प्रेम की प्रवृति रंजन की ओर। करूणा का संबंध उन्होंने साधनावस्था से जोड़ा और प्रेम का सिद्धावस्था से। उनके अनुसार श्रेष्ठ भारतीय प्रबंध काव्य का बीज भाव करूणा ही है। ये प्रबन्ध काव्य आनंद की साधनावस्था या उसके प्रयत्न पक्ष को लेकर चले हैं। अपने कथन के उदाहरण स्वरूप वे आदिकाव्य रामायण की कथा लेते हैं। प्रेम के दो पक्ष की वे चर्चा करते हैं- रंजन और पालन। रंजन का संबध शृंगार से है और पालन का वात्सल्य से। प्रेम के केवल शृंगार पक्ष पर ही बल देने को शुक्ल जी ठीक नहीं समझते। सूरदास ने वात्सल्य और शृंगार दोनों का सफल चित्रण किया। फलत: सूरदास, शुक्लजी को प्रिय लगते हैं।

आचार्य शुक्ल आदर्शवादी साहित्यकार हैं। उन्हें छायावादी कविता पसंद नहीं आयी, क्योंकि उसमें नारी से मांसल रूप का चित्रण था और रीतिकालीन शृंगारिकता की पुनरावृत्ति दिखलाई देती थी। जब छायावादी कविता प्रगतिवाद की ओर मुड़ने लगी तब शुक्ल जी ने उसका स्वागत करते हुए लिखा- 'हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकलकर जगत् और जीवन तथा मार्मिक पक्षों की ओर बढ़ते दिखाई दे रहे हैं।'[7] इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों तरह की समीक्षाओं में उल्लेखनीय कार्य किया, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

संदर्भ सूची

1. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 8
2. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 46
3. डॉ मिश्र एवं पाण्डेय, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 9
4. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, चिंतामणि भाग-1, पृ. 113
5. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, चिंतामणि भाग-1, पृ. 3
6. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, चिंतामणि भाग-1, पृ. 95
7. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 656

हिन्दी

हिन्दी की समकालीन कहानियों में दलित–चेतना

डॉ० रमण कुमार

एम०ए० (हिन्दी), पीएच०डी०,
पोखरा मुहल्ला, आर०एन० कॉलेज रोड, हाजीपुर (वैशाली)

हिन्दी में दलितों को विषय बनाकर कहानी-लेखन की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। ऐसी कहानियों की रचना प्रेमचन्द-युग से लेकर अद्यतन युग तक हो रही है। इन कहानियों में जहाँ रूढ़ि, अन्धविश्वास, वाह्याडम्बर आदि पर प्रहार किया गया है, वहीं वर्ण-व्यवस्था, नस्ल-भेद और जाति-पाँति आदि का भी विरोध किया गया है।

यह अन्य बात है कि बहुत-सी दलित कहानियों में शास्त्रीयता का अभाव है, मगर उनमें दलित जीवन के भोगे हुए यथार्थ, सामन्ती आतंक और मनुवादी व्यवस्था का बड़ा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी के समकालीन दलित कहानीकारों में मोहन नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्योराज सिंह 'बेचैन', रमणिका गुप्ता, दयानन्द बटोही, सुशीला टांकभौरे, डॉ० शत्रुघ्न कुमार, स्वरूपचन्द बौद्ध, गिरिराजशरण, ठाकुर प्रसाद राही, सत्यप्रकाश, प्रहलादचन्द दास, रजतरानी मीनू, कर्मशील भारती, मुकेश मानस आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनकी कहानियों में सामाजिक विद्रूपता तथा दलितों की विडम्बनापूर्ण स्थिति का बड़ा ही यथार्थ चित्र उकेरा गया है। समकालीन दलित कहानियों में मोहन नैमिशराय लिखित 'आवाजें' कहानी-संग्रह को काफी ख्याति मिली है। इसी प्रकार ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखित 'सलाम' और 'घुसपैठिए' कहानियाँ भी खूब चर्चित हुई हैं। 'हंस' सहित अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विपिन बिहारी के कहानी-संग्रह 'पुनर्वास', 'अपना मकान', 'आधो पर अन्त' को भी काफी प्रसिद्धि मिली है। डॉ० कुसुम वियोगी की कहानी-पुस्तक 'समकालीन दलित कहानियाँ', 'चर्चित कहानियाँ', 'दलित महिला कथाकारों की चर्चित कहानियाँ', और 'चार इंच की कलम' में भी समाज की रूढ़िवादी व्यवस्था का पर्दाफाश किया गया है। जय प्रकाश कर्दम का कहानी-संग्रह 'सांग' और सूरजपाल चौहान का 'हैरी कब आयगा' कहानी-संग्रह भी काफी चर्चित रहा है। रमणिका गुप्ता की कहानी 'बहुजुठाई', 'दलित कहानी संचयन', 'दूसरी दुनिया का यथार्थ' आदि कहानी-संग्रह भी समकालीन दलित रचनाओं में विशेष स्थान रखता है।

समकालीन दलित-कहानियों में ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' एक चर्चित कहानी है। इस कहानी में प्राचीन काल से दलित समाज में प्रचलित 'सलाम' की रूढ़िवादी प्रथा पर प्रहार किया गया है। यह प्रथा दलित-समाज की हीनता और अपमान को दर्शाती है। विवाह के अवसर पर

बेटी की विदाई के दिन दलित दुल्हे को गाँव के बड़े लोगों और सवर्णों के यहाँ गाजे-बाजे के साथ ले जाया जाता है। दलितों की स्त्रियाँ गीत गाती रहती हैं। दुल्हे को मालिक-मालकिन या उनके परिवार को सलाम करना पड़ता है और उस सलाम के बदले दुल्हे को फटे-पुराने कपड़े या टूटे-फूटे बर्तन दे दिये जाते हैं। मगर इन सामानों की प्राप्ति के बदले मालिक या मालकिनी से उसे खरी-खोटी भी सुननी पड़ती है तथा अपमानित भी होना पड़ता है। लेखक ऐसी प्रथा का विरोध इस कहानी के माध्यम से करता है। वह दलितों में यह भावना भरना चाहता है कि मालिक-मालकिनी के पास जाकर सलामी के बहाने कुछ माँगना अपने आपको ओछा दिखलाना है। इससे उसके स्वाभिमान पर भी धक्का पड़ता है।

इसी प्रकार मोहनदास नैमिशराय लिखित 'कर्ज' शीर्षक कहानी में भी दलित-चेतना की व्यंजना हुई है। इसमें लेखक ने दलित-जीवन के आर्थिक पक्ष को सामने रखा है और बताया है कि दलित लोग किस प्रकार कर्ज में ही जन्म लेते, कर्ज में ही पलते और कर्ज में ही मर जाते हैं तथा उनकी सन्तानों को कर्ज चुकाने के लिए महाजन तंग करता है, प्रताड़ित करता है।

इस कहानी के नायक अशोक के पिता की चालीस-पैंतालीस वर्ष की उम्र में ही मृत्यु हो जाती है। उसकी मृत्यु के कारण कर्ज का बोझ, महाजन के यहाँ बेगारी करना और बेटी कमला की शादी की चिन्ता थे। अशोक को हाल ही में शहर के एक छोटे से मिल में नौकरी लगी थी। उसे आशा थी कि वह पिता द्वारा लिये गये कर्ज को तो सधा ही देगा, कमला की भी शादी कर लेगा, मगर उसकी आशा पूरी न हो सकी। गाँव के महाजनों ने उसे पिता का श्राद्ध करने को कहा। मगर शहर में रहने वाला अशोक इस रूढ़ि को मानने को तैयार न था क्योंकि कर्ज लेकर श्राद्ध करना वह उचित न समझता था। मगर महाजनों ने पंचायत बैठा दी। पंचायत में इस नये विचार के अशोक को खूब प्रताड़ित किया गया और उसकी बुरी तरह पिटाई भी कर दी गयी। एक महाजन उससे यह भी स्वीकार करवाना चाह रहा था कि उसके (अशोक के) पिता ने उससे जो कर्ज लिया था, वह बाकी ही रह गया।

अशोक पिटाई खाकर घर लौट आया और दूसरे ही दिन नौकरी पर चला गया। मगर उसे आशंका थी कि कहीं उसकी माँ और बहन के साथ कोई अनहोनी न हो जाय। हुआ भी ऐसा ही। उसकी माँ और बहन के साथ बलात्कार कर महाजन ने उन दोनों की हत्या करवा दी। यह सूचना मिलते ही अशोक शहर से आ गया। उसने खून से लथपथ अपनी माँ और बहन की लाश एक खेत में देखी और वह चुपचाप रात के समय महाजन की कोठरी में पहुँच गया। उसने दीवार पर टँगी महाजन की बन्दूक उठा ली और उसे उन पर तान दिया। महाजन के लाख गिड़गिड़ाने पर भी उसने गोली चलाकर उसकी हत्या कर ही दी। जो कारिन्दे और नौकर-चाकर उन्हें बचाने के लिए वहाँ आये थे, उन सबकी हत्या भी अशोक ने कर दी। उसे लगा जैसे उसने उन सभी दलितों का कर्ज उतार दिया जिसकी इज्जत महाजन लूटता था और उन्हें प्रताड़ित भी करता था। इस कहानी का अंत यहीं हो जाता है।

इस कहानी में दलित-समस्या का बड़ा ही यथार्थ चित्र उकेरा गया है। 'दलित चेतना का इतना आक्रामक और तीखा रूप शायद ही देखने को मिले। इस कहानी द्वारा दलितों को सामाजिक विसंगतियों और दलित-शोषण के विरुद्ध आक्रामक तेवर अपनाने और प्रतिकार लेने की प्रेरणा दी गयी है।'[1]

समकालीन कहानियों में जयप्रकाश कर्दम लिखित 'नोबार' भी एक ऐसी कहानी है जिसमें सामाजिक विसंगतियों पर कटाक्ष किया गया है। एक सवर्ण पिता ने अपनी लड़की की शादी के लिए अखबार में विज्ञप्ति निकलवायी - 'वांटेड ए सूटेवुल ग्रूम फॉर एम.ए., 24/158 सी.एम. व्हीटिश, स्लीम, शार्प फिचर्ड गर्ल .....हाईली एजुकेटेड प्रोग्रेसिव फैमिली, नो कास्ट बार।' यह विज्ञप्ति देखकर एक सुशिक्षित दलित लड़के राजेश को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अपना बायोडाटा लड़की के पिता के पास भेज दिया। एक सप्ताह बाद राजेश को लड़की वाले के यहाँ आने का आमंत्रण मिला। राजेश वहाँ आ पहुँचा। लड़के को लड़की पसन्द आ गयी और लड़की को भी लड़का पसन्द आ गया। मगर शादी होते-होते न हुई क्योंकि लड़की के पिता को एक निम्न जाति के लड़के से अपनी लड़की का विवाह करना उचित न लगा। उन्होंने राजेश से कहा - ".....हम जाति-पाँति नहीं मानते और हमारे 'मैट्रीमोनियल में भी 'नो कास्ट बार' छपा था, फिर भी कुछ चीजें तो देखनी ही पड़ती हैं। आखिर 'नो बार' का यह मतलब तो नहीं कि हम किसी चमार-चूहड़े के साथ.....।'[2] यह सुनते ही राजेश हक्का-बक्का रह गया और वहाँ से चला गया। यहीं यह कहानी समाप्त हो जाती है। इस कहानी में यह बताया गया है कि जाति-व्यवस्था समाज के लिए एक अभिशाप है।

दयानन्द बटोही लिखित 'सुरंग' कहानी में भी दलित-चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। एक दलित छात्र शोधकार्य करना चाहता है, मगर ब्राह्मण जाति के विभागाध्यक्ष डॉ० विष्णु को जब इस बात का पता चल जाता है कि शोधकार्य करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति हरिजन है तो, वे उसे तरह-तरह से बाधा पहुँचाने का काम करते हैं। आखिर यह मामला छात्र-संघ तक और वाइस चांसलर तक पहुँच जाता है। वाइस चांसलर डॉ० विष्णु को लिखते हैं- 'हेड, प्लीज कन्सीडर द केस'। छात्रसंघ के लड़के डॉ० विष्णु का घेराव करते हैं। बड़ी-बड़ी मुश्किल से डॉ० विष्णु जब बाहर आते हैं तो वे उस छात्र का आवेदन स्वीकार लेते हैं। यहीं यह कहानी समाप्त हो जाती है।

इस कहानी में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार दलित छात्र शिक्षण- संस्थानों में भी प्रताड़ित किये जाते हैं और बिना किसी कारण के उन्हें परेशान किया जाता है।

समकालीन कहानियों में ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखित 'जूठन' भी बहुचर्चित कहानी है। यह उनकी आत्मकथा है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार दलित छात्रों के प्रति विद्यालयों में दुर्व्यवहार किया जाता है। वहाँ प्यासे दलित छात्रों को पानी भी नहीं पीने दिया जाता है तथा उन्हें भाँति-भाँति की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। सवर्णों की ही भाँति मुस्लिम लड़के भी उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं। इन अछूतों को बड़े घर में होने वाले उत्सव के अवसर पर जूठन उठाना पड़ता है। सुखदेव सिंह की बेटी के विवाह के अवसर पर लेखक की माँ को जूठन उठाने के क्रम में काफी प्रताड़ना मिली थी। लेखक भी अपनी माँ के साथ वहाँ गया था।

इसी प्रकार, सूरजपाल चौहान लिखित 'तिरस्कृत', ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखित 'शाल का पेड़', प्रह्लाद चन्द्र दास लिखित 'लटकी हुई शर्त', राजेन्द्र यादव लिखित 'दो दिवंगत' आदि कहानियों में भी दलितों की दु:स्थिति का बड़ा ही कारुणिक चित्र उकेरा गया है।

दलित-कहानियों के सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव ने अपनी टिप्पणी दी है - 'भारतीय साहित्य में उपलब्ध अब तक की कहानियों को देखकर यही लगता है कि गरीबी, अशिक्षा, शोषण और वर्ण-व्यवस्था-जनित दंशों को झेलता हुआ दलित-समाज आज भी अपनी उन्हीं समस्याओं से जूझ रहा है। दलित कहानियाँ उन्हीं दु:ख, पीड़ा, आक्रोश और विद्रोह की परिवर्तनकारी अभिव्यक्ति है।'[3]

'शैलेश मटिमानी' ने भी 'गोपुली गफूरन', 'हत्यारे' आदि समकालीन कहानियों में दलित-जीवन की त्रासदी का बड़ा ही सजीव चित्रांकण किया है। उनका कहानी-साहित्य भारतीय समाज के पिछड़े, वंचितों और आर्थिक रूप से विपन्न निम्नवर्गीय जीवन से सम्बद्ध रहा है।[4]

जो भी हो, इतना तो मानना ही होगा कि दलित-कहानियों की अपनी भिन्न ही विशेषताएँ हैं जिनमें दलितों के जीवन की वास्तविकता उभरी है।[5]

इस प्रकार उपरिलिखित तथ्यों से स्पष्ट है कि हिन्दी की समकालीन कहानियों में दलित चेतना की अभिव्यक्ति यथार्थ के धरातल पर हुई है।

संदर्भानुक्रम

1. दलित विमर्श और दलित साहित्य, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर, पृ० सं० 105.
2. हरिनारायण ठाकुर - दलित साहित्य का समाजशास्त्र, प्र० सं० 2009, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली, पृ० सं० 418.
3. सं० एम० फीरोज अहमद - वाङ्मय, दलित विशेषांक अंक, वर्ष - 2, अंक - 8, जनवरी-मार्च 2006, पृ. 131.
4. डॉ० छेदी पासवान - हिन्दी की दलित कहानियाँ: एक सर्वेक्षण, शारदा प्रिंटिंग प्रेस, आगरा, प्र०सं०, पृ०सं० 64.
5. उपरिवत्, पृ० सं० 66.

हिन्दी

उपन्यास 'काला पहाड़' का समीक्षात्मक अनुशीलन

डॉ० नीलम तिवारी

एसोसिएट प्रोफेसर 'हिन्दी', गनपत सहाय पी०जी० कॉलेज, सुलतानपुर, उ०प्र०

'काला पहाड़' (1999) भगवानदास मोरवाल का आंचलिक उपन्यास है इसमें लेखक ने मेवात क्षेत्र में बासे नगीना गाँव में हिंदू और मुस्लिम जाति के लोगों के जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। देश के विभाजन के समय बहुत से मुसलमानों ने मोहम्मद जिन्ना के बहकावे में आकर पाकिस्तान जाने से साफ इन्कार कर दिया था। इन्हीं मुसलमानों के यहाँ बस जाने से मेवात कहलाया और मेवात का यह छोटा सा गाँव या कस्बा नगीना। नगीना में आधे हिंदू तथा आधे मेवों के साथ गाँव/कस्बों की कुछ अन्य जातियाँ भी हैं। जिनके बूते भारतीय समाज का संतुलन आज तक बना हुआ है। इस गाँव में भी कई जातियाँ हैं- दक्षिण पश्चिम में परलीघा के हिस्से में है चौधरी मोहल्ला। दूसरा हिस्सा निचल्लीघां है। चौधरी मोहल्ले में विभाजन के समय पाकिस्तान से आए पंजाबी शरणार्थियों के एकाध घर हैं तो स्थायी बाशिंदे कुम्हारों के कुछ परिवार भी है। इसी चौधरी मोहल्ले में हिंदू नाई का एक घर है। खटिकों का छोटा-सा मोहल्ला भी है। इसी चौधरी मोहल्ले में मेवों के फकीर, कूंजड़ा, कंडेराओं के एकाध घर है। मोहल्ले से सटे हुए अन्य हिन्दू दलित जातियों के घर भी हैं जिन्हें चमरवाड़ा कहा जाता है।

अन्य उपन्यासों की तरह इसमें भी कई वर्गों के लोग निवास करते हैं। उच्च वर्ग में वे लोग आते हैं जो आर्थिक रूप से समृद्ध हैं तथा निम्न वर्ग में वे सभी जातियाँ हैं जो आर्थिक रूप से अत्यंत परेशानी का सामना करती हैं। उच्च वर्ग के लोग इन निम्न वर्ग के लोगों का जीवन जीने में बाध क बने हुए हैं। निम्न वर्ग के लोग अपना जीवन कृषि मजदूरी करके बिता रहे हैं किंतु यहाँ के वे लोग जो सरकार से मिलने वाली सेवा को हथियाने के चक्कर में लगे रहते हैं। यहाँ के उच्च वर्ग में कुछ लोगों के नाम गिनाए जा सकते हैं, मेवों में चौधरी अतर मुहम्मद, चौधरी मुर्शीद अहमद, चौध री करीम हुसैन तथा हिंदुओं में लाला ज्ञानचंद जैन, लाला अभयचंद और विसम्भर सत्यार्थी हैं। निम्नवर्ग में वे लोग हैं जिनमें मनीराम, छोटेलाल, सूरज, बुद्धन, बनवारी, रूमाली, रामदेई, हरदेई तथा मेवों में सलेमी, बाबू खाँ, नबी खाँ, हुसैनदीन, रमजनों, हाकिम वासित, असलम, तरकीला, फजरी, सुलेमान, अशर्फी तथा सुलेमान हैं।

'काला पहाड़' (1999) में नगीनावासी जो हिंदू और मेव कई अरसे से निवास कर रहे हैं, एक संयुक्त परिवार की तरह आपस में प्रेमभाव से रह रहे हैं। यह स्थिति तब लगती है जब माननीय प्रध ानमंत्री महू में अट्ठारह सौ सत्तावन में शहीद हुए दो सौ अट्ठावन बहादुर मेवों की याद में साकरस

चौबीसी के नाम से एक शहीदी मीनार का शिलान्यास करते हैं तब स्थानीय विधायक चौधरी अतर मोहम्मद नगीना के हिंदू और मेवों के संयुक्त परिवार की तरह आपस में रहने की तारीफ करते हुए कहता है, ''हमें अपना या इलाका में बहोत फखर है कि आज तलक यामें कोई फिरकाना फसाद ना हुओ है, सबसू बड़ी बात तो ई है के या इलाका में हिंदू और मेव एक कुणबा की तरह रहता आया हैं .... मजाल है कोई काई की बहाण-बेटी पे आँख तो उठा जाए ....।''[1] अर्थात् हिंदू मुस्लिम के पूर्वज शायद एक ही हो और यह भी कहा जा सकता है कि मेवों के बारह पालों में से पाँच पालों ने जो कि यादवों से ताल्लुक रखते थे, और जो चंदरवंशी कहलाते थे, सैयद सेलार मसूद गाजी के वक्त इस्लाम कुबूल कर लिया था और बाकी के सात पालों ने जो कि सूरजवंशी राजपूतों से ताल्लुक रखते थे बलबन के वक्त इस्लाम कुबूल कर लिया था। इससे पहले कुतुबुद्दीन ऐबक के समय भी बहुत से मेवों ने इस्लाम कुबूल कर लिया था। ऐसा मालूम पड़ता है कि वे मेव जाति के लोग पहले तो हिंदू ही होंगे, किंतु वाह्य, आक्रमणों के कारण इनको अत्यधिक सताया गया होगा और इन्हें जबरदस्ती इस्लाम कुबूल करने को मजबूर किया गया होगा। अत: इन लोगों ने अपने को निर्बल व निराश्रित जानकर इस्लाम स्वीकार किया होगा जिससे वे अत्यधिक परेशानियों के चंगुल में फंसे हुए हैं। इस उपन्यास में जितने भी गरीब हिंदू और मेव जाति के लोग निवास करते हैं, उनके जीवन पर विचार किया जाय तो पूरे कथानक में ये लोग उन अधिकारियों, विधायकों की करतूतों से परेशान दिखाई पड़ते हैं। उपन्यास का प्रमुख पात्र सलेमी जो जीवन भर परेशान ही रहा और उसकी मर्मान्तक पीड़ा यही रही कि इस नगीना गाँव में प्रधानमंत्री द्वारा भाषण के दौरान पाँच माँगे रखी गयी थी, प्रध ानमंत्री ने उन्हें स्वीकार कर लिया था किंतु उन मांगों को कभी पूरा नहीं किया जा सका जिसमें आध ारभूत उद्योग धन्धे, सिंचाई की सुविधा के लिए नहर की व्यवस्था करना, सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र, गरीब जनों को रोजगार दिलाने की बात, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिए रेल सुविध ा आदि किंतु ये मांगे कभी पूरी नहीं हुई जिससे सलेमी मरते दम तक नहीं भूला। यह पीड़ा उसके मुँह से ही निकली, ''....दें ..... देऽऽख हमारी पतंग .... वा .... वाऽ रेल पे बैठ के कैऽऽ से पाकिस्तान लू उड़ी जा रही है .... देख ऊ ..... गॉऽऽधी कैसे वा रेल के पी... पीछे हमारी पतंग ए ए लूटण जारो हैं ....।''[2] गाँव में सरकारी योजनाएँ न होने के कारण गाँव के लोग रोजगार के लिए दिल्ली पलायन करते है। मनीराम का बड़ा लड़का बनवारी जब गाँव को देखता है तो उसे खालीपन दिखाई देता है, वह अपने छोटे भाई यानी छोटका को लेकर दिल्ली चला जाता है। छोटेलाल जब दिल्ली जाने के लिए तैयार होता है तब वह सलेमी से कहता है कि ''ठीक है काका कहा .... एक तो याँ वैसेई पैदा न हो री है ... और जब पैदा-वैदा कुछ होई न री है तो ये बिहा-बरात वाला हमन्ने कहाँ सू देंगा .... काका, पेट तो भरणो है ही, वाके बिना थोड़ेई काम चलोगे ....।''[3] एक हिंदू ध र्म के नाते लेखक ने उपन्यास में मेव समाज को केंद्र में रखा है और मेवों का सामाजिक चित्रण है। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि इसमें अनेक गैर मुस्लिम चरित्रों के कथा-प्रसंग भी हैं जिनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

नगीना शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है यहाँ के शिक्षा के प्रतिशत को देखा जाय तो 4 या 5 प्रतिशत से अधिक नहीं है। हिंदू और मेव शिक्षा से वंचित है जो शिक्षा के लिए साधन नहीं जुटा पाते हैं। सरकार यहाँ के शिक्षा के स्तर को उठाने के लिए अपना पैर पीछे खींचती है। यहाँ एकाध

जो भी पढ़े लिखे हैं वे भी बेरोजगारी की मार खा रहे हैं जैसा कि उपन्यास में आस मोहम्मद नाम का लड़का बी0ए0 पास है, चौधरी करीम हुसैन के यहाँ चिलम भरने का कार्य करता है। चौधरी करीम हुसैन अपनी धाक जमाएँ हुए कहता है कि पढ़े-लिखे लोग बी0ए0 पास हैं उनके यहाँ चिलम रखते हैं। जब आस मोहम्मद को मालूम होता है कि उसे सरकारी नौकरी के लिए नहीं बल्कि गुलामी करवाने के वास्ते रखा गया है तो वह अपने घर भाग जाता है। वह बेरोजगार रहकर ही अपने आप को सुखी महसूस करता है। यह उपन्यास सांप्रदायिकता विरोधी है तभी तो सलेमी जैसा पक्का संप्रदायवाद विरोधी व्यक्ति भी अंत में कहने पर मजबूर होता है, ''मनीराऽऽम .... बावला अब तो पुलऽस औऽऽर सिरकार सऽऽब तिहारी है .... हमारो तो अब हीडडन मैं कुछ भी न है .।''[4] लेकिन यह भी सत्य ही है कि यह तात्कालिक प्रतिक्रिया भर है। यह एक तथ्य है कि मेव इलाके में आज तक एकाध छुट-पुट घटनाओं को छोड़कर सांप्रदायिक दंगा नहीं हुआ है और भविष्य में ऐसी आशंका भी कम है। यह तथ्य उपन्यास में विन्यस्त है और इलाके में स्वयं जाकर देखने पर पता चल जाता है।

मोरवाल 'काला पहाड़' के प्रमुख पात्र सलेमी का परिचय इतनी गहराई से देते हैं जैसे मालूम पड़ता है कि भगवानदास मोरवाल ही सलेमी बन जाते है। सलेमी की बारात से लेकर उसकी मृत्यु पर्यन्त तक सभी परिस्थितियों का वर्णन कर देते हैं। इन्हीं प्रसंगों में लाला नौबतराय की हवेली, चंदू परधान की हवेली, मनोरंजन के संबंध में पतंग उड़ाने का दृश्य तथा मंगतू के हराने का वर्णन तीसरे कथांश में मिल जाता है। उपन्यासकार ने कहीं प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला है। इसी तरह उपन्यास के पात्रों में इलाके के चौधरी अतर मोहम्मद, चौधरी करीम हुसैन, बाबू खाँ, लाला ज्ञानचंद जैन, लाला अभयचंद, विसम्भर शरणार्थी के चरित्रों पर तथा साथ ही प्रधानमंत्री, सरकारी कर्मचारियों में तहसीलदार, गिरदावर पटवारी, कानूनगों आदि के चरित्रों पर प्रकाश डाला है।

'काला पहाड़' में पात्रों की संख्या पर विचार किया जाए तो पात्रों की संख्या लगभग 60 से ऊपर है जिनमें अतर मोहम्मद, करीम हुसैन, सलेमी, असलम, भूराखाँ, तरकीला, मंगतू, शशि बढ़नी, हरदोई, रामदेई, फजरी, हाकिम, रूमाली, सूरज चमार, डॉ0 शफीक, डॉ0 नसीर, कम्पाउंडर बोसा, हुसैनदीन, डॉ0 गोयल, मौलवी अलाउद्दीन, फजरी, हाजी अशरफ, लीला चमार, छुट्टन, रामप्रसाद, जगनी, किसनलाल जाटव, इमरती, मेमन, जो पूरी कथा में अपने-अपने नाटकीय अभिनय की तरह मंच पर आते हैं और कथानक को आगे बढ़ाने में सहयोग करते हैं। यदि उपन्यास में पात्रों की संख्या कम होती तो उपन्यास इतना फैलाव नहीं लेता जितना कि पात्रों की अधिकता से हुआ। मोरवाल जहाँ भी कथा को शुरू करते हैं वहाँ कई-कई पात्र साथ गिना जाते हैं जैसा कि स्पष्ट है, ''मनीराम, हरसाय, रोबड़ा, बुद्धन, नबी खाँ, छोटेलाल, हुसैनदीन, रमजानो, रूमाली, हरदेई, रामदेई, हाकिम, बासित, फजरी कौन नहीं है उसके पास सभी तो है पौली में। पूरा चौधरी मोहल्ला खड़ा है उनके आस-पास।''[5] छोटेलाल एक निडर स्वभाव का पात्र है डर उसके मन में कतई समाया नहीं है।

'काला पहाड़' के शिल्पविधान पर गौर किया जाए तो ऐसा मालूम पड़ता है कि 'मोरवाल' ने खुद घर में बैठकर उपन्यास की रचना न करके बल्कि वहाँ अपने जन्म से लेकर युवावस्था तक नगीना में रहकर और लोगों के बीच जाकर कथानक की रचना की होगी। उपन्यास की मुख्यकथा तो स्वतंत्रता के बाद हिंदू-मुस्लिम संप्रदाय में अलगाव की स्थिति तथा कुछ का देश में रहना तथा संयुक्त समाज में रहना दर्शाया गया है।

आंचलिकता के कारण उपन्यास के संवाद में जो शब्द प्रयोग किये हैं जिससे रोचकता, जीवंतता, पात्रानुकूलता, प्रसंगानुकूलता, चरित्र, भाषा, कथा-विस्तार में सहायक सिद्ध हुए है। सलेमी मृत्यु शय्या पर लेटा है और अकबकाते हुए कुछ कहता है किंतु मोरवाल ने उसके मुख से निकलने वाले संवादों को इस तरह प्रस्तुत किया है संवाद और चरित्र दोनों जीवंत हो उठे हैं:

नबी खाँ ऽऽ .... जुम्मा का ताँगोऽऽ अभी जुड़ो है के नाऽऽ .... अन्याऽऽयी, जल्दी करवा, नहीं तो साऽऽरी पतंग कट जाएँऽऽगी ...।''[6]

दूसरा उदाहरण,

''बाबू जी मैं भलो बूढ़ों आऽदमीऽ .... मेरीऽ बाऽत।''7

× × ×

''और भई गफूर गाँव बस्ती में सब ठीक तो है?''

''हा, यार बनवारी दिनन के देरा है धक्का।''

''इलाका में सब सुख सांति है ?''

''हाँ, अब तो सब ठीक है।''

''और बाकी ..... ?''

''बाकी कहा .... अबके बड़ी छोरी को ब्याह करणो है ... वाई की फिकर भी खाई जा री है।''8 यहाँ संवेदनशीलता, करूणा, भावुकता, चिंतनशीलता का भी दृश्य उपस्थित हो गया है। यथार्थ संवाद का उदाहरण दृष्टव्य है:

''या ढेड के कीड़ा पड़ें ....याको हदीरा बण जाए .... या ये माटी पड़ जाए .... ऐसा मरद् सू तो मैं राँड़ ही भली।''[9]

× × ×

''अब तो राजी है न ढेड, जब सारो गाँओं तोपे थूकेगो ..... मैं तो समझाती-समझाती हारगी पर या निपूता क मगज मैं पतोना कहा फितूर घुसो पड़ो है .... अब तो चलोगे जब गाँवों कहेगो के एक ही पूत ने कुणबा डुबो के धर दियो ....।''[10]

दोनों ही संवाद तरकीला के है जिससे उसके चरित्र, कथा, भाषा, मनोविज्ञान, समाज, संस्कृति, कर्म भाग्य नियति इत्यादि का भी बोध करा रहा है।

'काला पहाड़' उपन्यास की भाषा-शिल्प पर विचार किया जाय तो लेखक ने अपनी ही जन्मभूमि नगीना जो मेवात क्षेत्र का एक छोटा सा गाँव है वहीं के आस-पास की आम बोल-चाल की भाषा का प्रयोग किया है। इसे बोलचाल की भाषा में 'मेवाती' के नाम से जाना जाता है जिससे हिंदी, उर्दू, मिश्रित शब्दों का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ0 हरदेव बाहरी ने अपनी पुस्तक 'हिंदी भाषा' में मेवात बोली के नामकरण पर विचार व्यक्त किया है, ''मेओं जाति के नाम पर मेवात और मेवात क्षेत्र की बोली का नाम मेवाती है।''[11] मेवाती बोली का क्षेत्र बड़ा है। 'काला पहाड़' में मेवाती बोली के साथ-साथ लेखक ने अपनी तरफ से कथा को आगे बढ़ाने तथा समझने के लिए जगह-जगह खडी बोली का प्रयोग किया है जो शुद्ध हिंदी है। उपन्यास के पात्र उर्दू-हिंदी मिश्रित भाषा का प्रयोग करते है। सलेमी की भाषा का उदाहरण:

''अस्सलामु अलैकुम या अहलल कुबूरि अंतुम लना स-स-फुंब व नहत लकुम त-ब-उंव इन्ना इन शाअल्लाहु बिकुम ल-लाहिकून नस् अल्लुल्लाह ल-ना व लुकमुल आफिघ्य-त व याविफसल्ला हुल-ना व लकुम व यर्हमुनल्लाह इय्याना व इय्या कुम।''[12] एक हिंदू धर्म के नाते मोरवाल ने उर्दू का गहन अध्ययन किया जो उनकी रग-रग में समाई हुई है। उनकी हिंदी बोली के शब्द के अंत में 'ण' वर्ण की अधिकता है जो 'न' वर्ण के स्थान पर प्रयोग किया गया है। जैसे- 'पेन्सन' को 'पिलसण'[13], 'बढ़ाने' का 'बढ़ाण'[14], डुबना को 'डुबेणा'[15], 'कुनबा' को 'कुणबा'[16], 'बहन' को 'बहाण'[17], 'बताना' को 'बताण'[18], 'बनवायो' को 'बणवायो'[19], 'दानी-पानी' को 'दाणी-पाणी'[20], कौन को 'कौण'[21], 'मानस' को 'माणस'[22], 'पनहा' को 'पणहा'[23], 'नगीना' को 'नघीणा'[24], कृष्नाबाई को 'कृष्णाबाई'[25], ब्राह्मण को 'बामण', 'बूझने' को बूझण इत्यादि अनेक प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग किया हैं।

भगवानदास मोरवाल ने अंग्रेजी के शब्दों का यथावत् प्रयोग किया है। अर्द्ध सुरक्षाबल के सेनापति का वाक्य प्रस्तुत है, ''बट सर आई थिंक दिस ओल्ड मैन .... डोंट आर्ग्यू .... आबे योअर आफीसर्स ...।''[26] अन्य शब्दों में इलेक्शन[27], वोट[28], चेयरमैन[29], इमोशनल[30], ज्वाइंट[31], एग्जक्टली[32], सेंटीमेंटल[33] इत्यादि हैं।

उपन्यास में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग भी किया गया है। जिन्हें समझने में कठिनाई होती है। लेखक ने उनकी व्याख्या भी करने में कसर नहीं छोड़ी है। 'ठोंडा'[34] इसका अर्थ स्थानीय छुटभैया नेता, 'झप्पू'[35] एक बड़ी पतंग का नाम, 'फेड़ा'[36] सरकंडे का टुकड़ा, 'ओतरी दा छाणा'[37] एक प्यार भरी मुल्तानी गाली, 'पोलका'[38] अर्थात् ब्लाउज, 'मेड़ी'[39] चौबारा या अटारी, 'गलेप'[40] मजार पर चढ़ाई जाने वाली चादर, 'ऊलसेट' किसी भी तरह की अनिष्टता, 'गैलडु'[41] अवैध संतान, 'चाला', गौना इत्यादि हैं।

भगवान दास मोरवाल ने उपन्यास में लोक कहावतों का व मुहावरों का भी प्रयोग किया, जिससे कथा में रोचकता का समावेश हो गया है। उदाहरणार्थ-

पानी फेरना[42], दाँत पीसना[43], हाथ-पाँव फूलना[44], खून का घूँट पीना[45], सिर माथे लेना[46], बगलें झाँकना[47], छाती फूँकना[48], आबरू मिट्टी में मिलाना[49], कानो-कान खबर न लगना[50], आँखों में खून उतरना[51]।

लोक कहावतों में- 'लग जाए तो खाक की, ना लगे तो लाख की।[52]

मलियागर की महक सू, जाणे कितना चँदन हो जाएँ रूख,

एक पूत सपूत सू, सारो कुटम कहावे भूप[53]।

'लावल तेरा देस में, एक बेटी एक बैल

हाथ पकड़ के दीनी, जामे परदेसी के गैल।''[54]

'खेत बिगाड़े खरतवो, सभा बिगाड़े कूढ़'

बिहा बिगाड़े लालची, केसर कर दे धूल।''[55]

'भली कचरिया बोई, तेरी राम-राम भी खोई[56] आदि।

शैली शिल्प की दृष्टि से देखा जाए तो उपन्यास में कई शैलियाँ द्रष्टव्य होती हैं। जैसे कि, व्यंग्यात्मक, संकेतात्मक, चित्रात्मक, मनोरंजनात्मक, नाटकीय इत्यादि। व्यंग्यात्मक शैली का उदाहरण: ''आजादी से लेकर आज तक के पाँच दशकों में यही सब तो देखने-सुनने को मिलता आ रहा है। चुनावों में हर-बार बड़े-बड़े वायदे किए जाते हैं- नहर खुदवाने का वायदा, रेलवे लाइन विछवाने का वायदा, किंतु चुनाव खत्म होते ही नहर और रेलवे लाइन या तो महज कल्पना की सलाइयों में उलझकर रह जाते हैं या फिर बरसात में रेत की गीली देह पर अंगुलियों से उकेरी गई लकीरें, जो धूप लगते ही धूल से फिर दब जाती हैं।''[57] इसी तरह चित्रात्मक शैली की दृष्टि से लेखक उपन्यास में सफल हुआ है।

''चाक पर पानी से लीपकर बनाए गए चौसर हिस्से पर थाली में रखी गीली हल्दी का स्वास्तिक बनाया तथा उसके बाद चाक के चारों तरफ कलावा धागा बाँधकर चाक पूजने की रस्म पूरी कर दी गई।''[58] यहाँ पर 'स्वास्तिक' और 'कलावा', 'गीली हल्दी', 'चाक' शब्दों से चित्रात्मकता का बोध होता है।

नाटकीय शैली के भी प्रसंग आये हैं पतंग उड़ाने के संदर्भ में जब नगीना वालों की पतंग कट जाती है तो साक रस के लोग चंदू परधान की हवेली की छत से एक के बाद एक समवेत स्वर गूँजने लगता है:

''..... बोलो-बोलो नघीणा की फाऽऽट्टी है .....''
''..... नघीणा की माडूर्री है ....।''
''... साकरस ने चों .... है।''[59]

इस तरह 'कालापहाड़' शैली-शिल्प की दृष्टि से भी उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है।

निष्कर्षत: भगवानदास मोरवाल का उपन्यास 'काला पहाड़' औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से सफल है, जहाँ एक ओर आंचलिकता का समावेश है, तो दूसरी ओर शहरीकरण का बढ़ता दबाव, दलितों-पिछड़ों का चित्रण मुस्लिम समाज एवं संस्कृति, लोक संस्कृति, मेवात क्षेत्र में होने वाली सांप्रदायिक राजनीति, कथा-परंपरा का निर्वहन उपन्यास की विशेषताओं को रेखांकित करता हुआ चलता है।

संदर्भ सूची:

1. काला पहाड़: भगवान दास मोरवाल, पृ0 16
2. वही, पृ0 462
3. वही, पृ0 197
4. वही, पृ0 66
5. वही, पृ0 457
6. वही, पृ0 460
7. वही, पृ0 436
8. वही, पृ0 448

9. वही, पृ0 68
10. वही, पृ0 216
11. हिंदी भाषा: डॉ0 हरदेव बाहरी, पृ0 144, संस्करण 2006
12. काला पहाड़: भगवान दास मोरवाल, पृ0 27
13. वही, पृ0 21
14. वही, पृ0 17
15. वही, पृ0 17
16. वही, पृ0 216
17. वही, पृ0 16
18. वही, पृ0 280
19. वही, पृ0 22
20. वही, पृ0 310
21. वही, पृ0 260
22. वही, पृ0 61
23. वही, पृ0 221
24. वही, पृ0 270
25. वही, पृ0 42
26. वही, पृ0 436
27. वही, पृ0 82
28. वही, पृ0 82
29. वही, पृ0 82
30. वही, पृ0 82
31. वही, पृ0 20
32. वही, पृ0 82
33. वही, पृ0 82
34. वही, पृ0 11
35. वही, पृ0 36
36. वही, पृ0 38
37. वही, पृ0 39
38. वही, पृ0 42
39. वही, पृ0 49
40. वही, पृ0 55
41. वही, पृ0 71
42. वही, पृ0 21
43. वही, पृ0 41

44. वही, पृ0 216
45. वही, पृ0 40
46. वही, पृ0 64
47. वही, पृ0 208
48. वही, पृ0 216
49. वही, पृ0 63
50. वही, पृ0 284
51. वही, पृ0 422
52. वही, पृ0 217
53. वही, पृ0 61
54. वही, पृ0 236
55. वही, पृ0 355
56. वही, पृ0 393
57. वही, पृ0 159
58. वही, पृ0 118
59. वही, पृ0 118

संस्कृत

सीताचरित एवं मानवाधिकारः एक समीक्षण

डॉ० प्रसून दत्त सिंह

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जमशेदपुर वर्कर्स, कॉलेज, जमशेदपुर

इतिहास, पुराण, चतुर्विंशतिसाहस्रीसंहिता, वाल्मीकि-रामायण, रामचरितमानस एवं समस्त जम्बूद्वीप में नाना. विधाओं, भाषाओं, देशों, द्वीपों में प्रसृत, भारत के प्रत्येक धर्मावलम्बी बाल, युवा, वृद्ध (नर-नारी) सभी के अन्तर्मन में बसीं, विदेहराज जनकनन्दिनी, मिथिलानरेश की पुत्री, सूर्यवंशी (रघुवंशी) अयोध्यानरेश की पुत्रवधू, राजाराम की राजमहिषी, राम की अनन्या धर्मपत्नी, अनिन्द्य सुन्दरी, अवनिसुता, पतिव्रता, पतिपरायणा, धर्मपरायणा, परमपावनी, वत्सला, आदर्शपुत्री, पत्नी, वधू, माँ, सीता समस्त आर्यावर्त की सर्वोत्कृष्ट स्त्रीरत्न हैं। लेकिन उनकी उत्पति' (कठोर तप एवं हल द्वारा धरती को जोतने से उत्पति), शिवधनुष भङ्ग होने पर विवाह, विवाहोपरान्त 14 वर्ष का वनवास, रावण द्वारा अपहरण, पौलस्त्य गृह में निवास, अग्नि परीक्षा, राम द्वारा पुनर्वनवास (परित्याग), धरती में समाहित होना जिसके भाग्य के विपरिणाम में हर्ष एवं विषाद का विचित्र समन्वय है। पतिपरायणा, पतिव्रता, परमपवित्र सीता का राम द्वारा निर्वासन इतना क्रूर एवं हृदयविदारक है कि सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी उसके निर्वासन का प्रश्न सदा अन्तर्मन को व्यथित करता है। एतद् विषयक जिज्ञासाएँ हमें अधुनातन शूल बनकर शालती हैं, बनकर वेधती हैं। हमें गैर संस्कृतिवादियों के प्रश्न व्यूहों में ला खड़ा करती है। नारीवादी चिन्तकों के चिन्तन शरों को उद्वेलित करती हैं। स्मृतियों में प्रतिपादित 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' प्रभृति उक्तियों की चरितार्थता को असिद्ध करती हैं। हर बृद्धिजीवी के मस्तिष्क में प्रश्नचिह्न उभरता है। दार्शनिकों, चिन्तकों, मनीषियों, साधु-संतों, रामकथानुरागियों, धर्मानुरागियों, रामकथा प्रवाचकों द्वारा नाना तर्क समुपस्थापित (उपस्थित) किए जाते हैं। इन सबका एक ही कारण है रामकथा के सम्यक् अध्ययन का अभाव। भारतीय ऐतिह्य में इस चिन्तनीय, अन्वेष्षणीय एवं अनुत्तरीय प्रसंगों का विवेचन ऐतिह्यविद् विद्वज्जन करते रहे हैं। फादर कामिल बुल्के ने अपनी पुस्तक 'रामकथा' में सीता निर्वासन पर पर्याप्त पुष्ट गवेषणात्क समाधान प्रस्तुत किया है[1]।

19 वीं शताब्दी में अभिराज राजेन्द्रमिश्र ने अपने 'जानकीजीवनम्' महाकाव्य की भूमिका में सीतानिर्वासन पर उठे अनुत्तरित प्रश्नों का समाधान अपने प्रज्ञाचक्षुओं से किया है। हम देखते हैं कि हर युग उत्कर्ष एवं अपकर्ष की धाराद्वय में गतिमान रहता है। हर युग के उत्तमोत्तम प्रकल्प का यशोगान और गर्हित प्रकल्प पर पर्यालोचन युग-युगान्तरों तक किया जाता है। रामायण युग का गर्हित प्रकल्प (प्रकरण) है राम द्वारा सीता का निर्वासन। यद्यपि राम द्वारा कृत्य किसी मंशा विशेष से नहीं अपितु लोकानुरञ्जनार्थ किया गया फिर भी इस लोकधर्म की रक्षा में सीता के मानवाधिकारों

(मानवता) का स्पष्टत: उल्लंघन हुआ है। रामायण भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल ग्रन्थ है और इसकी समुज्ज्वलता (पवित्रता) की धात्री सीता और समुज्ज्वलता के पुंज श्रीराम हैं। रामायण में सीता वनवास के द्वय प्रसंगों में प्रथमत: है। नृप दशरथ द्वारा राम को 14 वर्ष का वनवास दिया जाना। द्वितीयत: रघुवंश भानु राम की प्राणवल्लभा को प्राणवल्लभ द्वारा पुनर्वनवास (परित्याग) कराना। प्रथम घटनाक्रम में प्राणवल्लभ श्रीराम की सहचरीभूता वैदेही ने पतिव्रत के रक्षार्थ एवं प्रेम की अनन्यता के वशीभूत हो 14 वर्ष तक वन में रहना स्वीकार किया। इस प्रसंग में सीता ने स्वेच्छा से अपने अधिकारों का उत्सर्ग कर प्रभु श्रीराम के सान्निध्य में रहकर पात्यव्रत धर्म का निर्वाह किया इसलिए मानवाधिकारों के उल्लंघन का प्रश्न इस प्रसंग में उपस्थित नहीं होता है। लेकिन वनवास काल में त्रिलोकवन्दित रावण द्वारा सीता का हरण करने से उनके गरिमायुक्त जीवन जीने के अधिकार का हनन हुआ है। सीता अपहरण के पीछे दैव का विधान था। अन्तत: सत्य, धर्म और मानवता की विजय हुई, किन्तु द्वितीय घटनाक्रम में रावण पर विजय प्राप्त्युपरान्त सीता ने अग्नि परीक्षा में विशुद्धस्वर्ण की भाँति निकष पर उत्तीर्ण होकर राजमहल में प्रवेश किया और राम के राज्याभिषेक के पश्चात् राजमहिषी के महनीय पद पर सुशोभित हुई, तभी दैवयोग्यवशात् भक्त के मुख से सीताविषयक लोकापवाद को सुनकर राम ने वैदेही की सहमति के बिना ही (वैदेही को बिना बताए ही) पुन: वन में निर्वासित कर दिया। वैदेही के निर्वासन का यह प्रसंग सदैव मन को आन्दोलित करता है, अन्तर्मन को उद्वेलित करता है। स्त्री अस्मिता के अनेक प्रश्नों को खड़ा करता है। स्वमन में भी नारी अस्मिता (अस्तित्व) के अनेक प्रश्न कौंधते हैं। सीता के प्रति हुए अन्याय व अधर्म ने नारी अस्मिता को घर्षित किया है।

राम द्वारा निर्वासन प्रसंग पर प्रश्न उपस्थित होता है कि सीताविषयक लोकापवाद की बात समाज में नि:सृत हुई और भक्त ने राजसभा में राम के समक्ष लोकापवाद के रूप में प्रसूत वाणी को सुनाया–

हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघव:।
अमर्ष पृष्ठत: कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत्।
कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम।।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम।।
लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम।
रक्षसां वशमापन्नां कथां रामो नकुत्स्यति।।
अस्माकमपि दारेश सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरूते राजा प्रजास्तननुवर्तते[2]।।

राम ने तत्काल ही भाईयों से लोकापवादविषयक निन्दित कर्म पर मंत्रणा की, किन्तु कुलगुरू वसिष्ठ, माताओं की सम्मति लिए वगैर ही सीता को वन में निर्वासित करने का आदेश लक्ष्मण को दे दिया। राम का कथन है–

तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरूस्व वचनं मम।
न चास्मि प्रतिवक्तव्य: सीतां प्रति कथंचन[3]।।

राम ने सीता को निर्वासन देकर (राज्य से निष्कासित कर) उसके साम्राज्ञी होने के अधिकारों की अवहेलना की। उसके गरिमा युक्त जीवन जीने के अधिकारों का हनन किया।

यद्यपि तत्कालीन युग में मानवाधिकारों की कोई अवधारणा नहीं थीं, किन्तु तद्युगीन सामाजिक व्यवस्था में यह मानव धर्म का उल्लंघन है। वस्तुतः मानवधर्म ही मानवधिकारों की अवधारणा का प्रतिश्रुत है। प्राचीन भारतीय साहित्येतिहास में, नीतिग्रन्थों एवं धर्मग्रन्थों में नीति-अनीति, शान्ति-अशान्ति, पाप-पुण्य, कल्याण-अकल्याण, उपकार-अपकार, हित-अहित, नैतिकता-अनैतिकता आदि आध्यात्मिक भावनाओं के साथ ही मानवाधिकार मानव धर्म के रूप में हमारी सामजिक राजतंत्रीय व्यवस्था में आचरित होते रहे हैं। ये मानवधर्म ही आधुनिक शब्दावली में आधुनिक परिदृश्य के अनुरूप समग्र विश्व के परिप्रेक्ष्य में सार्वभौमिक मानवाधिकार घोषणा पत्र के रूप में निष्पादित (निर्मित) किए गए हैं।

राम द्वारा निर्वासित सीता को महर्षि वाल्मीकि संरक्षण प्रदान करते हैं। सीता को संरक्षण देकर वाल्मीकि ने सीता के जीवन जीने के मानवाधिकारों की ही रक्षा नहीं की बल्कि राम के वंशवृक्ष की भी रक्षा की। महर्षि का कथन अवलोकनीय है-

स्नुषा दशरथस्यैषा जनकस्य सुता सती।
अपापा पतिना त्यक्ता परिपाल्या मया सदा।।
इमां भवत्यः पाश्यन्तु स्नेहेन परमेण हि।
गौरवान्मय वाक्याच पूज्या वोऽस्तु विशेषतः[4]।।

वाल्मीकि के संरक्षण एवं सुरक्षा के मध्य सीता ने रघुवंश की भावी सन्ततियों को जन्म दिया। मानवघर्म, मानवता का ऐसा उदाहरण आर्यावर्त में ऋषियों, मुनियों की तपोभूमि में ही सम्भव हुआ। सीता को बिना किसी पूर्व सूचना के, बिना उनसे सहमति लिए राजमहल से निर्वासित कर देने में मानवधर्म, मानवता का स्पष्टतः उल्लंघन हुआ है। राजमहिशी के अस्मिता, उसके अधिकारों की अवहेलना हुई है। यद्यपि राम ने भाईयों से सीता के पवित्र होने के सन्दर्भ में प्रमाणयुक्त वचनों को कहने के उपरान्त भी प्रत्युत्तर दिया-

अप्यहं जीवितं यां युष्मान् वा पुरूषर्षभाः।
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्[5]।।

यद्यपि रघुवंश राम शोक में निमग्न थे तथापि उन्होंने लक्ष्मण को निर्देश दिया कि इस सम्बन्ध में सीता के प्रति कुछ भी श्रवण करना नहीं चाहता हूँ। तुम इस विषय में सोच-विचार न करो। यदि तुमने मेरे निश्चय में किसी भी प्रकार विघ्न डाला तो हमें महान कष्ट होगा। राम की उक्ति है-

तस्मात् त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते।।

उन्होंने लक्ष्मण को शपथ दिलायी कि तुम मेरे निर्णय के विरूद्ध कुछ नहीं कहोगे। यदि मेरे कथन के बीच में कूदकर किसी प्रकार मुझसे अनुनय विनय करने के लिए कहोगे तो मेरे अभीष्ट कार्य में बाधा डालने के कारण सदा के लिए मेरे शत्रु होंगे। यदि तुम लोग मेरा सम्मान करते हो और मेरी आज्ञा में रहना चाहते हो तो अब सीता को यहाँ से वन में ले जाओ। मेरी इस आज्ञा का पालन करो-

शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतं कथंचन।।
अहिता नाम ते नित्य मदभीष्टविघातनात्।
मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिता।।
इतोऽथ नीयतां सीता कुरूश्व वचनं मम।

इस प्रसंग में जो तर्क मेरी समझ में आता है कि राजतंत्र में राजाज्ञा सर्वोच्च होती थी। इसलिए राम की कठोर आज्ञा एवं कड़े निर्देश के समक्ष भ्रातागण कुछ भी कहने का साहस नहीं जुटा सके। राम का राज्य हर दृष्टि से पूर्ण मर्यादित था। बड़ों की आज्ञा का पालन करना तद्युगीन व्यवस्था में जीवन-मूल्य था। सभी राम से कनिष्ठ थे इसलिए उनके निर्णय के आगे सभी ने चुप्पी साध ली।

एक प्रश्न इस सन्दर्भ में और उपस्थित होता है कि राम ने माताओं और कुलगुरू वसिष्ठ से इस मिथ्याकलंक युक्त लोकापवाद पर मंत्रणा क्यो नहीं की? उनकी सम्मति को क्यों नहीं लिया? इस विषय में मेरी अल्पबुद्धि में जो उत्तर समझ में आता है वह यह है कि प्रभु श्रीराम माताओं और कुलगुरू वसिष्ठ के सम्मुख इन मृशा कलंकयुक्त दुर्धर्ष वचनावलियों को कहने के औचित्य पर विचार ही न कर सके हों और राजधर्म एवं लोकधर्म के तुमुल द्वन्द्व की स्थिति में तात्कालिक निर्णय लेकर लोकधर्मरक्षार्थ लक्ष्मण से सीता को वन में छोड़ आने का आदेश दिया हो। यद्यपि समग्र उत्तरकाण्ड में वाल्मीकि ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है। चूँकि भाईयों को राम ने शपथ दिलायी थी इसलिए वे इस कुकृत्य की चर्चा माताओं और कुलगुरू वसिष्ठ से नहीं कर सकें। निर्वासन की घटना राम और सीता दोनों को ही विशण्ण, विशीर्ण, विदीर्ण एवं विपन्न करने वाले महाप्लावन के समान थी।

इसके साथ ही रामायण के पूरे उत्तरकाण्ड में माताओं और कुलगुरू वसिष्ठ के द्वारा इस निष्पाप, कलंकरहित लोकापवाद पर अथवा राम के विरूद्ध किसी भी विक्रिय (प्रतिक्रिया) की अभिव्यक्ति नहीं की गयी है, जबकि तत्कालीन समाज में माता और गुरू का स्थान सर्वोच्च था। राम ने माताओं और गुरूओं से सहमति व अनुमति क्यों नहीं ली? सीता से प्रत्यक्षतः लोकापवाद पर संवाद क्यों नहीं किया? हो सकता था कि सीता लोकापवादविषयक निन्दा को श्रवण कर राजधर्म एवं लोकधर्मरक्षार्थ स्वयं ही वन जाने के लिए उद्यत हो जाती। जैसा कि महामहोपाध्याय रेवाप्रसादद्विवेदी ने अपने महाकाव्य उत्तरसीताचरितम् में दर्शाया है। महाकाव्य में लोकापवादविषयक निन्दा को सुनकर सीता स्वयमेव वन जाने के लिए तैयार हो जाती हैं-

यामि मातर इतः स्वतस्ततो यामि, यामि विपिनं न मे व्यथा।
कीर्तिकायमवितुं सुमानुशा मृत्यतोऽपि न हि जातु बिभ्यति[6]।।

महाकवि अभिराजराजेन्द्रमिश्र ने भी अपने जानकीजीवनम् महाकाव्य में सीता का निर्वासन नहीं कराया है, बल्कि लोकापवाद का उपशमन समग्र प्रजा के समक्ष लोकमत से कराया गया है-

न दण्डनीया रजकापवादात् च चापि पत्युः परूशाधिकारात्।
मतैः प्रजानामिह सांसदीनां निर्णेश्यते भाग्यमथो महिश्याः[7]।।

इस प्रकार इस संक्षिप्त समीक्षण में जहाँ एक तरु श्रीराम के लोकानुरंजक धर्म की अतिशय महत्ता प्रतिपादित होती है, वहीं दूसरी तरफ सीता के मानवाधिकारों का उल्लंघन भी प्रतिपादित होता है। वह महारानी पद पर सुशोभित होकर गरिमा युक्त जीवनयापन नहीं कर सकीं। मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय घोषणा पत्र में मानव समाज के हर प्राणी को गरिमायुक्त जीवनयापन के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और नागरिक अधिकारों का समावेश किया गया है।

यद्यपि रामायण काल का घोशणा पत्र से कोई तारतम्य नहीं है, लेकिन राम का राज्य ही घोषणा पत्र का अन्यतम रूप था। इस दृष्टि से सीता रामकथा में महारानी पद की आसन्दी पर कभी भी आसीन न हो सकी जो कि उसका अधिकार था। महीयसी के पद व अधिकारों का हनन हुआ जो कि तद्युगीन व्यवस्था में भी धर्मसंगत च न्यायसंगत नहीं था।

सीता दु:ख, पीड़ा, शोक एवं विपत्तियों के विशाल सागर में निमग्न होने पर भी स्वयं को, अपने भाग्य को कोसा है (दोष दिया है)। उनकी आत्मिक अभिव्यक्ति है–

मामिकेयं तनुर्नूनं सृष्टा दु:खाय लक्ष्मण।
धात्रा यस्यास्तथा मेऽद्य दु:खमूर्ति: प्रदृश्यते।।
किं नु पापं कृतं पूर्व को वा दारैर्वियोजित:।
याहं शुद्धसमाचारा त्यक्ता नृपतिना सती।।
पुराहमाश्रमे वासं रामपादानुवर्तिनी।
अनुरूध्यपि सौमित्रे दु:खे च परिवर्तिनी[8]।।

सीता ने आकण्ठ दु:ख में सराबोर (निमग्न) होने पर भी सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड में राम के लिए एक भी अपशब्दों अथवा कटुवचनों का प्रयोग नहीं किया है बल्कि उनके अवनमित करूणालसित वचन पतिव्रता धर्म से युक्त जो अनुकरणीय एवं समर्चनीय हैं–

अहं त्यक्ता ते वीर अयशो भीरूणा जने।
यच्च ते वचनीयं स्यादपवाद: समुपस्थित:।।
मया च परिहर्तव्यं त्वं हि मे परमा गति:।
यथापवदं पौराणां तथैव रघुनन्दन।।
पतिर्हि देवता नार्या: पतिर्बन्धु: पतिर्गुरू:।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद भर्तु: कार्यं विशेषत:[9]।।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि सीता के अपहरण तथा उसके निर्वासन में पूर्णतया मानव धर्म का, आधुनिक शब्दावली में मानवधिकारों का उल्लंघन हुआ है, लेकिन पूरे रामायण मे सीता द्वारा इस कृत्य के प्रति कहीं भी विक्षोभन या आक्षेप श्रीराम के प्रति प्रकट नहीं किया गया है। राम के प्रति अश्रद्धा या अविश्वास के उद्गार उनके मुख से प्रकट नहीं होते हैं। सीता के चरित्र के समक्ष मानवधिकारों की आधुनिक अवधारणा का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि सीता के उदात्त चरित्र ने मानवाधिकार की परिस्थिति को भी त्याग और उदात्तता एवं सदाशयता में बदल दिया है।

सन्दर्भ-सूची

1. रामकथा, फादर कामिल बुल्के, पृ. 298.302
2. वा.रा. उत्तरकाण्ड-43.16.17.18.19
3. तत्रैव-45.18.19
4. वा.रा. उत्तरकाण्ड-49.21.22
5. तत्रैव-45.14
6. उत्तरसीताचरितम्, रेवाप्रसाद द्विवेदी-3.31।
7. जानकीजीवनम्, अभिराजराजेन्द्र मिश्र-18.69।
8. वा.रा. उत्तरकाण्ड-48.3,4,5।
9. वा.रा., उत्तरकाण्ड-48.13,14,17।

संस्कृत

भासविरचित प्रतिमानाटके रसाणां समीक्षा

डॉ० राजवीर शास्त्री

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, देशबन्धु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

संस्कृतरुपकवाङ्मये भासस्य प्रमुखस्थानं विधत्ते इति नास्ति सन्देहः। वाङ्मयदेवतायाः मुखे भासमाना दरहासचन्द्रिका एव भासमहाकविः इति सर्वे कीर्त्तयन्ति। तस्मादेव 'भासो हासः कविकुलगुरुकालिदासो विलासः' इति स्तूयते। तेषां वर्णनेषु वास्तविकता परिलक्ष्यते। नाटकलक्षणानां प्रयोगः पात्रचित्रणस्य वैचित्र्यशैल्यां स्पष्टता मृदुता अलङ्काररसप्रयोगेषु वास्तविकसौन्दर्याणि दृश्यन्ते। महाकविभासस्य त्रयोदशरूपकाणि प्रसिद्धानि इति संस्कृतवाङ्मयतः ज्ञायते। तानि रूपकाणि प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, अविमारकं, प्रतिमानाटकम्, अभिषेकनाटकं, मध्यमव्योगः, पञ्चरात्रं, दूतवाक्यं, दूतघटोत्कचं, कर्णभारः, उरूभङ्गं, बालचरितं, दरिद्रचारूदत्तम् इत्यादीनि।

रसाः नाटकस्य रूपकस्य वा प्राणभूताः भवन्ति। काव्यप्रकाशे आचार्यमम्मटेन रसस्य स्वरूपप्रसङ्गे अवादीत्-

कारणान्यथ कार्यणि सहकारीणि यानि च
रत्यादेः स्थायिनी लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावानुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः
व्यक्तः सः तै विभावाद्यैस्थायिभावः रसः स्मृतः।।[1]

साहित्यदर्पणकारः विश्वनाथोऽपि आह। यत्-

विभावेनाऽनुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा
रसतामेति रत्यादेः स्थायिभावः स चेतसाम्।।[2]

लौकिकव्यवहारे भोजनस्य कटुकषायतिक्तादिलौकिकरसवन्नाटकस्यापि रत्यादिस्थायीभावाः रसाः इति भरतवचनेन ज्ञायते। अतः नाट्यशास्त्रे षष्ठाऽध्याये रसविषये इत्थमगादि-

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।[3]

मम्मटाचार्योऽपि 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इति उद्घोषयन् काव्यप्रकाशस्य चतुर्थोल्लासे 'निर्वेदोस्थायिभावोस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः' इति उपसजहारः। जगन्नाथः रसगङ्गाधरे शान्तरसं स्वीकुर्वाण नवमं खण्डनावसरे रत्नाकरः हरविजये आह-

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात्।

अष्टावेव रसाः काव्ये न शान्तस्तत्र युज्यते।।[4]

अन्ये अष्टरसाः काव्येषु नाटकेषु च प्रयुज्यन्ते इति कथयन्ति। भोजराजः सरस्वतीकण्ठाभरणे वत्सलोऽपि एकः रसः सुधीभिः स्वीक्रियन्ते इति ब्रूते। रूपगोस्वामी 'भक्तिम्' अपि रसत्वेन स्वीकरोति। एवं वस्तुस्थितौ नवरसाः एव प्रामुख्येन स्वीक्रियन्ते। नाटके रसाः एव जीवभूताः सन्तः सहृदयान् आह्लादयति रोमाञ्चयति च। रसस्य प्राधान्यं नाटके नूनं वर्त्तते इति अनुभवैकवेद्यं भवति। तदर्थमुच्यते- 'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[5] इति भरतमुनिः सोत्कर्षं निगदते। यद्रसः एव परमोत्कृष्टतया आस्वाद्यते। प्रतिमानाटके स्थितरसान् आलोच्यते।

प्रतिमानाटके स्थितरसाणां वर्णनम्

परिहासचेष्टितविभावको हास्यः यथा- सीतायाः सखी अवदातिका नेपथ्यमालिनी मार्यरेवां निवृत्तरङ्गप्रयोजनमशोकवृक्षस्यैकं किसलयमभ्यर्थितवती। न च तया किसलयं दत्तम्। ततोऽवदातिका रेवां परिहसितुं वल्कलमेकपहृत्य सीतासकाशमागतवती। सीता तु 'परिहासाय खलु मयैतदानीयम्' इत्यवदातिकया कथ्यमानापि 'उन्मत्तिके! एवं दोषो वर्धते। गच्छ, निर्यातय, निर्यातय' इत्यवदातिकां न्यवारयत्। अत्र अवदातिकायाः वल्कलापहरणरूपा परिहासात्मिका क्रिया हास्यमभिव्यञ्जयतीति **हास्योऽन्नाङ्गिकः।**

वाचिको हास्यः यथा सीता अवदातिकया समानीतं वल्कलं गृहीत्वा अलङ्कृत्य 'हला! पश्य किमिदानीं शोभते' इति सख्यावपृच्छेत्। ततोऽवदातिका हर्षं प्रकटयन्ती 'तव खलु शोभते नामा सौवर्णिकामिव वल्कलं संवृत्तम्' इति सीतामवोचत्। सीतया पुनः पृष्टाऽपरा चेटी स्वपुलकं दर्शयन्तीति नास्ति वाचा प्रयोजनम्'। इमानि प्रहृषितानि तनूरुहाणि मन्त्रयते इति सीतामवदत्। अत्र सीतायाश्शरीरच्छायया वल्कलमपि सुवर्णच्छायं संवृत्तमिति, वल्कलालङ्कृत सीतासौन्दर्यदर्शनेन हर्षातिरेकान् पुलकोद्गमस्सञ्जात इति च सखीभ्यां सीता सातिशयं प्रशंसितेति अतिशयोक्तिमूलको वाचिको **ललितो हास्योऽभिव्यज्यते।**

शोकभावाङ्गभूतोऽपहासः यथा सीताऽपहरणसन्दर्भे सरोषया 'शप्तोऽसि' इत्युक्तो रावणः-

हहहा अहो पतिव्रतायास्तेजः-

योऽहमुत्पतितो वेगान्न दग्धः सूर्यरश्मिभिः।

अस्याः परिमितैर्दग्धः शप्तोऽसीत्येभिरक्षरैः।।[6]

इति रावणः सीतामपहसितवान्। आत्मोत्कर्षप्रकट्यन अन्याधिक्षेपमूलोऽपहासो अद्यप्यत्रोपलभ्यते, तथाऽयुसहायायास्सीतायाः अपहरणं शोकमेव प्रधानतया जनयतीति हासस्यात्र शोकभावाङ्गत्वमेव न तु हास्यात्मकता सिद्ध्यति। इत्थं प्रतिमानाटके बहुषु सन्दर्भेषु हास्यरस दरीदृश्यते।

प्रतिमानाटकेऽद्भुतरसः यथा प्रतिमानाटके रामस्य लोकोत्तरधैर्यपराक्रमयोर्वर्णने च अद्भुतरसः गुम्फितः महाकविना भासेन। लोकोत्तरधैर्यदर्शनजोऽद्भुतस्य उदाहृतपद्यं यथा-

आरब्धे पटहे स्थिते गुरुजने भद्रासने लङ्घिते

स्कन्धोच्चारण नम्यमान् वदन प्रच्योति तोयो घटे।

राज्ञाहूय विसर्जिते मयि जनो धैर्येण से विस्मितः
स्वः पुत्रः कुरुते पितुर्यदि वचः कस्तत्र भो विस्मयः।।[7]

इति सम्भावयन् रामस्सीतामुपगतवान्। साऽपि रामसुखाद्वृत्तान्तमिमं निशम्य **'प्रियं मे, महाराज! एवं महाराज! आर्यपुत्र एवम् आर्यपुत्र!**[8] इतिराममवदत्। अत्राभिषेकायाहूतस्य मन्थराचोदितेन दशरथेन विसर्जितस्य च रामस्य समदुःखसुखात्मिका स्थितिस्तस्य लोकोत्तरं धैर्यं प्रकाश्य अद्भुतमभिव्यनक्ति। सीतया अभिनन्दनमपि तस्याः धैर्यं प्रकटयति। अत्र च अद्भुतो धर्मवीरस्य वर्णनं प्राप्यते। सः च 'धर्मवीरः' वीरस्य चतुर्भेदेषु एकः भेदः। लोकोत्तरबलवीर्यादिदर्शनसम्भवोद्भुतस्य दृष्टान्तं प्रददाति भासः। परिव्राजकवेषधारी रावणश्राद्धाय काञ्चनपार्श्वाख्यो मृगः प्रशस्त इति रामं व्यलोभयत्। ततः धनुरारोप्य मृगमनुसरन्तं रामं दृष्ट्वा रावणः अगादीत् यत्-

अहो बलमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो जवः।
राम इत्याक्षरैरल्पैः स्थाने व्याप्तमिदं जगत्।।[9]

इति विस्मितोऽभवत्। अत्र शत्रुणापि प्रशंसिताः रामस्य बलवीर्य सत्वजवाः लोकोत्तरास्सन्तोऽद्भुत-रसमभिव्यञ्जयति। सोऽपि वीराङ्गं भवति। एवं प्रकारेण अद्भुतरसस्य प्रयोगः नाटकेऽस्मिन् अनेकेषु प्रसङ्गेषु संदृश्यते।

प्रतिमानाटके करुणरसः- भासेन प्रतिमानाटकेऽतर्कितोपनतेन वनविवासनात्मकेन रामस्य व्यसनेन सञ्जातो दशरथाद्याश्रयश्शोकः करुणाभिव्यञ्जकतया साधु समुपवर्णितः। प्रियजनव्यसन सम्भवकरुणस्य उदाहरणं प्रयच्छं भासः। यथा-रामस्य विवासनावृत्तान्तमाकर्ण्य पौराश्शोकाकुलास्सन्तो बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैस्सीता रामावनुसस्रुः। रामोऽपि पौराणां व्यथां विज्ञाय सीतामवगुण्ठनापनयनं कर्त्तुमारब्ध **''निर्दोष दृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च''**[10] इति पौरान् समाश्वासयामास। रामस्य निर्गमनेन न केवलं पौरास्सर्वाप्ययोध्या शून्येव शोकाकुलेव च संलक्ष्यते। नागेन्द्रायवसाभिलाषविमुखास्सञ्जाताः। वाजिनस्सास्रेक्षणा हेषाशून्यमुखांश्च दृश्यन्ते। **संवृद्धवनिता बालाः पौरा जनस्त्यक्ताहारकथास्सन्तो दीनैर्वदनैः क्रन्दन्तो रामनिर्गमनाशां केवलं पश्यन्ति।**[11]

पितृमरणभातृव्यसनालम्बनकः करुणरस पोषयित्वा भणति यत् पितरं व्याधिं 'पीडितं निशम्य' भरतस्तैस्तैरशुभैर्निमित्तैर्व्याकुलोऽयोध्यासमीपमाजगाम। उपाध्यायादेशाद्भुरतो तत्रस्थे देवकुले क्षणं श्रमपनेतुं निर्जगाम। तत्रस्थे प्रतिमागृहे रघुप्रभृतीनां चित्रैस्सह सन्निविष्टं दशरथस्य चित्रपटं विलोक्य 'देवकुलिकेन निवेदितवृत्तान्तो भरतः' पितुर्मरणेन, भ्रातुर्वनगमनेन चात्यन्तं व्यथितोऽभवत्-

अयशसि यदि लोभः कीर्त्तयित्वा किमस्मान्
किमु नृपफलतर्षः किं नरेन्द्रो न दद्यात्।
अथ तु नृपतिमातेत्येष शब्दस्तवेष्टो
वदतु भवति सत्यं किं तवार्यो न पुत्रः।।[12]

इति भरतकृते कैकेयी निर्भर्त्सने, क्रोधरूपेण परिणतो भरतस्य गाढश्शोकावेग एव व्यक्तौ भवति। **अन्ततो भरतस्स्वमातुर्बज्रकठिनहृदयतां विनिन्द्य, रामाऽवियुक्त एव दोशोऽयोध्या भवतीति निश्चित्य**

रामसकाशं गन्तुं निश्चीकरोति।[13] अत्र पितृस्मरणेन, भातृव्यसनेन च निष्पन्नो भरतस्य शोकोऽयोगजं करुणं प्रकटयति। यथा–

फलानि दृष्ट्वादर्भेषु स्वहस्तरचितानि नः।
स्मारितो वनवासञ्च तातस्तत्रापि रोदिति।।[14]

इत्यादि रामवचनानि सीतारक्षणव्यग्रस्य जटायुषो विपत्ति[15]श्चायोगजं करुणं प्रकाशयति।

प्रतिमानाटकरसेषु भासनाटकस्य विचारशीलविदुषां मतभेदः परिदृश्यते। केचन आमनन्ति प्रतिमानाटकस्य मुख्यरसः वीरः यः धर्मवीरः इति प्रोच्यते। परन्तु केचन प्रतिमानाटकस्य मुख्यरसः (अङ्गीरसः) करुण इति मन्वते। सीतारामयोः वल्कलेन साकं मनोविनोदः प्रथमोऽङ्के एवमुपस्थापितम्–

आदर्शे वल्कलानीव किमेते सूर्यरश्मथः।
हसितेन परिज्ञातं क्रीडेयं नियमस्पृहा।।[16]

एवञ्च लक्ष्मणस्य क्रोधः अपि तत्र वर्ण्यते। तद्यथा–

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मादया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते।
अथ न रुचिंत मुञ्चत्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं कर्तुं यतश्छलिता वयम्।।[17]

भरतस्य स्वजनदर्शनस्य उत्सुकताविषये भासेन प्रत्यपादि यत्–

प्रतितमिव शिरः पितुः पादयोः स्निह्यतेवास्मि राज्ञा समुत्थापितः
त्वरितमुपगता इव भ्रातरः कलेदयन्तीव मामश्रुभिर्मातरः।
सदृश इति महानिति व्यायतश्चेति भृत्यैरिवाहं स्तुतः सेवया
परिहसितमिवात्मनस्तत्र पश्यामि वेषं च भाषां च सौमित्रिणा।[18]

प्रतिमानाटकेऽस्मिन् आमूलामारभ्य आन्तं यावत् वीरकरुणरसयोः प्राधान्यकारणात् द्वावपि रसौ कविना परन्त्वत्र नाटके धर्मवीरस्य प्राधान्यत्वात् वीररसास्वादो, स एव मुख्यत्वेन अत्र परिगण्यते। वीररसस्य अङ्गत्वेन करुणादयः परिस्फुरन्ति। अत्र नाटकेऽस्मिन् वीररसः स्व प्राचुर्येण भजते नितरामभिजयते च।

सन्दर्भ-सूची

1. काव्यप्रकाशः– 4/27
2. साहित्यदर्पणः–3/1
3. नाट्यशास्त्रम् –6/14
4. हरविजयम्
5. नाट्यशास्त्रम् 6/10
6. प्रतिमानाटकम् 5/19
7. प्रतिमानाटकम्– 1/.5
8. प्रतिमानाटकम् पृ. 254–255

9. प्रतिमानाटकम् -5/24
10. प्रतिमानाटकम् - पृ. 263
11. प्रतिमानाटकम् - पृ. 234-265
12. प्रतिमानाटकम्- 3/29
13. प्रतिमानाटकम् - पृ. 282
14. प्रतिमानाटकम्-5/6
15. प्रतिमानाटकम्-पृ. 295
16. प्रतिमानाटकम्- 1/9
17. प्रतिमानाटकम्- 1/18
18. प्रतिमानाटकम् - 3/3

संस्कृत

स्मृति–साहित्य में वर्णित कर–व्यवस्था

डॉ० दीपिका कश्यप

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

किसी भी शासन या राजसत्ता को चलाने के लिए 'सप्तांग सिद्धांत' का आधार लिया गया है। जिसमें राजा, अमात्य, बल, दण्ड, दुर्ग, कोष इत्यादि में कोष का महत्वपूर्ण स्थान है। बिना वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ किए कोई भी शासन प्रजाहित नहीं कर सकता है इसलिए यह राज्य की रीढ़ है। कोष की पूर्णता कर-व्यवस्था पर आधारित है। स्मृतिग्रन्थों जैसे- मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य-स्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि में कर-प्रणाली का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। उन दिनों उपज का कितना भाग प्रजा से कर के रूप में लिया जाता था। किसी भी तरह का कर चाहे वह क्रय-विक्रय कर, गृहकर, भूमिकर, सिंचाई कर इत्यादि हो इसका विधान स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

महर्षि मनु ने अर्थ-प्राप्ति के सात उपायों को धर्म के अनुकूल कहा है। वे हैं- दाय लाभ, खरीदा हुआ, जीत से मिला हुआ प्रयोग और कर्म योग से प्राप्त धन जीविका के दस हेतुओं की गणना करते हुए उन्होंने विद्या, शिल्प-कार्य, वेतन, सेवा गारेक्षा, वाणिज्य, खेती, सन्तोष, भिक्षा और व्याज के लिए धन लगाना को स्वीकार किया है।

महषि याज्ञवल्क्य ने अर्थ का केवल प्रासंगिक विवेचन किया है और कहा है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों का गृहस्थ यथाशक्ति परित्याग नही करें। टीकाकार विज्ञानेश्वर से इसे स्पष्ट करते हुए कहा हैं- "अत्र यद्याप्येतेषां सामान्येन सेवनामुक्तं, तथापि कामार्थयोर्धर्माविरोधेनानुष्ठानं तयोधर्मर्ममूलत्वात् एवं प्रतिदिनमनुष्ठेयम्।।" महर्षि पराशर ने अर्थ का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में समाहर्ता के विषय में बताया गया है कि अष्टादश तीर्थो में 'समाहर्ता' एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी होता था। जिसका कोटिलीय अर्थशास्त्र के 'समाहर्तसमुदयप्रस्थानम' 'तथा' समाहर्तृ प्रचार: नामक दो अध्यायों में विस्तृत विवरण उपलब्ध है राजस्व संग्रह करना तथा आय-व्यय का लेखा-जोखा रखना ही 'समाहर्ता' का मुख्य कार्य था। आचार्य कौटिल्य ने समाहर्ता द्वारा सँभाले जाने वाले आय-व्यय को मुख्य रूप से निम्न प्रकार विभाजित किया हैं-

(क) आय (ख) आय शरीर (आय के प्रमुख स्रोत) (ग)आयमुख (आय के गौण स्रोत) (घ) व्यय (ङ)व्ययशरीर (व्यय की प्रमुख मदें)।

पुन: आय शरीर को सात भागों में विस्तारपूर्वक विभाजित किया गया हैं। प्रथम प्रकार की आय को आचार्य कौटिल्य ने 'दुर्ग' कहा है। जिसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शुल्क (चुंगी), दण्ड

(जुर्माना) पौतव (वॉट-माप), नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष (अमीन, पटवारी, कानूनगो आदि), मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष (आवकारी अधिकारी), सूनाध्यक्ष (फाँसी देने वाला), सूत्राध्यक्ष, तेल-घी का विक्रेता, सुवर्णाध्यक्ष, दूकान, वेश्या, धूत वास्तुक (शिल्पी), बढ़ई, लुहार, सुनार, मन्दिरों के निरीक्षण द्वारपाल और नट-नर्तक आदि से लिया जाने वाला धन दुर्ग कहलाता है।

द्वितीय प्रकार की आय को 'राष्ट्र' कहा गया है। जिसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि सोता (खेतो) भाग (कृषि-उपज का षष्ठांश कर) बलि (उपहार), कर वणिक् नदीपालस्तर (नदी पार कराने का टैक्स) नाव-कर, पट्टन (कस्बों की आय) विवीत (चरागाहों की आय), वर्तनी (मार्गकर), रज्जू (भूमिनिरीक्षकों द्वारा वसूला गया धन) तथा चोररज्जू (चोरो का) पकड़ने के लिए ग्रामवासियों से मिला धन) से प्राप्त होने वाला धन 'राष्ट्र' कहलाता है।

आय का तृतीय प्रकार खनि कहलाता है। सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, शंख, लोहा, लवण, भूमि, पत्थर और खनिज पदार्थ आदि से प्राप्त होने वाले धन को 'खनि' कहलाते है।[2]

चतुर्थ प्रकार की आय को 'सेतु' कहते है फूल, फल, केला सुपारी, अन्न के खेत, अदरख और हल्दी के खेतों से होन वाली आय को 'सेतु' कहा जाता है।

पाँचवे प्रकार की आय को 'वन' कहते हैं। हिरण आदि पशु लकड़ी आदि द्रव्य तथा हाथियों के जंगल से प्राप्त होने वाली आय को वन कहा जाता है।

छठवें प्रकार की आय को 'व्रज' कहा जाता गया है। गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, घोड़ा, खच्चर आदि जानवरों से होने वाली आय ब्रज कहलाती है।

सातवें प्रकार की आय को वाणिक्पथ कहते है। स्थल मार्ग तथा जल मार्ग से होनेवाली आय को 'वणिक्पथ' कहा जाता है।

'आयमुख' को परिभाषित करते हुए आचार्य कौटिल्य ने निर्देशित किया है कि मूल्य (अनाज, साग-सब्जी आदि पर लगाया गया टैक्स), भाग (पैदावार का षष्ठांश कर), ब्याजी (कपटी व्यापारियों से दण्ड रूप में वसूला गया धन), परिथ (लावारिस सम्पत्ति), क्लृप्त (नियतकर), रूपिका (नमककर) तथा अत्यय (जुर्माने का धन) आदि 'आयमुख' (आय के गौण स्त्रोत) कहलाते है-

"सामुद्रहस्त्यश्रपुरुषवृशगर्दभाकृतयो मत्स्याः सारसा नादेयास्तटाककुल्योदवा वा क्रौञ्चोत्क्रोशकदात्यूहहंसचक्रवाकजीवञ्जोवकभृङ्गराजचकोरमत्तकोकिलमयूरशुकमदनशारिका विहारपक्षिणो मङ्गल्याश्चान्येऽपि प्राणिनः पक्षिमृगा हिंसाबाधेभ्यो रक्ष्याः।।1।।

रक्षातिक्रमे पूर्वः साहसदण्डः।।2।।

मृगपशूनामनस्थिमांसं सद्योहतं विक्रीणीरन्।।3।।

अस्थिमतः प्रतिपात दद्युः।।4।।

तुलाहीने हीनाष्टगुणम्।।5।।

वत्सो वृशो धेनुश्चैषामवध्याः।।6।।

घ्नतः पञ्चाशत्को दण्डः।।7।।

क्लिष्टघांत घातयतश्च।।8।।"

अर्थात् मृग और पशुओं में से बछड़ा, सांड (बिजार) और गाय- ये पशु कभी न मारने चाहिए।।6।। जो पुरुष इनमें से किसी को मारे, उसे पचास(50) पण दण्ड दिया जाये।।7।। अन्य पशुओं को अत्यन्त कष्ट पहुंचा कर मारने वाले पुरुषों के लिये भी यही (50पण) दण्ड दिया जावे।।8।।

"परिसूनमशिरः पादास्थि विगन्धं स्व्यंमृतं च न विक्रीणीरन्।।9।।

अन्यथा द्वादशपणो दण्डः।।10।।

मातृहस्तादन्यत्राभरणन्यासे सपादचतुष्पणो दण्ड।।11।।

स्वापतेयं विक्रयमाधानं वा नयन्त्याः सपादपञ्चाशत्पणो दण्डः।।12।।

चतुर्विंशतिपणो वाक्यपारुष्ये।।13।।

द्विगुणो दण्डपारुष्ये।।14।।

सपादपञ्चाशत्पणः पणोऽर्धपणश्च कर्णच्छेदने।।15।।

प्राप्ताधिकारां गणिकां घातयतो निष्क्रयत्रिगुणो दण्डः।।16।।

मातृकादुहितृकारूपदासीनां घात उत्तमः साहसदण्डः।।17।।"

अर्थात् जिन गणिकाओं को राजा के समीप छत्र, भृंगार आदि का अधिकार प्राप्त हो, अर्थात् जो राजकीय वारांगनाएँ होंवे, उनको मारने-धाड़ने वाले पुरुष को निष्क्रय से तीन गुना अर्थात् बहत्तर हज़ार (72000) पण दण्ड दिया जावे।।16।। माता, लड़की तथा रूपदासी (रूप से आजीविका करने के लिये दासी बनी हुई स्त्री) को मारने-पीटने पर उत्तम साहस दण्ड दिया जावे।।17।।

संदर्भ-सूची

1. मनुस्मृति, 2.2452,
2. याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.49 पर मिताक्षरा ।
3. मनुस्मृति- 2.174-1844
4. मनुस्मृति- 2.191-2055
5. कौटिल्य अर्थशास्त्र- 2.2076
6. कौटिल्य अर्थशास्त्र- 2.208

संस्कृत

वेदों के अंगभूत वेदांग–साहित्यः एक परिचय।

प्रा० किकाणी भूपतभाई एफ

विनयन एवं वाणिज्य महाविद्यालय, सरवाला, जुनागढ़, गुजरात

हमारी संस्कृति में वेद अपौरुषेय माना गया हैं अर्थात् ईश्वरदत्त है। वेद में ज्ञान-विज्ञान के साथ साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक समस्त पक्षों का प्रतिपादन है। वेद चारो पुरुषार्थ के प्रतिपादक हैं। ये वेद अंङ्गों के द्वारा ही व्याख्यात होता है। अतः वेदांग का अतिशय महत्व है। अंग शब्द का अर्थ है उपकार करने वाला। अर्थात् वेदों के वास्तविक अर्थ का भलीभाँति दिग्दर्शन कराने वाला। कहा गया है- ''अङ्गयन्ते-ज्ञायन्ते अमीभिरिति अङ्गानि। अर्थात् जिन उपकरणों से किसी तत्व के परिज्ञान में सहायता प्राप्त होती है, वे अङ्ग कहलाते है। वेदांग छः हैं- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष, जिसका संक्षेप में परिचय इस प्रकार है-

शिक्षासूत्र

शिक्षा ग्रंथ वेदपुरुष का घ्राण माना गया है- 'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य'। जिस प्रकार पुरुष सभी अङ्गों के यथास्थिति रहने पर एवं मुख आदि से परिपुष्ट होने पर भी नाक के बिना कुरूपता प्राप्त करता है। मुख में नाक ही शोभा बढ़ाते हैं, नाक के बिना शरीर निन्दित ही होता है, उसी प्रकार वेदपुरुष का स्वरूप शिक्षारुपी घ्राण के बिना शोभा नहीं पाते अर्थात् विकृत ही दिखाई देगा।

शिक्षा की व्याख्या सायणाचार्य ने इस प्रकार दी है- 'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते सा शिक्षा', अर्थात् स्वर एवं वर्ण आदि के उच्चारण प्रकार की जहाँ शिक्षा दी जाती है, उपदेश दिया जाता हो, उसे शिक्षा कहते है। शिक्षा शास्त्र का प्रयोजन तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित है- "अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः- वर्णस्वरमात्राबलम् सामसंतान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः"। अर्थात् वर्ण इस पद से अकारादि का, स्वर से उदात्तादि का, मात्रा से हस्व-दीर्घ-प्लुत का, बल से स्थान-प्रयत्न का, साम से निसाद आदि स्वर का और संतान से विकर्षण आदि का ग्रहण होता है।

वेदाध्ययन की प्राचीन प्रणाली यह है कि प्रारम्भ में गुरु किसी मन्त्र का सस्वर उच्चारण स्वयं करे, तत्पश्चात् शिष्य सावधानी से सुनकर और अवधारणा करके उसका उच्चारण-अनुसरण करे। वेद के समुचित उच्चारण के लिये स्वर का ज्ञान अत्यंत आवश्यक होता है। मुख्यतः स्वर तीन होते है- उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। ऊँचे स्वर में उच्चारण के कारण उदात्त, मन्द स्वर में उच्चारण होने से अनुदात्त और दोनों के समावेश से उच्चरित होने के कारण स्वरित कहते है। शिक्षाग्रंथ अनेक है किन्तु पाणिनिकृत 'पाणिनीयशिक्षा' प्राचीन एवं प्रमाणभूत है।

कल्पसूत्र

कल्पसूत्र वेदपुरुष का हाथ है- 'हस्तौ कल्पोऽथ पश्यते'। कल्प शब्द का अर्थ हैं- विधि, नियम और न्याय आदि। इसका तात्पर्य यह हुआ कि विधियों, नियमों अथवा न्यायों के जो संक्षिप्त, सारवान् और दोषशून्य वाक्यसमूह हैं, उनका नाम कल्पसूत्र है। कल्पसूत्रों को वेदांग भी कहा जाता है। वस्तुतः हिन्दुत्व और हिन्दू संस्कृति के प्राण कल्पसूत्र ही है। हिन्दू धर्म में जो कर्मकांड है, उनका मूल क्रियात्मक रूप ही है। कल्पसूत्रों की तो आधारशिला ही कर्मकांड है तथा हिन्दू धर्म के सारे कर्म, सब संस्कार, अनुष्ठान और रीति-रस्म प्रायः कल्पसूत्रों से ही उत्पन्न हैं। इसलिये हिंदू संस्कृति के अशेष अनुष्ठान समझने के लिये एकमात्र अवलम्ब ये सूत्र ही हैं। प्राचीन हिन्दुओं के सामाजिक आचार-विचार, उनकी जीवनचर्या और उनके कर्मानुष्ठान आदि को ये सूत्र बड़ी ही सुन्दरता प्रांजलता से बताते हैं। धर्मानुष्ठानों में मानव वृत्तियों को संलग्न करना तथा धार्मिक विधियों और नियमों में व्यक्तियों और समाज का जीवन संयत करना, इन सूत्रों का खास उद्देश्य है।

कल्पसूत्र के तीन प्रकार हैं- श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। वैदिक सांहिताओं में कहे गये यज्ञादि विषयक विधान और विवरण देने वाले सूत्रों को 'श्रौतसूत्र' कहा जाता है। गृहस्थ के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समस्त कर्तव्यों और अनुष्ठानों का जिनमें वर्णन है, उन्हें 'गृह्यसूत्र' कहा जाता है। सामाजिक और राजनैतिक कर्तव्यों, विविध जातियों के कर्तव्यों, विवाह, उत्तराधिकार आदि का जिनमें विवरण है उसे धर्मसूत्र कहते हैं। प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि जितनी शाखाएं थीं उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् थे और उतने ही कल्प सूत्र भी थे। परंतु आजकल इनमें कोई भी पूरा-का-पूरा नहीं मिलता। वर्तमान समय में 40 प्रायः कल्पसूत्र मिलते हैं।

व्याकरण

व्याकरण वेदपुरुष का मुख है- 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। वेद के छः अङ्गों में व्याकरण शास्त्र तीसरा अङ्ग है। मुख होने के कारण व्याकरण शास्त्र का मुख्यत्व स्वयं सिद्ध है। व्याकरण शब्द का अर्थ है- 'व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'। अर्थात् व्याकरण प्रकृति का और प्रत्ययका विवरण प्रस्तुत कर पद के यथार्थ स्वरूप का परिचय देता है।

मुनिवर कात्यायन ने व्याकरण के प्रयोजन का उद्देश्य बतलाते हुए कहा- 'रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः व्याकरणप्रयोजनम्', अर्थात् रक्षा ऊह, आगम, लघु और असंदेह- ये व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि वेद की रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। व्याकरण पुरुषार्थ का साधक उपाय है। ऊह का अर्थ है नूतन पदो की कल्पना। पतञ्जलि का मत है कि वेद में जो मन्त्र कथित हैं, वे सब लिङ्गों एवं विभक्तियों में नहीं है। अतः उन मन्त्रों में यज्ञ में अपेक्षित रूप से लिंग और विभक्ति का व्यवहार करना चाहये और यह दुष्कर कार्य व्याकरण के द्वारा ही सम्भव है। ब्राह्मण का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह निष्कारण धर्म का आचरण तथा अर्थ सहित वेद का अध्ययन करे। वेद षडङ्गों में व्याकरण ही मुख्य है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि शास्त्र का लघुता सम्पादन भी व्याकरण का प्रयोजन है।

व्याकरण प्रयोजन के विषय में अन्तिम कारण है- असंदेह। संदेह को दूर करने के लिये व्याकरण अध्ययन अवश्य करना चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐन्द्र आदि आठ व्याकरणों में कौन सा

व्याकरण वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करता है। आजकल प्रचलित और प्राप्त व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम है। अन्य व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण अधिक लोक-प्रचलित और लोकप्रिय है। अत: प्राचीन तथा सर्वांगपूर्ण होने के कारण पाणिनीय व्याकरण ही वेदाङ्ग का प्रतिनिधित्व करता है।

निरुक्त

छ: वेदाङ्ग में निरुक्त चौथे स्थान पर है। वेद पुरुष का निरुक्त कान है- 'निरुक्त श्रौत्रमुच्यते'। भाष्यकार सायणाचार्य अपनी वेदभाष्यभूमिका में कहते हैं कि 'अर्थावबोधे निरपेक्षतया पदजालं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्' अर्थात् अर्थ-ज्ञान में निरपेक्षता से पदों की व्युत्पत्ति जहां कही गयी है, वह निरुक्त है। निरुक्त की शाब्दिकी निरुक्ति होगी- 'नि:शेष रुप से जो कथित हो वह निरुक्त है। अत: जहां शिक्षा आदि वेदाङ्ग वेद के बाह्य तत्वों का निरुपण करते हैं, वहीं निरूक्त वेद-विज्ञान के आन्तरिक स्वरुप को स्पष्ट उद्घाटित करना है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि दूसरे वेदाङ्ग प्राय: विभिन्न सूत्रों में लिखे गये हैं, किंतु यह निरुक्त गद्य शैली में लिखित है। निघण्टु में वेद के कठिन शब्दों का समुच्चय है। इस वैदिक कोश भी कह सकते है। इसके ऊपर महर्षि यास्क विरचित निरुक्त है।

दुर्गाचार्यकृत दुर्गवृति के अनुसार निरुक्तों की संख्या चौदह थी। यास्क के उपलब्ध निरुक्त में बारह निरुक्तकारों का उल्लेख है। वर्तमान समय में यास्क का निरुक्त वेदाङ्ग का प्रतिनिधि-स्वरूप ग्रंथ है। निरुक्त में चौदह अध्याय हैं। यास्क महर्षि पाणिनि से भी प्राचीन है। महाभारत के शांतिपर्व में निरुक्तकार के रुप में यास्क का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

निरुक्त में वैदिक शब्दों की निरुक्ति है। निरुक्त शब्द का अर्थ है व्युत्पत्ति। निरुक्त का मत है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी धातु के साथ अवश्य सम्बद्ध रहता है। अत: निरुक्तकार शब्दों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित कर धातु के साथ विभिन्न प्रत्ययों का निर्देश देते है। निरुक्त के अनुसार सभी शब्द व्युत्पन्न हैं। अर्थात् वे सभी शब्द किसी न किसी धातु से निर्मित हैं। व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है, शब्दों का शुद्धीकरण। निरुक्त व्याकरण के सभी प्रयोजनो को तो सिद्ध करता ही है किंतु इसकी मुख्य विशेषता है शब्दार्थ का विवेचन करना।

छन्दसूत्र

पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है- 'छन्द: पादौ तु वेदस्य'। अर्थात् छन्द वेद पुरुष के पैर हैं। जिस प्रकार पाद से ही मनुष्य लंगड़ा कहा जाता है उसी प्रकार छन्दों से हीन वेदपुरुष लंगड़ा होता है। अत: वेद मंत्रों के उच्चारण के लिये छन्दों का ज्ञान आवश्यक है। छन्दों के ज्ञान के अभाव में मंत्रों का उच्चारण और पाठ समुचित रुप से नहीं हो पाता। प्रत्येक सूक्त में देवता, ऋषि और छन्द का ज्ञान आवश्यक होता है। छन्द का आधार ग्रंथ है पिंगलाचार्य कृत 'छन्दसूत्रम्'। यह ग्रंथ सूत्र रुप में है और आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रारंभ से चौथे अध्याय के सातवें सूत्र तक वैदिक छन्दों के लक्ष्ण हैं। तदनन्तर लौकिक छन्दों का वर्णन है।

महर्षि यास्क ने छन्द शब्द की व्युत्पत्ति 'छद्' धातु से की है। 'छन्दांसि छन्द:' इस कथन का अभिप्राय यह है कि ये छन्द वेद के आवरण हैं। वैदिक छन्दों के मुख्य भेदों के विषय में ऐकमत्य

नहीं है परंतु समस्त वैदिक छन्दों की संख्या 26 है। इनमें मुख्य सात छन्दों को माना गया है- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिस्टुप् और जगती। दुर्गाचार्य ने निरुक्त की वृत्ति में लिखा है कि छन्द के बिना वाणी उच्चरित नहीं होती।

ज्यौतिष

जिस प्रकार व्याकरण वेदपुरुष का मुख है, उसी प्रकार ज्यौतिष को उसका नेत्र कहा गया है- 'ज्योतिषामयनं चक्षु:'। नेत्रों के बिना जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयमेव एक पैर भी नहीं चल सकता, उसी प्रकार ज्यौतिषशास्त्र के बिना वेदपुरुष में अन्धता आ जाती है। वेद की प्रवृत्ति विशेष रूप से यज्ञ-संपादन के लिये होती है। यज्ञ-याग के संपादन के लिये समयशुद्धि की विशेष आवश्यकता होती है। कुछ कर्मकाण्डीय विधान ऐसे होते हैं, जिनका संबंध संवत्सर से होता है और कुछ का ऋतु से। यहां आशय यह है की निश्चित रुप से नक्षत्र, तिथि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर के समस्त अंशो के साथ यज्ञ-याग के विधान वेदों में प्राप्त होता है। अत: इन नियमों के पालन के लिये और निश्चित रुप से निर्वाह के लिये ज्यौतिषशास्त्र का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।

इसीलिये विद्वान् ज्यौतिष को कालविज्ञापक शास्त्र कहते हैं। क्योंकि मुहूर्त निकालकर की जाने वाली यज्ञादि क्रिया विशेष फलदायिका होती है। अतएव वेदांग ज्यौतिष का विशेष आग्रह है कि जो मनुष्य ज्यौतिष को अच्छी तरह जानता है वहीं यज्ञ के यथार्थ स्वरुप का ज्ञान रखता है।

प्राचीन समय में चारो वेदों का अलग-अलग ज्यौतिषशास्त्र था, उनमें अभी सामवेद का ज्यौतिष उपलब्ध नहीं हैं। ऋग्वेद का ज्यौतिष आर्च ज्यौतिष, यजुर्वद का ज्यौतिष याजुष् ज्यौतिष और अथर्ववेद का आथर्वण ज्यौतिष है। वैदांगो में ज्यौतिष छठा और अन्तिम वेदांग है।

उपर्युक्त विवेचन से वेदों के अध्ययन-मनन-चिन्तन एवं वेदार्थ के सम्यक् बोध तथा गूढ़ वैदिक रहस्यों के स्थापन में वेदाङ्गों की अपरितार्थ निरतिशय महत्ता स्वयमेव प्रतिपादित है।

संस्कृत

उपनिषदों में श्रेय पथ

डॉ० नलिनी श्रीवास्तव

जिस आचार-विचार के आश्रयण से मनुष्य का सम्पूर्ण हित सिद्ध होता है, वस्तुत: वही श्रेय पथ कहा जाता है। संम्पूर्ण हित शब्द अपने आप में व्यापक परिधि वाला है। यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति को जो अच्छा लगे, उसके लिए हितकर भी हो। व्यापार में प्रेम और श्रेय पथ पर अधिक बल दिया गया है क्योंकि वही मनुष्य का परम प्राप्तव्य है।

कठोपनिषद में यमराज नचिकेता को सर्वप्रथम श्रेय और प्रेम इन दो मार्गो के विषय में समझते है। श्रेय और प्रेम ये दो प्रकार के साधन वेदों में कहे गये हैं। श्रेय सब प्रकार के दुखों से छुटकारा प्राप्त कर नित्य, आनन्दस्वरूप भागवान की प्राप्ति की साधन है। प्रेम अर्थात् प्रिय लगने वाला साधन है जिसके द्वारा पुत्र, धन, भवन, सम्पत्ति, यश इत्यादि इस लोक सम्बन्धी अथवा स्वर्गलोक सम्बन्धी सभी प्रकार की सुखोपभोगयोग्य सामग्रियाँ प्राप्त की जा सकती हैं-

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे। पुरुषं सिनीत:।
ततो श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाय उप्रेयो वृणीते।।[1]

श्रेय तथा प्रेय दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। ये दोनों विभिन्न फल देने वाले साधन मनुष्य को बन्धन में डालते हैं। प्रेय लोकोन्नति का मार्ग है और श्रेय परलोकोन्नति का मार्ग है। श्रेय का ग्रहण करने वाले का कल्याण तथा प्रेय का ग्रहण करने वाले का पतन निश्चित है। यथा-

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा वहवोऽलोलुपन्त:।।
अविद्ययामन्तरे वर्त्तमाना: स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना:।
दन्द्रभ्यमाणा: परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:।।
न सम्पराम: प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोके नाऽस्ति पर इति मानी पुन: पुनर्वशमापद्यते।।[2]

श्रेय और प्रेय इन दोनों ही प्रकार के साधनों का अनुष्ठान करना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। किन्तु साधन और फल का विवेक करना मन्दबुद्धि वाले व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं होता। अतएव वह भोगों की परिणाम दु:खता का रहस्य न जानकर तथा श्रेय साधन को कठिन समझकर प्रेय-मार्ग को स्वीकार कर लेता है तथा धीर व्यक्ति प्रिय लगने वाले साधन अर्थात प्रेय की अपेक्षा श्रेय को ही स्वीकार कर लेते हैं। यथा-

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते,
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृगीते।[3]

श्रेय और प्रेय क्रमशः विद्या और अविद्या के नाम से जाने गये हैं। जो विद्या और अविद्या इन दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को तरकर ज्ञान से अमरत्व को प्राप्त करता है। यथा-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यां मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।[4]

प्रायः लोगों की प्रवृत्ति भोगों को प्राप्त करने की ओर रहा करती है। विरले ही कोई व्यक्ति होता है कि जो ज्ञानमार्ग का पथिक बनकर उस आत्मतत्व की प्राप्ति का इच्छुक हुआ करता है। अनेक व्यक्ति आत्म-ज्ञान विषयक उपदेशों का श्रवण मात्र ही करते हैं। अतः वे वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर पाते।

प्रत्येक मोक्षपथ के राहगीर का मुख्य उद्देश्य श्रेय पथ होना चाहिए और प्रेय का इस प्रकार उपयोग करना चाहिए कि वह श्रेय का साधन बन जाए। जैसे किसी प्राणी को तीर्थ हेतु जाना है, तो वह केवल इतना ही धन अपने साथ लेकर जाए जितना कि उसका आने-जाने, ठहरने तथा खाने-पीने के लिए पर्याप्त हो। इसके विपरीत यदि वह अधिक धन लेकर जाएगा तो अपने मूल प्रयोजन अर्थात् तीर्थ को त्यागकर धन के विषय में चिंतित रहेगा। इसलिए प्राणी को श्रेय मार्ग के अनुकरण में धन-संग्रह इत्यादि को केवल साधन समझना चाहिए न कि साध्य। ये प्रेय वस्तुएं जहाँ साध्य बन जाती हैं, वहीं मनुष्य को अपने मार्ग से अलग होना पड़ जाता है। जो लोग विषयभोग को दृष्टि से केवल लोकोन्नति को अपना लक्ष्य बना लेते हैं और श्रेय की कुछ भी चिन्ता नहीं करते, वे लोग दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति रूप मानव जीवन के यथार्थ ध्येय से च्युत हो जाते हैं।

प्रेय को त्यागकर श्रेय पथ को अपनाने के रूप में सबसे अनुपम उदाहरण हैं- कणादऋषि। कणाद ऋषि कटे हुए खेत से कण-कण अन्न चुगकर अपना जीवन-यापन करते थे। जब राजा धन की भेंट लेकर ऋषि के पास जाते हैं तो प्रत्युत्तर में ऋषि कहते हैं इस धन को दरिद्रों में बाँट दो। प्रेय को छोड़कर श्रेय अपनाने वाले यही कणाद ऋषि वैशेषिक दर्शन के रचयिता बने।

कठोपनिषद् के मन्त्रों द्वारा यम ने नचिकेता को तप का स्वरूप बतलाया। तप का जीवन कामनाओं से बचकर चलने का है, प्रेय से लगातार द्वन्द्व करने का है। प्रेय से युद्ध करके ही मनुष्य की गति ऊपर को हो सकती है। नचिकेता के तीसरे प्रश्न के उत्तर में यमराज ने अनेक प्रलोभन देते हुए उसे पुत्र, पौत्र, घोड़े-हाथी, सोने-चाँदी का प्रलोभन दिया तथा नचिकेता को चक्रवर्ती राज्य माँगने हेतु भी प्रेरित किया, संसार की दुर्लभ से दुर्लभ कामनाओं की पूर्ति का वचन दिया। परन्तु नचिकेता ने 'भोगों से मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता और भोग विनाशी है'- यह जानकर तुरन्त सब को ठोकर मार दी। उस समय यम ने मरने के पश्चात् जीव की क्या गति होती है, उसका उपदेश नचिकेता को दिया। परन्तु इस उपदेश से पूर्व यम ने नचिकेता के तपस्वी अधिकारी होने की पूरी परीक्षा कर ली थी।

सम्पूर्ण सुखों की तथा अनन्त नित्य की प्राप्ति ही श्रेय है। प्रत्येक प्राणी को स्वाभाविक इच्छा सुख की प्राप्ति होती है, परन्तु वास्तविक सुख क्या है? सनतकुमार से यह प्रश्न नारद जी ने किया-

सुखं भगवो विजिज्ञासे इति।[5]

भगवन्! मैं सुख का स्वरूप जानना चाहता हूँ। बहुत टेढ़ा प्रश्न है। बच्चा खिलौना देखकर रोता है। जब खिलौना मिल जाता है तो वह समझता है कि मैं सुखी हो गया। परन्तु कुछ देर खेलने के बाद उसका मन भर जाता है, और वह खिलौना को फेंक देता है और रोने लगता है। अब उसे इस खिलौने में सुख समझना उसका बालपन था। खिलौने में असली सुख नहीं था। इसी प्रकार धन आदि संसार के पदार्थों का हाल है। इस पर सनत्कुमार नारदजी को सुख के विषय में बतलाते हैं- "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति"।[6]

भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। भूमा को ही समझना चाहिए। भूमा वह है, जिसमें अन्य को नहीं देखता, अन्य को नहीं सुनता, अन्य को नहीं जानता। भूमा ही अमृत है। अल्प ही दु:ख है। यथा-

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यद् विजानाति स
भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यद्वृणोत्यन्यद् विजानाति
तदल्पम् यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।[7]

संसार में मनुष्य की दो प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं- एक तो वे, जो अस्थिर वस्तुओं में सुख देखते हैं दूसरे वे, जो विवेक के द्वारा अनित्य पदार्थों की निस्सारता और दु:ख परिणामता को देखकर नित्य अखण्ड सुखरूप भूमा को चाहते हैं। जो लोग अनित्य पदार्थों में सुख मानते हैं उनको कभी स्थायी सुख नहीं मिलता। क्षणिक सुख के बाद दु:ख आ जाता है। संसार में प्राकृतिक पदार्थों से सुख प्राप्ति की आशा इसी प्रकार है। इसमें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी- इस प्रकार सुख प्राप्त करने वाली वस्तुओं की खोज रहती है। अभी एक पुरुष हजार रूपये में सुख समझता है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर दस हजार की इच्छा करता है और पश्चात् लाख एवं करोड़ों की। इसी प्रकार कोई मनुष्य स्वादिष्ट भोजन कर रहा है इतने में ही उसे पुत्र की मृत्यु का समाचार मिलता है तो अब उसे भोजन में कोई आनंद नहीं रहा और यही अल्प है। भूमा में पहुँचकर सुख क्षणिक नहीं होता। वहाँ किसी भी अन्य वस्तु की प्राप्ति का मनोरथ सुख का हेतु नहीं रह जाता। वह सुख अन्य वस्तु से बाधित नहीं होता। भूमा में ही सतत् शान्ति है, भूमा ही श्रेय है अल्प ही प्रेय है।

श्रेय, भूमा, आत्मा आदि शब्दों का अर्थ एक ही है। केवल इनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। प्राकृतिक जगत् को अपने कार्य का श्रेय बताना 'अल्पता' होती है, प्रेय होता है और आत्मा को ध्येय बनाना भूमापान है। इन दोनों का समन्वय करते हुए विदेहराज महाराज जनक का जीवन आत्मोन्नति करने का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्ष्य ऋषि मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं-

"न वा अरे पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय: पति: प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति। आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।।"[8]

अरी मैत्रेयी! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, आत्मा के अपने ही प्रयोजन के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया नहीं होती और अपने ही प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिया होती है। पुत्रों के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय होते है। धन के प्रयोजन के लिए धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए धन प्रिय

होता है। इस तरह सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयी! यह आत्मा अपने आप ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय तथा ध्यान किये जाने योग्य है। इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इन सबका ज्ञान हो जाता है। मनुष्य को अपने जीवन के सब विभागों में कार्य करते हुए आत्मा को ही ध्येय बनाये रखना चाहिए।

परन्तु इस ओर ध्यान आकर्षित कैसे हो? मन का आकर्षण श्रेय मार्ग की ओर किस प्रकार हो? साधक को परमपद की सफलता हेतु सर्वप्रथम आरम्भ कहाँ से करना चाहिए- इस विषय में छान्दोग्योपनिषद् के सनत्कुमार कहते हैं-

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्यै मृदितकपायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तंस्कन्ध इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते"।[9]

सनतकुमार ने उपर्युक्त प्रश्न का मूल हेतु आहार बताया है। शरीर की सर्वप्रथम आवश्यकता आहार अर्थात् भोजन ही है। जैसा भोजन ग्रहण करोगे, वैसा ही शरीर बनेगा, वैसा ही मन बनेगा, वैसी ही बुद्धि होगी। यदि भोजन शुद्ध होगा तो बुद्धि भी शुद्ध होगी। बुद्धि के शुद्ध होने पर शंका रूपी समस्त ग्रंथियां खुल जायेगी। सत्य पर विश्वास, श्रद्धा बढ़ जाती है और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। आजीविका भी शुद्ध होनी चाहिए। अपनी आजीविका में से यथा सामर्थ्य भाग अपने परिवार के प्राणियों अथवा आश्रितों को देकर तत्पश्चात् शेष भाग को स्वयं ग्रहण करें। इसे ही यज्ञशिष्ट अमृत भोजन कहा गया है। गीता में कहा है कि जो केवल अपने ही कमाते-खाते हैं, ऐसे पुरुष तो केवल पाप को खाते हैं। ऐसा ही उल्लेख ईशोपनिषद् में भी आया है। यथा- 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'।[10]

इस संसार में तीन प्रकार के प्राणि हैं- देव, मनुष्य और असुर। तीनों उस एक प्रजाति की सन्तान ही हैं। परन्तु अपने-अपने कर्मों के द्वारा इनको विभक्त किया गया है। देवों को श्रेष्ठ, मनुष्य को साधारण तथा असुर को अधम बताया गया है। प्राणी का जन्म उसके पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर होता है, लेकिन भगवद्भक्ति द्वारा तथा प्रभु के कीर्तन- श्रवण द्वारा उनकी उन्नति सम्भवतया हो जाया करती है। असुर उसी उपदेश तथा भगवद्भक्ति के प्रभाव से मनुष्य बनता है तथा मनुष्य ही बाद में देवता बन जाता है।

असुर उन लोगों को कहा जाता है जिनका स्वयं ही परम लक्ष्य होता है। भरी सभा में द्रौपदी को अपमानित कर दुर्योधन ने तथा सीता का अपहरण करके रावण ने असुरता का परिचय दिया था। कोई मनुष्य अपने स्वाद के लिए किसी भी पक्षी की गर्दन मरोड़ देता है, यह उस मनुष्य का असुरापन है। इस प्रकार की क्रूर प्रवृत्ति के इन्सानों के लिए दया से बढ़कर श्रेयस्कर कौन-सा ज्ञान या उपदेश हो सकता है। दया के इतिहास में महात्मा बुद्ध का नाम सर्वोपरि आता है। उन्होंने महान् घातकों तथा डाकुओं से सम्पर्क किया और और प्रजापति के इस 'द' शब्द का उच्चारण कर उनका जीवन शुद्ध किया।

दया का स्तर जब थोड़ा-सा बढ़ जाता है तो वहाँ 'दान' का आगमन होता है। हमारे द्वारा किसी प्रकार से दूसरों के कष्टों को दूर करना ही 'दान' है। दया दान के पश्चात् जो त्रुटि शेष रहती है उसे 'इन्द्रियनिग्रह' कहते हैं। जब इन्द्रियाँ अपने विषय से अलग होने लगती हैं तब उनकी अन्तर्वृति होती है। इसका उल्लेख गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है-

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।[11]

काम, क्रोध तथा लोभ- ये तीनों नर्क के द्वार हैं अर्थात् आत्मा के नाशक है। इसलिए इनको त्यागना ही चाहिए।

जो व्यक्ति वेद शास्त्र विहित विधि को त्यागकर मनमाना कार्य करते है उनको न तो फल की सिद्धि होती है तथा न ही सुख प्राप्त होता है और न ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। यथा-

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।

न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।[12]

उपनिषद् में धर्म के तीन भाग बताये हैं। यज्ञ, स्वाध्याय और दान मिलकर प्रथम भाग है तथा दूसरा भाग तपस्या है और अन्तिम तीसरा भाग वह होता है जो आचार्य कुल में रहकर स्वयं को तपस्वी बनाता है। यज्ञ के विषय में मुण्डकोपनिषद् में उपदेश दिया गया है-

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।

तदाज्यभगावन्तरेणहुतीः प्रतिपादयेत्।।[13]

यज्ञ से द्रव्य पदार्थ सूक्ष्म होकर रोगों का नाश करते हैं तथा पुष्टिदायक पदार्थों से शरीर को पुष्ट करते है। इससे सम्पूर्ण वायु शुद्ध होती है तथा विभिन्न रोगों के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और स्वास्थ्य को लाभ पहुँचता है।

उपनिषदों में अध्ययन के विषय में भी सम्यक् वर्णन देखने को मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में विशेष रूप से शिक्षा के विषय को उदघाटित किया गया है। इस उपनिषद् में स्वाध्याय के बारे में लिखा है-

"ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्न्यश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहो च स्वाध्याय प्रवचने च। अतिथिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचाराथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरूशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने ऐवेति नाको मौग्दल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः"।।[14]

ऋत् अर्थात् सृष्टि के नियमों को अर्थात् विज्ञान को पढ़ो-पढ़ाओ। स्वाध्याय कहते है स्वयं को एवं प्रवचन कहते हैं दूसरों को पढाने को। तप के साथ पढ़ो-पढ़ाओ। अतिथि की सेवा करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ। मनुष्य मात्र के कल्याण पर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ। प्रजन अर्थात् सन्तान वृद्धि की समस्याओं पर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ। स्वाध्याय-अध्ययन-अध्यापन की क्रिया नहीं होती, वहाँ पर पैतृक अनुभव नहीं प्राप्त होता।

इन साधनों को अपनाने से साधारण पुरुष भी कल्याण को प्राप्त होता है और राष्ट्र का भी कल्याण होता है। एक विद्वान् धर्मात्मा योगी राष्ट्र की गतिविधि को बदल सकता है। ऐसे ही पुरूष देवता बन जाते हैं जिनमें दिव्य गुण हो, वह देवता है।

धन्य है वह राष्ट्र जहाँ ऐसा देव समाज प्रमुख होता है। जहाँ पर असुर अर्थात् राक्षस, स्वार्थी, क्रूरकर्मी तथा दुराचारी व्यक्तियों की अधिकता हो, वहाँ कष्ट है, दु:ख है और निश्चित पराभव है। हमारे देश के नेता, हमारे राज्य के प्रतिनिधि इसी उपनिषद्, धर्म को अपनाते हुए देश की उन्नति को एक नई दिशा प्रदान कर सकते हैं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. कठोपनिषद् - 1/2/1
2. वही- 1/2/4-6
3. वही- 1/2/2
4. ईशावास्योपनिषद् - 11 श्लो०
5. छान्दोग्योपनिषद् - 7/22/1
6. वही- 7/23/1
7. वही- 7/24/1
8. वृहदारण्यकोपनिषद् - 2/4/5
9. छान्दोग्योपनिषद् - 7/26/2
10. ईशावास्योपनिषद् - 12 श्लो०
11. गीता - 16/21
12. मुण्डकोपनिषद् - 1/2/2
13. वही - 1/2/2
14. तैत्तिरीय उपनिषद् - 1/9/1

इतिहास

बुद्धकालीन मगध साम्राज्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन

महमूद आलम

शोध-छात्र (इतिहास), जयप्रकाश नारायण विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)।

बुद्धकालीन भारतीय इतिहास दूसरी क्रांति का शंखनाद है। यह क्रान्ति सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं तकनीक के क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन लाकर छठी शताब्दी ई०पू० मध्य गंगा घाटी में आमूल-चूल बदलाव का द्योतक बन गया। इससे भारत ही नहीं विश्व के अनेक संस्कृतियां प्रभावित हुई। इसके अध्ययन के सर्वमान्य स्रोत इसके उत्कृष्ट परिवर्तन से दृष्टिगोचर होता है। इसके प्रमुख स्रोत ब्राह्मण धर्म का साहित्य, बौद्ध धर्म एवं जैन साहित्य के साथ भौतिक भग्नावशेष बुद्धकालीन इतिहास की जानकारी प्रदान करता है। इसी काल में लोहे ने भौतिक संस्कृति में एक क्रान्ति पैदा कर दी। तत्पश्चात् महाजनपदीय स्वरूप उजागर हुआ और केन्द्रीय शक्ति मगध साम्राज्य को विस्तार दिया। इस प्रकार देखते ही देखते मगध मध्य गंगा क्षेत्र का एक विशाल शक्तिशाली साम्राज्य बन गया। यह अलग बात है कि इस शक्ति का केन्द्र समयान्तराल परिवर्तित होता रहा। सम्राट के पराक्रम और राजधानी की असुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण कार्य था।

बुद्धकालीन भारतीय सामरिक और भौगोलिक स्थिति की जानकारी प्रारंभिक महाजन पदों की केन्द्रीय स्थल को देखकर अनुमान लगा सकते हैं। राजगीर पांच अभेद गिरिपदीय उपत्काओं के मध्य में था तो पाटलिपुत्र त्रिवेणी समकोणीय अवशिष्ट स्थल पर बसा जलदुर्ग था। व्यापार की धमनी नदियों के सदानीरा रूप धन-धान्य बना रहा था। मगध क्षेत्र के निकटवर्ती स्थलों से कृष्ण अयस्क का खनन खेती और उद्योग को अचानक बढ़ाकर धनसंकुलता के साथ जनसंकुलता में भी वृद्धि हुई। कृषि यंत्र से लेकर युद्ध अस्त्र-शस्त्र, फिर कुल्हाड़ी से वृक्ष क्षरण किया गया। कृषि उत्पाद बढ़ा और कृषि क्षेत्र का विस्तार भी हुआ। इन्द्रदेवता इस क्षेत्र के लिए छठी शताब्दी ई० पूर्व समय को ही उपयुक्त माना जिसे 100 से 125 सेंटीमीटर वर्षा नित्य ऋतियों में होती रही। धान की खेती होने लगी, चावल के उत्पादन से खाद्यान्न समस्या का हल होने लगा। स्त्रियां मेहनतकश होती थीं और खाद्यान्न पर्याप्ता के कारण छरहरी बदन के साथ जल्द ही गर्भधारण करने की क्षमता रखती थी। इस समय जनसंख्या बढ़ना एक वरदान था जो मानव के विकास एवं प्राकृतिक को मानवीय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

अधिशेष उत्पादन तथा जनसंख्या वृद्धि के कारण शहरों में रहने वालों का अधिक जमाव होने लगा था जिसने द्वितीय नगरीकण को बढ़ावा दिया। साहित्यिक ग्रंथों में ग्राम से लेकर नगर तक की विभिन्न बस्तियों के संकेत मिलते हैं। साथ ही बस्तियों के सबसे बड़े एकक महानगर के भी अस्तित्व

का भी प्रमाण मिलता है। बौद्धग्रंथों में छः महानगरों की चर्चा आई है जिसकी पुष्टि पाणिनि ने भी की है। पालिग्रंथ में 60 नगरों की चर्चा है।

शहरी बस्तियों में उच्च कोटि के बर्तनों का प्रयोग किया जाना भी इस दौर की एक उपलब्धि है। साहित्य में उत्तरी काले पालिश किए गए मृदभांड की चर्चा है जो विभिन्न पुरातात्विक स्थलों से प्राप्त हुए है। नगरों में दूर-दूर के व्यवसायियों व व्यापारियों का आना जाना था। अनेक स्थलमार्गों के होने से व्यापार में सुविधा हुई थी। उत्तरापथ मार्ग के किनारे श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, कपिलवस्तु, पाटलिपुत्र और वैशाली जैसे नगर थे। इसी प्रकार मथुरा उज्जयिनी होता हुआ एक मार्ग दक्षिणापथ भी जाता था। नदी मार्गों से भी व्यापार होने की चर्चा है। स्त्रोत बताते हैं कि गंगा के द्वारा व्यापारी पाटलिपुत्र से चम्पा जाया करते थे। विदेशी व्यापार संबंधी साक्ष्य जातकों एवं पश्चिमी तथा पूर्वी तट पर क्रमशः स्थिति भरूकच्छ, सोपारा तथा ताम्रलिप्ति जैसे बन्दर गाहों के स्थित होने से भी होता है।

जातक कथा से लेखन कला के होने का प्रमाण मिलता है जो एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। लेखन कला से हिसाब-किताब एवं रिकार्ड रखने में सुविधा हुई जिससे वाणिज्य व्यापार एवं ज्ञान प्रसार को बढ़ावा मिला। पहली बार भारतीय उपमहाद्वीप में सिक्कों का प्रमाण भी इसी समय मिलता है। 6ठी शताब्दी से ही विविध प्रकार के आहत सिक्के बनने लगे। इन मुद्राओं की सबसे पुरानी निधि (होर्ड्स) पूर्वी उत्तरी प्रदेश एवं मगध में मिली है। पालिग्रंथों में मुद्रा के प्रचुर प्रचलन का संकेत मिलता है और यह भी पता चलता है कि वेतन और मूल्य का भुगतान सिक्कों में किया जाता था। सिक्कों का प्रचलन इतना व्यापक हो गया कि एक मरे चूहे का मूल्य भी सिक्कों में आंका गया है।

उपरोक्त आर्थिक गतिविधियों से द्वितीय नगरीकरण की शुरुआत से मध्यगंगा घाटी में हुई अर्थव्यवस्था का आधार विस्तृत हुआ तथा इसके साथ ही व्यापार, विविधशिल्प उत्पादों, धातु की मुद्रा के व्यवहार एवं सम्मिलित वाणिज्यिक क्रियाकलाप का प्रसार होने लगा था, जिसके फलस्वरूप ऋण, सूद और पूंजी निवेश का चलन हो गया। समकालीन ग्रंथों से पता चलता है कि धातु की मुद्रा, ऋण, सूद और पूंजी निवेश का चलन हो गया। ग्रंथों में धातु की स्थायी संरचनाओं और विविध प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख है। जिससे साबित होता है कि विभिन्न शिल्पों में विशेषज्ञता प्राप्त कर ली गयी थी। पच्चीस (25) प्रकार के पेशों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है, जैसे–बढ़ईगिरी, कुंभकारी, चर्मकारी इत्यादि। बौद्धग्रंथों में 18 प्रमुख श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। प्रत्येक श्रेणी को शहर या नगर के विशिष्ट भागों में स्थान दिया गया था। फलतः उद्योगों का स्थानीयकरण एवं विशेषीकरण हुआ। उदाहरणस्वरूप वैशाली के सद्दलपुत्त में कुंभकारों की 500 दुकानें थीं तथा कौशाम्बी में लोहे के विविध प्रकार के औजार पाए गए थे।

अर्थव्यवस्था की बढ़ती जटिलता और भी अधिक स्तरित समाज के उद्भव में भी प्रकट हो गयी थी। बड़ी-बड़ी काश्तकारियाँ उस समय का आदर्श भले ही न हो, परन्तु समाज के कुछ वर्गों के हाथों में धन का जमाव इंगित करता है कि ऐसे वर्गों को श्रमिकों की जरूरत थी। इसलिए इस दौर में अच्छे-खासे बड़े पैमाने पर श्रमिकों का उपयोग आवश्यक हो गया, जिसके फलस्वरूप उत्पादकता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। बौद्ध ग्रंथों में दासों, कम्मकारों और पेस्सों का उल्लेख पाया गया है जिन्हें बड़े-बड़े काश्तकार अपने यहाँ बहाल किया करते थे–आगे चलकर इसी से बंधुआ मजदूरी प्रथा

विकसित हुई होगी। इसी दौर में पहली बार 'दलिद्द' शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ था– अत्यंत निर्धन। अत: सामाजिक विषमता प्रत्यक्ष होने लगे। पालि शब्दों से भी वर्गों के बीच विषमता का संकेत मिलता है, जैसे– महाभोग कुल (धनी परिवार), दलिद्द कुल, सधन (धनी) और अधन (गरीब) सुगत और दुगत आदि। गरीबी आने का एक सामान्य कारण यह हो सकता है कि लोगों का भूमि और संसाधनों पर एकसमान अधिकार नहीं था।

विवेच्य दौर में सामाजिक जीवन की एक सर्वप्रमुख विशेषता थी, वर्णव्यवस्था की जटिलता का बढ़ना। अब ऋग्वैदिक काल के विरुद्ध जाति एवं व्यवसाय के निर्धारण का आधार जन्म हो गया न कि कर्म या व्यवसाय। ब्राह्मण ग्रंथों में भी पूर्व की ही भाँति चार वर्णों का विवरण मिलता है तथा बौद्ध ग्रंथों में भी यही वर्णन है परन्तु क्रम में क्षत्रिय एक पर है। अत: यह प्रतीत होता है कि सामाजिक सर्वोच्चता के लिए ब्राह्मण एवं क्षत्रिय एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो गए थे। वाणिज्य-व्यापार में संलग्न रहने के कारण वैश्यों की स्थिति बहुत अच्छी हो गई थी। शूद्रों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इन चारों वर्णों के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में लगी हुई जातियों का भी उल्लेख मिलता है; यथा– चण्डाल, पुक्कस, निषाद इत्यादि। इनमें अधिकांश को हीन जातियाँ तथा उनके व्यवसाय को हीन बताया गया है। दीवानी और फौजदारी कानून वर्ण और जाति को देखकर ही बनाए जाते थे। स्पृश्यता की भावना प्रबल थी, जाति बदलने का कोई विधान नहीं, परन्तु कुछ परिस्थितियों में आपदधर्म विधान के जरिए व्यवसाय बदलने की इजाजत के प्रारम्भिक संकेत मिलना शुरू हो जाते हैं। पाली ग्रंथों में दासों के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है।

स्त्रियों की दशा इस दौर में और भी खराब हो गई। नए धर्मों एवं संप्रदायों के बढ़ते प्रभाव से स्त्रियों को सुरक्षित रखने के लिए लड़कियों की शादी कम उम्र में ही की जाने लगी। गणिका तथा नगरीय रूपाजीवा जैसे शब्दों का उल्लेख भी समकालीन साहित्य में मिलता है, जैसे वैशाली की आम्रपाली। स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए संघ में स्त्रियों के प्रवेश की अनुमति दी थी परन्तु विशेष लाभ नहीं हुआ।

सांस्कृतिक स्तर पर इस युग ने मगध की पुण्यभूमि के माध्यम से भारत ही नहीं विश्व के अनेक भागों को धर्म और दर्शन की शिक्षा दी। इस समय गंगा घाटी में 62 धार्मिक सम्प्रदायों का उदय हुआ। आर्थिक सामाजिक परिवर्तनों ने संस्कृति को इस प्रकार प्रभावित किया कि धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में विश्व ख्याति प्राप्त धर्मों-जैन एवं बौद्धों के साथ-साथ आजीवक इत्यादि संप्रदायों का अभ्युदय एवं प्रसार हुआ। इन नवीन धर्मों ने अपनी सहजता एवं तार्किकता के कारण वर्णाश्रम व्यवस्था में निचले स्तर को लोगों को अपनी तरफ आकर्षित किया। नवीन धर्मप्रर्वतकों एवं प्रचारकों द्वारा जनसामान्य की बोली (प्राकृत एवं पालि) को उपदेश की भाषा के रूप में चुना जाना एक बौद्धिक क्रांति का द्योतक है, जो आधुनिक समय में साहित्य के आलोचक की आलोचनादृष्टि का महत्वपूर्ण प्रतिमान है।

ब्राह्मण धर्म के बाह्य आडम्बरों, अंधविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध में कई नास्तिक धर्म या सम्प्रदाय उदित हुए। बौद्ध साहित्य 'सुत्तपिटक' के 'दीघनिकाय का सामञ्जफलसुत्त' में बुद्ध के समकालीन छ: महान् व्यक्तियों का उल्लेख है। इनमें जैन धर्म के निगंठनातपुत्त, अक्रियावादी पूरन कश्चयप, आजीवक मक्खाली गोशाल, उच्छेदवादी अजिकेसकम्बलिन्, नित्यवादी पकुध कच्चायन तथा संदेहवादी संजय बेलेट्ठिपुत्त है। महाबोधिजातक में इन छ: के अलावा पाँच प्रमुख दार्शनिक

संप्रदायों– अहेतुवाद, पुब्बेकतवाद, उच्छेदवाद, इस्सरकर्णवाद और खत्तविज्जवाद की जानकारी मिलती है। परन्तु इन संप्रदायों में से जैन और बौद्ध ही चिरस्थायी सिद्ध हुए।

वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति कृषि के क्षेत्र तक की सीमित नहीं रहा बल्कि सामरिक रणनीति, हथियार निर्माण एवं चिकित्सा में भी उसकी महत्ती भूमिका रही। 'महाशिलाकाण्टक' एवं 'रथमूसल' जैसे हथियार की मदद से ही वज्जि संघ को पस्त करना आसान हो गया। 'शूल्वसूत्र' की रचना ने गणित एवं ज्यामिती प्रगति को सामने लाया। जीवक जैसे चिकित्सक ने असाध्य बीमारियों का सफल इलाज किया।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि छठी शताब्दी ई० पूर्व में महाजन पदों का विकास प्राकृतिक एवं कृत्रिमता के अनुनाश्रय संबंधों से अनुप्राणित है। लोहे का उपयोग, हाथी को सैन्य शक्ति बनाना, नदी को आर्थिक गतिविधियों का साधन और संचालित क्षेत्र हृदयस्थल राजधानी को दैवीय और कर्मशील सुरक्षा देकर बुद्धकालीन भारत का तीव्रगति से विकास होता है। मनन मंथन की परंपरा को उपनिषदीय गति नये दर्शन और विचारों के साथ बरकरार रहा।

संदर्भ-सूची

1. प्राचीन भारत : प्रो० रामशरण शर्मा
2. सोशल एवं रूरल इकोनोमी ऑफ नार्दन इंडिया : ए० एन० घोष
3. प्राचीन भारत का इतिहास : झा और श्रीमाली
4. अद्भूत भारत : ए०एल० बाशम
5. प्राचीन भारत का इतिहास : रोमिला थापर
6. प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति : के०सी० श्रीवास्तव
7. वही.
8. अद्भूत भारत : ए०एल० बाशम.

स्मृतियों में वर्णित धार्मिक विधान एवं नारी

महेन्द्र प्रताप यादव

रिसर्चफेलो, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का०हि० विश्वविद्यालय, वाराणसी

ऋग्वैदिक दार्शनिकों ने 'ऋत' की संकल्पना कर उसमें ऐसे आदर्श का परिदर्शन किया जो उनके अनुसार सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और जो केवल उसको उद्घाटित होती है जो उसके अनुसार जीवन जीता है और जो उसके अनुसार जीवन यापन करता है, वह एक सद्गुणी, पुण्यशील, विवेकी और नेक व्यक्ति होता है। इस प्रकार ऋत के द्वारा सदाचार के उच्च स्तर का अनुचिन्तन होता है। ऋग्वेद के विचारकों ने ऋत की संकल्पना में एक ऐसे आध्यात्मिक अस्तित्व का स्पन्दन अनुभूत किया जो सनातन और अपरिवर्तनशील था तथा जिसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का कोई विरोध होना सम्भव नहीं था।[1] इस ऋत का स्थान धर्मशास्त्रों के काल में धर्म ने ग्रहण कर लिया तथा सम्पूर्ण युग तक किए रहा। यानि वैदिक काल में विधि का आधार जहाँ ऋत था, धर्मशास्त्रों के काल में वहीं इसका आधार धर्म हो गया। इसी कारण भारतीय संस्कृति की मूल चेतना आध्यात्मिक बनी। हमारे धर्मशास्त्रकारों ने जीवन के सभी पक्षों सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक से सम्बन्धित विधि-विधानों के निर्माण में उक्त धर्म को ही आधार बनाया। उन्होंने नियमों एवं निर्देशों का सृजन कर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय का सफल प्रयास किया। जिनमें पुरुष एवं स्त्रियाँ दोनों सम्मिलित थे।

'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना, आलम्बन देना, या पालन करना। जो सद्वृत्तियों को धारण करता है वह धर्म है। इसका प्रयोग अधिकांशतः धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया-संस्कारों के रूप में हुआ है। कहीं-कहीं इसका अर्थ निश्चित नियम या आचार-नियम के सम्बन्ध में लिया गया है। अथर्ववेद में 'धर्म' शब्द का, प्रयोग 'धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण' के अर्थ में हुआ है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में 'धर्म' शब्द एकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः 'धर्म' शब्द का अर्थ समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रते हुए यह अन्त में मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बन्धनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार-विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। तैत्तरीयोपनिषद् में छात्रों के लिए जो धर्म प्रयुक्त हुआ है वह इसी अर्थ में है। यथा- 'सत्यंवद', 'धर्मचर' आदि।[3] भगवद्गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' में भी धर्म शब्द का यही अर्थ है। धर्मशास्त्र साहित्य में 'धर्म' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मनु ने दस गुणों को 'धर्म' माना है। धौर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय संयम, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध का त्याग-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणम्।। मनु०, 6.92

याज्ञवल्क्य ने सर्वसाधारण के लिए 'धर्म' के निम्नलिखित गुण बताए हैं- अहिंसा, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्र रहना, इन्द्रिय संयम, दान देना, दया करना, मन का संयम और क्षमा करना-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः सर्वेषां धर्मसाधनम्।। याज्ञवल्क्य 1.122

बृहस्पति ने सत्य, ज्ञान और तप तथा दान को धर्म का साधन माना है। इनके अनुसार सतयुग में तप ही धर्म था, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान, दया तथा दम ही धर्म है।[4] पूर्व मीमांसा सूत्र में जैमिन ने वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलने को धर्म माना है। उनके अनुसार धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया-संस्कारों से है, जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित और प्रशंसित है।[5] महाभारत में धर्म की एकांगी परिभाषा दी गयी है। यथा- 'अहिंसा परमोंधर्मः'[6] एवं 'आनृशंस्यं परो धर्मः'[7] आदि। हारीत ने धर्म को श्रुति प्रमाणक माना है।[8] इस तरह से धर्म का विभिन्न अर्थ तथा परिभाषाएँ की गयी हैं।

मनु ने धर्म के पाँच उपादान बताए हैं- सम्पूर्ण वेद, वेदज्ञों की परम्परा एवं व्यवहार, साधुओं का आचार तथा आत्मतुष्टि-

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। मनु०, 2.6

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वेद, स्मृति, सदाचार, जो अपने को प्रिय या अच्छा लगे तथा उचित संकल्प से उत्पन्न अभिकांक्षा या इच्छा- ये पाँच धर्म के उपादान हैं।[9] इन सबसे ज्ञात होता है कि वेद, स्मृतियाँ तथा परम्परा से चला आया हुआ शिष्टाचार (सदाचार) धर्म के मूल उपादान हैं। वेदों में धर्म विषयक विधियाँ स्पष्ट रूप से नहीं मिलतीं तथा ये धर्म सम्बन्धी निबन्ध नहीं हैं, उनमें धर्म सम्बन्धी बातें प्रसंगवश आयी हैं। वास्तव में धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों के यथातथ्य एवं नियमनिष्ठ विवेचन हमें स्मृतियों में ही प्राप्त होते हैं।

प्राचीन भारतीय समाज के मनीषियों ने मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, सुगठित तथा सुव्यवस्थित करने के उद्देश्य से आश्रम-व्यवस्था की नियोजना की, जिसके तहत मनुष्य के 100 वर्ष के जीवन को बराबर-बराबर चार भागों में बाँट कर ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों में व्यवस्थित किया जिनके लिए निर्धारित कार्यों को पूरा करते हुए व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सके।

'आश्रम' शब्द संस्कृत के 'श्रम' शब्द से बना है। आश्रम का अर्थ उद्योग, प्रयास अथवा प्रयत्न है। इस व्यवस्था का चरम लक्ष्य परमब्रह्म की प्राप्ति था। यह तभी सम्भव था जब व्यक्ति सभी आश्रमों के कर्तव्य एकनिष्ठ होकर करता था। ब्रह्मचर्य अवस्था में वह अपने जीवन का बौद्धिक विकास करता था और ज्ञान-विज्ञान से परिचित होता था तथा अपनी प्रतिभा एवं प्रज्ञा का पूर्णतः उत्कर्ष करने में समर्थ होता था। गृहस्थाश्रम में वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति करता था। वानप्रस्थ में घर-बार छोड़कर एकान्त जीवन व्यतीत करता था तथा भगवान की आराधना करता था

और ईश्वर प्राप्ति के निमित्त एक अभ्यास करता था। सन्यास आश्रम में वह सांसारिक मोह माया का पूर्ण त्याग करके परब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति का प्रयास करता था। वस्तुतः यह व्यवस्था मनुष्य के क्रमबद्ध तारतमिक जीवन दर्शन थी जिसके माध्यम से उसका विकास होता था और वह अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकने में सफल होता था।

यद्यपि आश्रम-व्यवस्था का प्रारम्भ ऋग्वैदिक काल में हो चुका था। किन्तु पूरे जीवन का चार भागों में विभाजन उत्तर वैदिक काल में किया गया।[10] जाबालोपनिषद् में चारों आश्रमों का उल्लेख हुआ है। जो यह स्पष्ट करता है कि उपनिषद् काल तक आश्रम-निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी। सूत्रों के काल में आश्रम व्यवस्था पूर्णरूप से व्यवस्थित हो गयी थी। स्मृतिकाल में इसने पूर्ण विकसित स्वरूप ले लिया तथा उसके विचित्र आचारगत नियमों की व्याख्या कर दी गयी। इसका पालन द्विज लोगों के लिए अनिवार्य माना गया। पालन करने वालों की प्रशंसा की गयी तथा न पालन करने वाले की निन्दा। वास्तव में यह व्यवस्था व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण आधार थी। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन इसी के माध्यम से समग्रता एवं गतिशीलता प्राप्त करता था। इसके तहत मनुष्य के जीवन की चार अवस्थाएँ अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से निर्मित की गयी थीं जिनके अनुसार बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था क्रमशः ब्रह्मचर्य के लिए, गृहस्थ के लिए, वानप्रस्थ के लिए तथा सन्यास के लिए निर्धारित अवस्थाएँ थीं। यहाँ यह स्पष्ट करना समीचीन होगा कि कर्तव्य और उत्तरदायित्व के आधार पर आश्रम व्यवस्था को आश्रम धर्म कहा गया है। जिस प्रकार वर्ण धर्म था उसी प्रकार आश्रम भी धर्म था। दोनों को समवेत रूप में वर्णाश्रम-धर्म कहा जाता है। यहाँ धर्म का अर्थ कर्तव्य, कर्म और उत्तरदायित्व से है। आश्रम-धर्म विभिन्न आश्रमों के कर्तव्यों और कर्मों को व्यंजित करता है। इस प्रकार आश्रम के विभिन्न कर्म आश्रम धर्म के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए आश्रम व्यवस्था सम्बन्धी समस्त विवरण धार्मिक विधि-विधानों के अन्तर्गत व्याख्यायित किए जा सकते हैं।

ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था मनुष्य के शैक्षिक एवं बौद्धिक विकास के लिए की गयी थी। इसका अर्थ है 'ब्रह्म' के मार्ग पर चलना जिसका तात्पर्य है इन्द्रिय निग्रह के साथ वेदाध्ययन करना। यह आश्रम उपनयन संस्कार के बाद प्रारम्भ होता था। ब्रह्मचारी इस आश्रम में रहकर वाह्य एवं अन्तः की शुद्धि करता था तथा वैदिक संस्कार एवं व्रत-नियमों का पालन करते हुए अपने मन को वश में करता था, प्रातः-सायं सन्ध्योपासना, सूर्योपासना एवं अग्निहोत्र द्वारा अग्निदेव की आराधना करता था, तन्द्रा एवं आलस्य को त्याग कर वेदों का अभ्यास एवं श्रवण करता था, भिक्षार्जन द्वारा अपना तथा गुरू के भोजन की व्यवस्था करता था तथा गुरू के निर्देशों का अनुपालन करते हुए अपने को द्विज बनाने का प्रयास करता था।[11] शिक्षा और ज्ञान प्राप्त कर वह अपने मस्तिष्क को विकसित करता था। अनुशासन एवं संयम द्वारा अपने भावी जीवन को निर्धारित तथा सुनियोजित मार्ग पर आगे बढ़ाता था। निश्चित रूप से यह समाज के दोनों धुरियों- स्त्री एवं पुरुष से जुड़ा था। अस्तु दोनों के लिए मनीशियों द्वारा व्यवस्था दिए जाने की आवश्यकता थी।

अथर्ववेद से पता चलता है कि वैदिक युग में स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए निर्दिष्ट किया गया था।[12] पर्याप्त संख्या में स्त्रियाँ इस व्रत का पालन करती थीं। उनका उपनयन संस्कार होता था, तत्पश्चात् वह ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर वेदाध्ययन करती थीं। उनका समावर्तन

संस्कार भी सम्पन्न होता था तथा विवाह के समय वह यज्ञोपवीत भी धारण करती थीं। यह व्यवस्था उनके लिए सूत्र काल तक रही। किन्तु स्मृतियों के काल में यह समाप्त कर दी गयी तथा बाल्यावस्था में ही उनके विवाह के नियम बना दिये गये और उन्हें गुरू की जगह पति की सेवा का ही निर्देश दे दिया गया–

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतिः।
पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया।। –मनु० 2.67

आश्रमों में सबसे महत्वपूर्ण गृहस्थाश्रम माना गया। इसी पर अन्य सभी आश्रम आश्रित थे। इस आश्रम में स्त्री की भूमिका महत्वपूर्ण थी। अस्तु उनसे सम्बन्धित ढेर सारे नियम बनाए गए। समावर्तन समारोह की समाप्ति के पश्चात् ब्रह्मचारी विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। मनु के अनुसार जिस प्रकार सभी नदी–नद सागर में संस्थित हो जाते हैं उसी प्रकार सभी आश्रम गृहस्थाश्रम में–

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितम्।
तथैववाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितम्।। –मनु. 6.90

व्यास का कहना है कि गृहस्थ धर्म का अनुसरण करने वाले को अपने गृह में ही कुरूक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदार तीर्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उसके सभी पाप धुल जाते हैं।[13] महाभारत के अनुसार गृहस्थ आश्रम में ही देवताओं, पितरों, मनुष्यों, अतिथियों के लिए आयोजन होते हैं तथा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति होती है।[14] गृहस्थाश्रम मनुष्य की कर्मपरायणता का काल था जिसके अन्तर्गत वह विभिन्न कार्यों को करता था। इस आश्रम में रहकर गृहपति अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि कर्तव्यों का पालन करता था। सत्य, अहिंसा, सब भूतों के प्रति दया, शम, सामर्थ्यानुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्तव्य थे। वह दस प्रकार के उत्तम धर्मों का सेवन करता था– घृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध त्याग।[15] मनु के अनुसार व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही इस संसार से विदा होता है तथा अकेला ही अपने कर्म के फल को भोगता है। परलोक में माता–पिता, पुत्र, पत्नी और सम्बन्धी नहीं मिलते। कवेल धर्म उसके साथ होता है। यही उसे नरक से निकालता है। इसलिए प्राणी को धर्म का, संचय करना चाहिए जो गृहस्थ धर्म के पालन से प्राप्त होता है। इस कारण गृहस्थ के लिए साधक की भाँति आचरण करना अनिवार्य था।[16] उसका यह आचरणगत कर्तव्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह आदि पर अवलम्बित था–

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्ति सर्वेषां धर्म साधनम्।। –याज्ञ०, गृहस्थ धर्म प्रकरण, 22

जिसका वह अपने कर्तव्यों के पालन में निर्वहन करता था। वह अपने परिवार के संचालन के लिए धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन करता था[17], यथासामर्थ्य दान देता था[18], अतिथि सत्कार करते हुए उसे भोजन–आसन प्रदान करता था[19], केवल अपने लिए ही भोजन न बनाकर अतिथि के लिए भी भोजन बनाता था[20] तथा अपनी शक्ति के अनुसार आसन, भोजन, शय्या, जल, फूल–फल आदि से उसका स्वागत करता था–

आशनासन शय्याभिरद्भिर्मल फलेन वा।

नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितेऽनार्चितोऽतिथिः।। –मनु० 4.29

ऐसा वह धर्म शास्त्रकारों द्वारा दी गयी व्यवस्था के तहत करता था जो उसके लिए करना अनिवार्य था। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि स्वधर्म के अनुरूप जीविका चलाना, विधानानुसार विवाह करना, अपनी भार्या से ही सम्पर्क रखना, देवताओं, पितरों और भृत्यों को सन्तुष्ट करने के उपरांत अवशिष्ट भोजन स्वयं ग्रहण करना गृहस्थ का प्रधान धर्म था–

"गृहस्थ स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षि वैवाह्यमृतु गामित्वे देव पितृ अतिथिभृत्येषु त्यागश्शेष भोजनं च।" –अर्थशास्त्र, 1.3

इस अनुसार रहते हुए वह एक उत्कृष्ट समाज का निर्माण करता था। सम्भवतः इसीलिए समस्त धर्मशास्त्रकारों ने गृहस्थ जीवन को श्रेयस्कर मानते हुए गृहस्थधर्म के अनुपालन के लिए विभिन्न नियमों की नियोजना की।

इस आश्रम में कई कर्तव्यों एवं दायित्वों को पूरा करने की अनिवार्यता की व्याख्या की गयी थी। जिसे व्यक्ति इस आश्रम में ही रहकर पूरा करता था। इनमें से सर्वप्रमुख कार्य ऋणों से मुक्ति सम्बन्धी अनुष्ठान था। धर्मशास्त्रकारों का मानना था कि पैदा होते ही मनुष्य देवताओं, पितरों, ऋषियों और मनुष्यों का ऋणी हो जाता है[21] जिनसे मुक्ति पाना मनुष्य का अनिवार्य कर्तव्य है।[22] ये ऋण थे– देव–ऋण, ऋषि–ऋण और पितृ–ऋण। मनु के अनुसार व्यक्ति को इन ऋणों से मुक्त होने के बाद ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। ऐसा किये बिना मोक्ष (सन्यास) सेवी व्यक्ति नरक में जाता है।[23] उनके अनुसार विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान कर मोक्ष में मन लगाना चाहिए–

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञै मनो मोक्षे निवेशयेत्।। –मनु०, 6.36

महाभारत में भी विधिपूर्वक किए गये यज्ञों से पितृगणों को, यज्ञ द्वारा देवताओं को तथा स्वाध्याय द्वारा ऋषियों को पूजित करने के उपरांत ही अन्य आश्रमों के माध्यम से सिद्धि प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।[24] वास्तव में इन ऋणों से मुक्ति के मूल में भाव यह था कि व्यक्ति समाज से लाभ उठाता है। अतः उसे अपने देवों, पितरों–पूर्वजों, ऋषियों आदि के प्रति श्रद्धावनत एवं विनीत रहते हुए कुल एवं समाज के प्रति सदाशयता का दृष्टिकोण रखना चाहिए।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य पंचमहायज्ञों का सम्पादन था। पंचमहायज्ञों की भी नियोजना उपरोक्त भावना से ही की गयी थी। कहा गया कि अग्नि जलाने में, पीसने में, गृह–सज्जा में तथा कूटने आदि में होने वाले पापों[25] के प्रायश्चित्त स्वरूप पाँच महायज्ञों का सम्पादन करना आवश्यक है। ये पंचमहायज्ञ थे– ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ। वेद का अध्ययन अध्यापन करना ब्रह्म यज्ञ था। इनके द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन ऋषियों के प्रति श्रद्धा एवं आदर व्यक्त करता था तथा स्वाध्याय द्वारा वेद की परम्परा को आगे बढ़ाता था। पितृयज्ञ के अन्तर्गत व्यक्ति पितरों का तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध का कार्य सम्पन्न करता था। इसके माध्यम से वह पितरों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था। पितृयज्ञ गृहस्थाश्रम में ही सम्भव था। हवन करना देवयज्ञ था। इसमें बलि और अग्नि की आहुति

देकर देवताओं का पूजन-अर्चन करके उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की जाती थी। अपने लिए उपलब्ध सुख-सुविधाओं के लिए ईश्वर के प्रति आभार व्यक्त करने का यह यज्ञ एक साधन था। बलिवैश्वदेव करना भूत यज्ञ था। इसके माध्यम से समस्त प्राणियों के प्रति बलि-प्रदान की व्यवस्था की गई। यह विघ्नकारी और अनिष्टकारी प्रेतात्माओं की तुष्टि के लिए सम्पन्न किया जाता था। इसमें बलि अग्नि में डालकर चारों दिशाओं में रख दी जाती थी। अतिथियों का भोजन-सत्कार करना नृयज्ञ था। इसे अतिथि यज्ञ भी कहा जाता था।

अतिथि सत्कार गृहस्थ का प्रधान कर्म माना गया। इसलिए सामाजिक, धार्मिक और नैतिक दृष्टि से इसका अत्यधिक महत्व था। अतिथि को देवता माना गया।[26] गृहस्थ प्रिय या अप्रिय दोनों प्रकार के अतिथियों का सत्कार करता था। अतिथि-सेवा प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान धर्म था। यह व्यक्ति को स्वर्ग पहुँचाने का माध्यम थी। वस्तुतः पंचमहायज्ञ गृहस्थ को हर क्षेत्र में उन्नतशील बनाने के माध्यम थे। ये नैतिक एवं धार्मिक धरातल पर अवस्थित थे जो जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने के सशक्त माध्यम थे।

जहाँ तक इन सारी व्यवस्थाओं में स्त्रियों की स्थिति का सम्बन्ध है, विधि शास्त्रियों द्वारा दी गई व्यवस्थाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्त्रियों का गृहस्थाश्रम में अत्यधिक महत्व था। स्त्री के सहयोग से ही गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होता था। बिना उसके सहयोग एवं सहायता के गृहस्थ का जीवन निरर्थक था। गृहस्थाश्रम के समस्त कार्य वह पत्नी के साथ तथा उसके सहयोग से कर पाने में सक्षम था। पुरुष का गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही विवाह के साथ होता था। स्त्री के लिए भी विवाह अनिवार्य था। ब्रह्मचर्य के बाद स्त्री सीधे वानप्रस्थ या सन्यास आश्रम नहीं अपना सकती थी। कुणिगर्ग की पुत्री सुभ्रू ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए वृद्धावस्था तक अपना जीवन तपश्चर्या में व्यतीत किया किन्तु बिना विवाह के सम्भव न होने[27] के कारण उसने अपनी तपस्या का आधा भाग एक ऋषि को प्रदान कर विवाह किया[28] और तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया। मनु के अनुसार प्रजननार्थ ही स्त्री की सृष्टि हुई।[29] अस्तु उसे गृहस्थाश्रम में रहना आवश्यक है। वह समस्त गार्हस्थ्य कर्म एवं यज्ञ सम्पन्न करती थी। वैदिक काल में वह यज्ञ में भाग लेती थी। कौशिल्या ने राम के राज्याभिषेक में यज्ञ किया-

सा क्षौमवसना दृष्टा नित्यं व्रत परायण।
अग्निं जुहोतिस्म तदा मंत्र विस्कृत मंगला।। -रामायण, 2.20.15

सुग्रीव से होने वाले युद्ध के लिए प्रस्थान करने से पहले बालि की पत्नी तारा ने यज्ञ किया।[30] स्त्री गृहस्थाश्रम में अतिथि सत्कार का भी व्रत करती थी। उसका परम कर्तव्य था कि गृहस्थ जीवन को वह सुखी एवं सम्पन्न बनावे। इसके लिए वह सर्वदा प्रयत्नशील रहती थी। उसे गृह साम्राज्ञी कहा गया।[31] वह गार्हस्थोपयोगी समस्त कार्यों का सम्पादन करती थी। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि स्त्री के लिए गृहस्थाश्रम का जीवन आवश्यक था। इस आश्रम के समस्त दायित्वों का निर्वाह करते हुए वह परिवार के समस्त सदस्यों के साथ स्नेहशील व्यवहार तथा सहयोग द्वारा अपने परिवार को खुशहाल बनाती थी।

गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम प्रारम्भ होता था। मनुष्य अपने समस्त गार्हस्थ कर्तव्यों एवं दायित्वों का निर्वाह करके सांसारिक माया-मोह का त्याग कर ईश्वर आराधना में मन लगाने हेतु वन की ओर प्रस्थान करता था। मनु ने इसके लिए वय का निर्धारण करत हुए कहा कि जब व्यक्ति के

सिर के बाल स्फेद होने लगे, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगे और उसके पौत्र हो जायँ तब उसे वानप्रस्थी होकर जंगल की ओर चल देना चाहिए–

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपपिलतमात्मनः।
अपत्यश्चैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत।। –मनु० 6.2

पत्नी को साथ ले जाना या न ले जाना व्यक्ति तथा स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता था। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ जीवन न अपनाने वाले लोगों को धर्म-शास्त्रकारों ने पापकर्मा कहा।[32] वानप्रस्थ में व्यक्ति त्याग, तप, अहिंसा तथा ज्ञान का अर्जन करता था। इनके द्वारा वह आध्यात्मिक उत्कर्ष करता था तथा समस्त भौतिक स्पृहाओं से मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करता था। इसके लिए वह संयमित तथा कठोर जीवन का अनुपालन करता था।[33] मनु ने वानप्रस्थाश्रमी को सदैव वेदाध्ययन में लगे रहने का निर्देष दिया। उनके अनुसार उसे ठण्डा, गरम, सुख-दुख तथा मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहन करना चाहिए, सबसे मित्रता का भाव रखना चाहिए, मन को वश में रखना चाहिए, दानशील होना चाहिए तथा जीवों के प्रति दया करना चाहिए–

स्वाध्याये नित्य युक्तः स्याद्वान्तो मैतः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभ्यतानुकम्पकः।। –मनु० 6.8

दिन में दो बार स्नान तथा होमानुष्ठान के साथ वानप्रस्थी उक्त नियमों का सख्ती के साथ अनुपालन करता था। पंचमहायज्ञ तथा अतिथि सत्कार को वह प्रधान कर्तव्य मानता था। वस्तुतः वानप्रस्थी का जीवन अत्यन्त साधना, त्याग, कठोर तथा संयम एवं तप का जीवन था जिसके माध्यम से वह मोक्ष की प्राप्ति की ओर अपने को उन्मुख करता था।

स्त्रियाँ इस आश्रम में अपने पति के साथ प्रवेश कर सकती थीं।[34] स्त्रियों के लिए वानप्रस्थाश्रम पुरुषों की तरह अनिवार्य नहीं था। यह उसकी इच्छा पर था कि वह वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे या न करे। स्त्रियों के वानप्रस्थ आश्रम में जाने के उदाहरण भी कम ही मिलते हैं। मान्धाता ने अपनी स्त्रियों के साथ वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था।[35] अगस्त्य ऋषि ने अपनी पत्नी के साथ वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया था।[36] सुकन्या, रेणुका, सीता आदि ने वैकल्पिक वन गमन किया था।[37] इनके अलावाँ धर्मग्रन्थों से ज्ञात होता है कि वैदिक युग में स्त्रियाँ अपना जीवन तपस्या एवं साधना में लगाती थीं। वन अथवा निर्जन में ध्यानमग्न होकर तपश्चर्या करती थीं तथा परमब्रह्म की प्राप्ति का प्रयास करती थीं। इसके लिए वह सदाचरण एवं ब्रह्मचर्य का अनुगमन करती थीं तथा भौतिक सुख-सुविधा एवं सांसारिक मोह-माया से मन विरक्त करती थीं और मोक्ष प्राप्ति में मन लगाती थीं। अरुन्धती, माधावी, मृत्युदेवी अत्रिभार्या, सुलभा आदि इसका उदाहरण हैं।[38] पार्वती भी भगवान शिव की प्राप्ति के लिए कठोर तपश्चर्या की थीं। परन्तु ये सब उदाहरण बहुत कम हैं। सामान्यतया स्त्रियाँ गृहस्थ जीवन ही व्यतीत करती थीं। जहाँ तक इनके लिए विधिक व्यवस्था का प्रश्न है, इनके लिए वानप्रस्थी जीवन निषेधित नहीं था और न ही अनिवार्य था।

मनुष्य के जीवन का अन्तिम आश्रम सन्यास आश्रम था। यह वानप्रस्थ के पश्चात् प्रारम्भ होता था। इस आश्रम में पहुँचने के बाद मनुष्य सन्यासी, भिक्षु, यति, परिवाट तथा परिव्राजक संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। मनु ने इस सम्बन्ध में कहा है कि अपने वय के तीसरे भाग को वानप्रस्थ में बिताकर परिव्राजक बनना चाहिए –

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुथमायुषो भाग त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेता।। –मनु०, 6.33

साथ ही उन्होनें यह भी कहा है कि मनुष्य को तीन ऋणों (देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण) को पूरा करके ही मोक्ष में लगाना चाहिए। बिना इसे पूरा किए मोक्ष सेवन (सन्यास का पालन) करने वाला व्यक्ति नरक को जाता है–

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधाः।। –मनु०, 6.35

अतः पहले के तीनों आश्रमों का दायित्व निर्वाह करके ही व्यक्ति सन्यास आश्रम में जाता था।

इस आश्रम में व्यक्ति पूरी तरह निर्लिप्त निस्पृह होकर मोक्ष प्राप्ति के कार्यक्रमों में लग जाता था। क्योंकि इस आश्रम का मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति था। वह राग-द्वेष, मोह-माया से अलग एकदम एकाकी जीवन व्यतीत करता था तथा अपनी स्पृहा, इन्द्रिय एवं आचरण पर नियंत्रण रखता था। संग्रह नहीं करता था[39] और समरसता का पूर्णतया पालन करता था। मनु के अनुसार सच्चा सन्यासी वह था जो लौकिक अग्नि से रहित, गृहहीन, शरीर के रोग ग्रस्त होने पर भी अपनी चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं करता था, स्थिर बुद्धि था, ब्रह्म का मनन करने वाला तथा ब्रह्म में भाव रखने वाला होता था। इन्हीं गुणों से युक्त सन्यासी गाँव में भिक्षा के लिए जा सकता था।[40] वह भ्रमणशील होता था किन्तु एक गाँव में एक रात्रि तथा एक नगर में पाँच रात्रि से ज्यादा नहीं रुक सकता था।[41]

स्त्रियों के लिए सन्यास आश्रम का उल्लेख साधारणतया किसी धर्मशास्त्रकार ने नहीं किया है। सामान्यतया यह व्यवस्था पुरुषों के लिए थी उसमें भी ब्राह्मणों के लिए ही। अन्य वर्णों का प्रवेश परवर्तीकाल में और सीमित रूप में हुआ। बौद्धयुग में स्त्रियों के भिक्षु जीवन या सन्यास का साक्ष्य प्राप्त होता है। कदाचित् यह बौद्ध धर्म के प्रभाव का परिणाम था। धर्मशास्त्रों के अध्ययनोपरांत यह ज्ञात होता है कि लगभग सभी बुद्धिजीवी स्त्रियों के प्रवज्या ग्रहण करने के समर्थक नहीं थे। उनका मानना था कि स्त्रियों के प्रव्रजित होने से समाज एवं धर्म में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी। क्योंकि नारी अपनी तथा समाज की सुरक्षा कर सकने में सक्षम नहीं होती। उससे नैतिक आदर्शों से च्युत होने की आशंका सदैव बनी रहती है। सन्यासी या भिक्षु बनकर नारी अपनी दुर्बलताओं को समाप्त नहीं कर सकती। धर्मशास्त्रकारों ने सबसे ज्यादा ध्यान नारी के शीलभंग पर दिया जिससे बचना स्त्री के लिए कठिन होता था और जिसके कई उदाहरण भी प्राप्त हो चुके थे।[42]

इस तरह से स्पष्ट होता है कि आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व के उत्थान का महत्वपूर्ण आधार थी। प्रारम्भ से अन्त तक मनुष्य का जीवन इसी व्यवस्था से होकर गुजरता था तथा समग्रता को प्राप्त करता था। सभी आश्रमों के लिए अलग-अलग वय निर्धारित थे। जिनमें व्यक्ति समय और उम्र के अनुसार अपने को आगे के आश्रमों के योग्य बनाता हुआ अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयास करता था। यद्यपि हमारे मनीषियों ने ब्रह्म की प्राप्ति पर मुख्य बल दिया जिसका जीव एक अंश होता है चाहे वह स्त्री रूपी शरीर में हो अथवा पुरुष रूपी शरीर में। सन्यास आश्रम का पूरा लक्ष्य ही मोक्ष (ब्रह्म) प्राप्ति का था। किन्तु स्त्रियों को सन्यास आश्रम से अलग रखने की उनकी मानसिकता हमें उनके द्वारा दिए गए विधान की ईमानदारी पर सोचने को बाध्य करती है। फिर

भी सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम सबसे महत्वपूर्ण था जिसमें रहते हुए मनुष्य जीवन की लगभग समस्त जिम्मेदारियों का निर्वहन करता था।

यज्ञ परम्परा से चले आ रहे हिन्दू धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग रहे हैं जो आज भी अपनी महत्ता बनाए हुए हैं। प्राचीन काल में इसके दो प्रकार थे- श्रौतयज्ञ और पंचमहायज्ञ। श्रौतयज्ञ का सम्पादन गृहस्थ पुरोहित के माध्यम से करता था। पंच महायज्ञ बिना किसी पुरोहित के वह स्वयं करता था। श्रौत यज्ञ स्वर्ग, सम्पत्ति तथा पुत्र की लालसा से किया जाता था। पंच महायज्ञ पापों से निवृत्ति दिलाते थे। इनके द्वारा द्विज अपने कर्तव्यों का पालन करता हुआ आध्यात्मिक, दैविक, भौतिक आदि ऋणों से मुक्त होकर देवत्व तक पहुँचता था।[43] यह विधाता, देवगण, प्राचीन ऋषियों, पितरों, जीवों एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रति अपने कर्तव्य के पालन के उद्देश्य से किया जाता था।

चूल्हा, चाकी, झाड़ू, सूप, ओखली-मूसल एवं जलघट से प्रतिदिन आहत होने वाले प्राणियों के पापों से निवृत्ति हेतु गृहस्थ द्वारा निम्नलिखित पंचमहायज्ञों के सम्पन्न किए जाने की व्यवस्था धर्म शास्त्रकारों ने की थी- ब्रह्मयज्ञ (अध्ययन, अध्यापन, सन्ध्योपासना), देवयज्ञ (यज्ञ करना), पितृयज्ञ (पितरों का तर्पण, माता-पिता की सेवा), भूतयज्ञ (जीवों को अन्न देना), मनुष्य यज्ञ (अतिथि सत्कार) आदि -

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्।। -मनु०, 3.70

इस प्रकार अपनी सामर्थ्य के अनुसार पंचमहायज्ञ का सम्पादन करके मनुष्य सभी पापों से मुक्ति प्राप्त करता था।

प्रतिदिन स्वाध्याय, वेदों का अध्ययन एवं सन्ध्या ब्रह्मयज्ञ था। इसके द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन ऋषियों के प्रति श्रद्धा और आदर व्यक्त करता था तथा स्वाध्याय द्वारा वेद की परम्परा को आगे बढ़ाता था। लघु व्यास के अनुसार प्रतिदिन के स्वाध्याय को यज्ञ के साथ करना चाहिए।[44] गोभिल का मत है कि सन्ध्या के जप को ही ब्रह्मयज्ञ मानना चाहिए। अतः ब्रह्मयज्ञ को तर्पण के पूर्व प्रातः होम के पूर्व या वैश्वदेव के अनन्तर करना चाहिए।[45] बौधायन के अनुसार 'ओम् भूर्भुवः' कहकर गायत्री का जाप ही ब्रह्मयज्ञ है। यह मनुष्य को सभी पापों से मुक्त करता है।[46] उन्होंने स्वाध्याय को ही सम्पूर्ण ब्रह्मयज्ञ बताया है। स्वाध्याय से मनुश्य मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।[47] वृद्ध गौतम ने ब्रह्मयज्ञ की सफलता के लिए पाँच प्रकार की स्वच्छता आवश्यक बतायी है- मन की शुद्धि, कर्म की शुद्धि, कुल की शुद्धि, शरीर की शुद्धि और वाणी की शुद्धि।[48] ब्रह्मयज्ञ में स्वाध्याय के साथ शिष्यों को पढ़ाना भी सम्मिलित था। गुरू-शिष्य को नियमित वेद पढ़ावे यह ब्रह्मयज्ञ है।[49] सन्ध्या भी ब्रह्मयज्ञ का महत्वपूर्ण अंग थी। दिन और रात्रि के सन्धिकाल पर सुबह एवं शाम सन्ध्या की जाती थी। मनु के अनुसार प्रातः कालीन सन्ध्योपासना पूर्वाभिमुख होकर एकान्त में खड़े होकर सूर्योदय तक सावित्री (गायत्री मंत्र) के जप के साथ तथा सन्ध्याकाल में ताराओं के उदय होने तक पश्चिमाभिमुख होकर बैठकर करना चाहिए।[50] सन्ध्योपासना की प्रचलित विधियाँ भी थी- आचमन, प्राणायाम, मार्जन (मंत्रो द्वारा अपने ऊपर जल छिड़कना), गायत्री जप, उपस्थान एवं मन्त्रों से ईश प्रार्थना। मनु के अनुसार प्रातःकालीन सन्ध्या से रात्रि के किए हुए पाप और सायंकालीन सन्ध्या से दिन में किए हुए पाप नष्ट

होते हैं।[51] वस्तुतः ब्रह्म के अन्तर्गत स्वाध्याय, अध्ययन, यज्ञ एवं सन्ध्या आदि कार्य आते थे। इनके समुचित निर्वहन से मनुष्य धर्म का अर्जन करते हुए जीवन के मुख्य लक्ष्य की ओर बढ़ता था।

देवयज्ञ के द्वारा मनुष्य देवताओं के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता था। इसमें बलि और अग्नि की आहुति देकर देवताओं का पूजन-अर्चन किया जाता था। मनु ने होम को देवयज्ञ कहा है।[52] उनके अनुसार प्रतिदिन स्नान करके देवयज्ञ और पितृयज्ञ करना चाहिए।[53] बौधायन और गौतम के अनुसार देवता का नाम लेकर 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि में हवि या कम से कम एक समिधा डाल देना देवयज्ञ है।[54] विष्णु स्मृति के अनुसार यज्ञ, दान और तप ये तीन मनुष्य को पवित्र करते हैं। अतः इन्हें निष्काम भाव से अवश्य करें-

यज्ञो दानं तपः कर्म, पावनानि मनीषिणाम्।
यज्ञो दानं तपस्तस्मात्, कुर्यादाशाविवर्जितः।। -विष्णु०, 85-86

वृद्ध हारीत ने यज्ञ कर्म में नौ कार्यों को रखा है- अर्चन, मंत्रपाठ, ध्यान, होम, वन्दना, मंत्रार्थ-चिंतन, योग, विष्णु-पूजा, गुरूसेवा आदि।[55] साथ ही इन्होंने यज्ञ में डालने या न डालने योग्य वस्तुओं की सूची भी दिया है। डालने योग्य वस्तुएँ हैं- घी, गुड, शर्करा, मधु, दधि, खीर.....आदि। त्याज्य हैं- मद्य, मांस, अभक्ष्य वस्तुएँ, नमक, दुर्गन्धित और कीड़े के खाए काष्ठ आदि।[56] यज्ञ के लिए तीन अग्नियों का विधान था- आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि। प्रथम का अग्निकुण्ड वर्गाकार, द्वितीय का वृत्ताकार (गोल) तथा तृतीय का चन्द्रमा के गोलार्द्ध के तुल्य। इस प्रकार देवयज्ञ के लिए किए जाने वाले यज्ञ के सम्बन्ध में विधिवत् नियम-निर्देशों की नियोजन की गई थी। इसकी अनिवार्यता को परिभाषित करते हुए मनु ने लिखा है कि विधिपूर्वक अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएँ होती हैं। इस प्रकार प्रजाओं की उत्पत्ति का मूलकारण हवन है। अतः प्रतिदिन विधिपूर्वक हवन करना चाहिए।[57] स्त्री के लिए यज्ञ की अनिवार्यता बतायी गयी थी। उसके लिए निर्देश था कि वह यज्ञ न छोड़े। रजस्वला की अवधि में वह तीन दिन की अशुद्धता की अवधि पूरी करके सभी दिन यज्ञ सम्पन्न करे।[58]

पितरों के लिए किया जाने वाला कर्मकाण्ड पितृयज्ञ था।[59] इसके अन्तर्गत व्यक्ति पितरों का तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध कार्य सम्पन्न करता था। इसके माध्यम से वह पितरों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था। मनु ने तर्पण करने को पितृयज्ञ कहा है।[60] उनके अनुसार जो ब्राह्मण स्नान करके जल से पितरों को तृप्त करता है, उसी से वह सम्पूर्ण पितृश्राद्धकर्म के फल को प्राप्त करता है-

यदेव तर्पत्यदिभः, पितृनस्नात्वा द्विजोत्तम्।
तेनैव कृत्स्नामप्नोति, पितृयज्ञ क्रियाफलम्।। -मनु०, 3.283

बौधायन के अनुसार जलपात्र से स्वधा एवं तर्पण पितृयज्ञ था।[61] यह यज्ञ तीन प्रकार से सम्पादित किया जाता था- तर्पण द्वारा, बलिहरण द्वारा तथा प्रतिदिन श्राद्ध द्वारा। बलिहरण द्वारा किए जाने वाले यज्ञ में बलि का शेषांश दक्षिण दिशा में पितरों के लिए स्वधा के रूप में दिया जाता था।[62] गृहस्थ द्वारा अन्नादि से, जल से, दूध, मूल और फलों से पितरों को सन्तुष्ट करने हेतु प्रतिदिन किया जाने वाला श्राद्ध भी पितृयज्ञ था।[63] उक्त प्रकार से गृहस्थ अपने पितरों को सन्तुष्ट करते हुए उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता था।

बलिवैश्वदेव यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य माना गया था। इसका अर्थ है देवताओं को पक्वान्न देना। इसमें गृहस्थ अपनी सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों और मनुष्यों विशेष रूप से दीन, अनाथ और तपस्वियों को भोजन देता था।[64] मेधातिथि और लघुव्यास के अनुसार वैश्वदेव बलि यदि सुरक्षित हो तो गृहाग्नि में, नहीं तो लौकिक अग्नि में देनी चाहिए। यदि अग्नि न हो तो इसे जल में या पृथ्वी पर छोड़ देना चाहिए।[65] गौतम के अनुसार बलिवैश्व के देवता अग्नि, धन्वन्तरि, वैश्वदेव, प्रजापति और स्विष्टकृत (अग्नि) हैं।[66] मनु के अनुसार अग्नि, सोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू, अनुमति, प्रजापति द्यावा पृथ्वी और स्विष्टकृत अग्नि हैं।[67] विष्णु स्मृति के अनुसार वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध, पुरुष, सत्य, अच्युत, अग्नि, सोम, मित्र, वरुण, इन्द्र, इन्दाग्नि, विश्वेदेव, प्रजापति, अनुमति धन्वन्तरि, वास्तोष्यति, स्विष्टकृत अग्नि आदि हैं।[68] यह यज्ञ सुबह एवं शाम दोनों समय किया जाता था। मिताक्षरा ने इसे पुरुषार्थ माना है।[69] इसका सम्पादन संयुक्त परिवार में पिता या बड़ा भाई करता था। विशेष परिस्थितियों में पुत्र या छोटा भाई करता था।[70] मनु ने स्त्री के लिए भी इसका विधान किया है। उनके अनुसार स्त्री सायं काल पके हुए अन्न को बिना मंत्रोच्चारण के बलि दे सकती है–

सायं त्वन्नस्य विद्धस्य, यस्य मन्त्रं बलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्, सायं प्रातिर्विधीयते।। –मनु०, 3.121

अतिथियों का भोजन-सत्कार करना नृयज्ञ था। इसे अतिथि यज्ञ भी कहा जाता था। याज्ञवल्क्य ने पथिक श्रोत्रिय तथा वेद पण्डित को गृहस्थ का मान्य अतिथि बताया है।[71] मनु ने ब्रह्मचारी, सन्यासी और याचक को ही अन्न देने का निर्देश दिया है।[72] इस तरह से पात्र व्यक्ति की ही अतिथि सेवा का समर्थन धर्मशास्त्रकारों ने किया है। अतिथि सत्कार गृहस्थ का प्रधान कर्म माना गया था। दक्ष का कहना है कि यदि कोई सन्यासी किसी गृहस्थ के यहाँ एक रात्रि अतिथि के रूप में निवास करता है तो वह उसके जीवन के सारे पापों को नष्ट कर देता है।[73] सभी लोग भोजन पर निर्भर रहते हैं। भोजन जीवन (प्राण) है। अतः भोजन देना अति श्रेयस्कर कार्य है। इसलिए यह सर्वोत्तम हवि है। इसीलिए धर्मशास्त्रकारों ने कहा है कि बिना अन्य को खिलाए स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए।[74] इसी कारण नृयज्ञ सामाजिक, धार्मिक और नैतिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण था। अतिथि सेवा व्यक्ति को स्वर्ग पहुँचाने का माध्यम थी।

वस्तुतः पंचमहायज्ञ गृहस्थ को हर क्षेत्र में उन्नतशील बनाने के माध्यम थे। ये धार्मिक और नैतिक धरातल पर अवस्थित थे जो जीवन के सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने के सशक्त माध्यम थे। ये सभी यज्ञ धर्मशास्त्रकारों द्वारा बनाए गए नियम-निर्देशों के तहत सम्पन्न किए जाते थे।

यज्ञ सम्बन्धी उक्त विवरण स्पष्ट करते हैं कि इनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक था जो उसके जीवन को सार्थक बनाता था। इनसे सम्बन्धित विधानों में पत्नियों का अत्यधिक महत्व था। लघ्वाश्वलायन ने कहा है कि जहाँ पत्नी रहती है वहाँ यज्ञ हो सकता है। बौधायन ने पति-पत्नी दोनों को यज्ञ करने का आदेश दिया है और उन्हें ऋत्विज के समान माना है।[75] गोभिल ने कहा है कि पति-पत्नी की अनुपस्थिति में पुरोहित द्वारा कराया जाने वाला यज्ञ भी निष्फल हो जाता है।[76] दक्ष स्मृति के अनुसार यज्ञ स्वयं करना चाहिए। दूसरे के द्वारा यज्ञ करने से उतना फल नहीं प्राप्त होता है।[77] वृद्ध हारीत ने स्पष्ट रूप से स्त्री को यज्ञ करने और वेद के मंत्रों का जप करने का विधान किया है।[78] उनके अनुसार स्त्री गायत्री मंत्र का जप करे, पूजा करे और प्रतिदिन यज्ञ करे।[79] लघुव्यास के

अनुसार पति की आज्ञा से स्त्री को विधिवत् यज्ञ करना चाहिए।[80] कात्यायन का कहना है कि प्रवास जाते समय पति यज्ञ का समस्त भार पत्नी को दे सकता है। यज्ञ के द्वारा स्त्री को सौभाग्य, अवैधव्य, पतिभक्ति आदि गुण प्राप्त होते हैं।[81] उनके अनुसार पति को पत्नी के साथ यज्ञ करना चाहिए।[82] जिस यज्ञ में पति के साथ पत्नी नहीं बैठती है, वह यज्ञ न किए हुए के समान है। ऐसे यज्ञ से लाभ नहीं होता है।[83] ऋत्विज को भी पति-पत्नी के सामने ही यज्ञ करना चाहिए। उनके पीछे किया गया यज्ञ निरर्थक हो जाता है।[84] किन्तु उन्होंने यह भी कहा है कि द्रोह एवं द्वेष करने वाली व्रतहीन एवं दुश्चरित्र तथा शूद्र स्त्री को यज्ञ कार्य में नहीं लगाना चाहिए।[85]

लघु आश्वलायन ने यज्ञ के लिए स्त्री का और महत्व बढ़ाते हुए लिखा है कि जहाँ पत्नी है वहीं पति-पत्नी को यज्ञ करना चाहिए। धर्माचरण करने वाली पत्नी जिस स्थान पर है वही यज्ञ के लिए शुभ-स्थान है।[86] अत्रि का कहना है कि स्त्री वामांगी है, किन्तु यज्ञ, विवाह और श्राद्ध में वह पति के दाहिनी ओर बैठती है।[87] यद्यपि स्त्रियों के लिए यज्ञ का विधान धर्मशास्त्रकारों ने किया था और यज्ञ के लिए उनकी महत्ता भी बताया था, किन्तु कुछ शर्तें भी लगायी थीं। मनु का कहना है कि अविवाहिता पुत्री, विवाहिता युवा पुत्री, कम पढ़ा-लिखा, मूर्ख व्यक्ति, रोगी तथा जिसका उपनयन न हुआ हो, ये लोग किसी गृहस्थ की जगह पर यज्ञ नहीं कर सकते।[88] उनके अनुसार पत्नी बिना पति तथा पति की आज्ञा के स्वतंत्र रूप से कोई धार्मिक कृत्य (यज्ञ, व्रत, उपवास) नहीं कर सकती है।[89] विष्णु के अनुसार यदि एक ही वर्ण की कई पत्नियाँ हों तो उनमें सबसे पहले जिससे विवाह हुआ हो उसी के साथ धार्मिक कृत्य किए जायँ।

ब्राह्मण शूद्र पत्नी के साथ धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता।[90] सभी व्यवस्थाकारों ने स्वजातीय स्त्री के साथ ही यज्ञ करने पर बल दिया है। याज्ञवल्क्य का कहना है कि सवर्ण जाति की पत्नी के जीवित रहते दूसरी पत्नी धार्मिक कार्य नहीं कर सकती। यदि सवर्ण पत्नियाँ अनेक हो तो ज्येष्ठ पत्नी को छोड़कर दूसरी पत्नी के साथ धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता-

सत्यमन्यां सवर्णायां, धर्म कार्यं न कारयेत्।
सवर्णासु विधौ धमेर्य, ज्येष्ठया न विनेतरा।। -याज्ञ०, 1.88

याज्ञवल्क्य की व्याख्या में विश्वरूप ने लिखा है कि शूद्र पत्नी को छोड़कर अन्य सभी पत्नियाँ श्रौत अग्नि जला सकती हैं अर्थात् यज्ञ कर सकती है।[91] मनु के अनुसार धार्मिक कार्य सजातीय स्त्री को करना चाहिए। अन्य जाति वाली स्त्री को कदापि नहीं करना चाहिए।[92] जो अन्य जाति की स्त्री से धार्मिक कार्य कराता है। वह चाण्डाल हो जाता है।[93] इस तरह से से यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थ आश्रम में स्त्रियाँ अति महत्वपूर्ण स्थान रखती थीं। गृहस्थ धर्म का अनुपालन वह पुरुष के साथ-साथ बराबर अधिकार से करती थीं। गृहस्थ धर्म में पंचमहायज्ञों का महत्वपूर्ण स्थान था जिनका सम्पादन बिना स्त्री के नहीं हो पाता था। यज्ञों के लिए स्त्रियों की अनिवार्यता उनकी स्थिति को स्पष्ट करता है।

हिन्दू धार्मिक क्रिया में जप का अत्यधिक महत्व था। यह सन्ध्या पूजन का एक महत्वपूर्ण भाग था। मनु ने गायत्री मंत्र के जप पर बल दिया है। उनके अनुसार दोनों समय गायत्री मंत्र का जप करने से ब्राह्मण वेद के पुण्य को प्राप्त करता है-

एकदक्षरमेतां च, जपन् व्यहृति पूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्वप्रो, वेद पुण्येन पूज्यते।। –मनु०, 2.78

उनका कहना है कि एक हजार गायत्री-जप से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।[94] याज्ञवल्क्य के अनुसार मनुष्य को अपने सामर्थ्यानुसार वेद, अथर्ववेद, पुराण तथा इतिहास का जप करना चाहिए।[95] गौतम का कहना है कि जप से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।[96] शातातप स्मृति के अनुसार पूर्व जन्म के पापों से विविध व्याधियाँ होती हैं। इन्हें जप, पूजा, यज्ञ तथा दान से नष्ट किया जा सकता है।[97] वसिष्ठ के अनुसार मौन जप सबसे श्रेष्ठ है।[98] गोभिल का मानना है कि मंत्रोच्चारण चुप चाप करना चाहिए। यही ब्रह्म यज्ञ है।[99] शंख के अनुसार गायत्री मोक्ष देने वाली हैं। इसलिए इसका जप करना चाहिए।[100] याज्ञवल्क्य का मानना है कि 'गायत्री' चारों वेदों का सार है और 'ओऽम्' सारे संसार का सार है। अतः इनका जाप करना चाहिए।[101] वृद्ध याज्ञवल्क्य ने ओऽम् के जप को श्रेष्ठ माना है। उनके अनुसार शान्त एवं पवित्र मन से ओऽम् का जाप करना चाहिए।[102] इनके मतानुसार वाच्य परमात्मा और वाचक ओऽम् है। वाचक ओऽम् के द्वारा उक्त वाच्य परमात्मा प्रसन्न होता है।[103] जप के लिए स्थान का भी अत्यधिक महत्व था। इसलिए मनीषियों ने इस पर विचार किया तथा वन, नदी तीर, शुद्ध पवित्र स्थान, मन्दिर, यज्ञशाला, शिवालय, सिद्ध क्षेत्र, गोशाला, समुद्रतट, पर्वत की चोटी, झरना आदि को जप के लिए उत्तम स्थान बताया। समृतियों तथा टीका एवं निबन्धों में जप के सम्बन्ध में स्त्री के लिए अलग से कोई नियम नहीं बनाया गया है। जप के स्थान एवं विधियों सम्बन्धी नियम से यह अनुमान किया जा सकता है कि स्त्रियाँ जप से कम संलग्न रही होंगी। फिर भी उनकी संलग्नता जप से थी।

तप हिन्दू धर्म का महत्वपूर्ण अंग रहा है। यह सुख प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन माना गया है। मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य, जप, हवन, यथासमय शुद्ध एवं स्वल्प भोजन के सेवन और राग-द्वेष तथा लोभ का त्याग तप है।[104] उनका कहना है कि देवता और मनुष्य के सुख का मूल तप है। सुख तप से ही स्थिर रहता है। सुख का अन्तिम लक्ष्य तप है।[105] विष्णु स्मृति के अनुसार समस्त संसार तप के कारण ही चल रहा है। संसार का आदि, मध्य और अन्त तप ही है-

तपो मूलमिदं सर्वदवे मानुषजं जगत्।
तपो मध्यं तपोऽन्तं च तपसा च तथा वृतम्।। –विष्णु. अ. 95

मनु के अनुसार संसार का कोई ऐसा कार्य नहीं है, जो तप से सिद्ध न हो सके। तप की महिमा अनन्त हैं।[106] याज्ञवल्क्य के अनुसार यज्ञ दान और तप से मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[107] लघुहारीत ने वानप्रस्थी के लिए कठिन व्रत का विधान किया है।[108] सन्यासी के लिए भी कठिन विधान उन्होंने किया।[109] चूँकि तप वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम से जुड़ा था, इसलिए स्त्रियों द्वारा इसका सेवन कम मात्रा में ही किया जाता था। किन्तु ब्रह्मचर्य, हवन, शुद्धाल्प भोजन, राग-द्वेष एवं लोभ के त्याग के द्वारा स्त्रियाँ इससे काफी हद तक जुड़ जाती थीं। तप के सम्बन्ध में स्त्रियों के लिए पुरुषों से अलग कोई विधान नहीं था।

देवताओं, ऋषियों तथा पितरों को जल देकर सन्तुष्ट करना ही तर्पण था। गोभिल के अनुसार संसार के चराचर जीव जल की अपेक्षा करते हैं। अतः तर्पण आवश्यक कर्म है। इसके द्वारा संसार

की रक्षा की जाती है।[110] श्राद्ध के समान ही तर्पण के द्वारा पिता एवं माता के कुल की चार पीढ़ियों को संतृप्त किया जाता है। इनमें माता कुल के नाना, नानी, परनाना-परनानी तथा पिता कुल के दादा-दादी एवं परदादा-परदादी समाहित हैं। तर्पण से पितरों को सन्तुष्ट करते हुए पितृ यज्ञ की पूर्ति की जाती थी।[111] इसमें स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। तर्पण में पुरुष अथवा स्त्री दोनों की समान भागीदारी होती थी। स्त्री के लिए इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

व्रत से स्त्रियों का अधिक सम्बन्ध रहा है। व्रत एक संकल्प के रूप में था जिसमें किसी कार्य के करने या न करने का संकल्प लिया जाता है। यह एक मानक क्रिया है जो प्रतिज्ञा के रूप में होती है। मनु के अनुसार संकल्प सभी कामों (इच्छाओं) का मूल है। यह सभी यज्ञों और व्रतों का मूल है और इनकी विशेषताएँ अर्थात् यम संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं-

संकल्प मूलः कामो वै, यज्ञाः संकल्प सम्भवाः।
व्रतानि यम धर्माश्च, सर्वे संकल्पाजाः स्मृताः।। -मनु०, 2.3

मिताक्षरा के अनुसार व्रत मानसिक संकल्प है जिसके द्वारा कुछ किया जाता है या कुछ नहीं किया जाता है। नियम और व्रत दोनों कर्तव्य के रूप में लिए जाते हैं।[112] व्रत तप का ही एक रूप है। प्रायश्चित्त आदि के रूप में कठोर नियमों का पालन व्रत है। याज्ञवल्क्य ने दस यम और दस नियमों की चर्चा किया है। दस यम हैं- ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य भाषण, सरलता, अहिंसा, चोरी न करना, मधुर वचन बोलना एवं दम (ज्ञानेन्द्रियों का दमन) आदि।[113] दस नियम हैं- स्नान, मौन रहना, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, लिंग-निग्रह (कामुकता का त्याग), गुरू की सेवा, पवित्रता, अक्रोध और प्रमाद का त्याग आदि।[114] अमरकोश से ज्ञात होता है कि नियम एवं व्रत समानार्थक शब्द हैं। व्रत में उपवास आदि होते हैं जो पुण्य उत्पन्न करते हैं।[115] मिताक्षरा के अनुसार व्रत मानसिक संकल्प है जिसके द्वारा कुछ किया जाता है या कुछ नहीं किया जाता है। नियम और व्रत दोनों कर्तव्य के रूप में लिए जाते हैं।[116] वस्तुतः व्रत तप का ही एक रूप है। इनसे मनुष्य सारे पापों से मुक्त हो जाता है और ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[117] धर्मशास्त्रकारों ने अनेक प्रकार के व्रतों का विधान किया है जो पापों के परिहार के लिए किए जाते थे। शंख ने अधमर्षक, पराक, कृच्छ्र तथा सन्तापन आदि व्रतों का विधिपूर्वक वर्णन किया है। अधिमर्षण व्रत से सारे पाप नष्ट हो जाते है।[118] निर्णय सिन्धु के अनुसार पत्नी द्वारा संकल्पित व्रत पति तथा पति द्वारा संकल्पित व्रत पत्नी कर सकती है।[119] मनु के अनुसार कोई स्त्री पृथक रूप से उपवास, व्रत, यज्ञ नहीं कर सकती है वह पति शुश्रूषा से ही स्वर्ग में सम्मान प्राप्त कर सकती है।[120] लिंग पुराण के विधान के अनुसार पति की आज्ञा से पत्नी को व्रत, जप, तप, दान का अधिकार प्राप्त हो जाता है।[121] किन्तु विष्णु का मत है कि वह स्त्री जो पति के जीवित रहते किसी उपवास युक्त व्रत को करती है, अपने पति की आयु कम करती है और स्वयं नरक में जाती है-

पत्यौ जीवति या योषिदुपवासं व्रतं चरेत्।
आयुः सा हरते मुर्तनरकं चैव गच्छति।। विष्णु., 25.16

वहीं कात्यायन कहते हैं कि अपने माता, पिता भाई, पति के लिए व्रत करने वाली सौ गुना श्रेष्ठता प्राप्त करती है।[122] अनेकानेक पुराणों में भी स्त्री, शूद्र तथा म्लेच्छ को भी व्रत का अधिकारी बताया गया है।[123]

अत्रि के अनुसार जो कुछ अग्नि (गृहाग्नि) में डाला जाता है एवं जो कुछ तीनों श्रौत अग्नियों में डाला जाता है एवं वेदी (श्रौतयज्ञों) में दान किया जाता है वह इष्ट है। कूपों तड़ागों (तालाबों), देवता-यतनों (मन्दिरों) का निर्माण, अन्नदान एवं आराम अर्थात् वाटिका या धर्मशाला का प्रबन्ध पूर्त है।[124] इष्टापूर्त सभी गृहस्थ को करना चाहिए क्योंकि यह सर्कल प्रदान करने वाला होता है। यह स्त्री एवं पुरुष दोनों द्वारा किया जाने वाला कार्य था। मनु के अनुसार आलस्य छोड़कर श्रद्धा से इष्ट (यज्ञादि कार्य) तथा पूर्त (कूप तालाब आदि) को सदैव करना चाहिए। न्यायोपार्जित धन से श्रद्धा के साथ किए गए इष्ट और पूर्त दोनों अक्षय फल देने वाले होते हैं। सर्वथा सन्तुष्ट होकर इष्ट और पूर्त कार्य करना चाहिए और सत्पात्र को दान देना चाहिए।[125]

भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता त्याग और सहिष्णुता की रही है। लोक मंगल की भावना से यह ओत-प्रोत है। हर एक को सुखी एवं सन्तुष्ट देखने की मनोकामना भारतीय संस्कृति की विशेषता है जिससे इस संस्कृति के सर्जकों ने लालच का त्याग एवं सब कुछ न्यौछावर करने की प्रवृत्ति का अपने आप में विकास किया। दान इसी का एक परिणाम था। दान को हिन्दू धर्म में अत्यधिक महत्व दिया गया। इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों द्वारा काफी कुछ लिखा गया। देवल ने दान को व्याख्यायित करते हुए लिखा है कि शास्त्र द्वारा उचित माने गए व्यक्ति के लिए शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धान दान है। उचित व्यक्ति को केवल अपना कर्तव्य समझकर जो कुछ दिया जाता है वह धर्मदान है।[126] मनु के अनुसार जिस भावना से जो दान दिया जाता है, मनुष्य उसी भावना से उस वस्तु को प्राप्त करता है।[127] वृद्ध गौतम के अनुसार जलदान, गोदान, भूमिदान, अन्नदान आदि का अत्यन्त महत्व है।[128]

दान के पात्रों का विवेचन करते हुए दक्ष ने लिखा है कि माता-पिता, गुरू, मित्र, चरित्रवान व्यक्ति, उपकारी, दरिद्र (दीन), असहाय, विशिष्ट गुणों वाले व्यक्ति को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है। धूर्तों, बन्दियों (स्तुति पाठक), मल्लों (कुश्ती लड़ने वालों), कुवैद्यों, जुआरियों, वंचकों, चाटों, चारणों एवं चोरों को दिया गया दान निष्फल होता है।[129] याज्ञवल्क्य के अनुसार विद्वान एवं तपस्वी को दान देना चाहिए। अपात्र को थोड़ा भी दान नहीं देना चाहिए।[130] मनु ने निम्नलिखित को अवश्य दान देने के लिए निर्देशित किया है- सन्तानार्थ विवाहेच्छुक को, यज्ञ करने की इच्छा रखने वाले को, पथिक को, यज्ञ में अपनी समस्त सम्पत्ति दान करने वाले को, गुरू, माता और पिता के लिए भोजन देने के इच्छुक को, रोगी को, नव स्नातक को तथा निर्धन आदि को।[131] वृद्ध गौतम के अनुसार दरिद्र और ब्राह्मण को अवश्य दान देना चाहिए।[132] विष्णु ने भी गुणवान को ही दान देने का समर्थन किया है।[133] उनके अनुसार बहिन, पुत्री तथा जमाता को भी दान देना चाहिए।[134] शंख लिखित का कहना है कि भूखे को अन्न आदि का दान करना चाहिए। इसका फल अश्वमेध के समान होता है।[135] दक्ष के अनुसार विपत्ति ग्रस्त को, असहाय को, अनाथ को दान से बहुत अधिक पुण्य होता है।

धर्मशास्त्रकारों ने देय तथा अदेय वस्तुओं के विषय में भी निर्देशित किया है। देय वस्तुओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे वस्तुएँ देय है जिन्हें दाता ने बिना किसी को सताए और बिना चिन्ता एवं दुख दिए स्वयं प्राप्त की हो, वह चाहे छोटी हो या मूल्यवान हो। इनकी तीन कोटियाँ थीं- उत्तम, मध्यम एवं निकृष्ट। मनु, याज्ञवल्क्य तथा अत्रि के अनुसार विद्या सर्वश्रेष्ठ दान है। अर्थात् जल, भोजन, गाय, भूमि और सरस्वती (विद्या) ये सर्वोत्तम देय हैं। इन्हें अति दान कहते हैं।[136] नैत्यिक,

नैमित्तिक एवं काम्य तीन प्रकार के दान थे। प्रतिदिन किया जाने वाला दान, जैसे वैश्व देव के उपरांत भोजन दान, नैत्यिक दान था। विशिष्ट अवसरों पर जैसे ग्रहण आदि पर दिया गया दान नैमित्तिक दान था। किसी कामना से, जैसे सन्तानोत्पत्ति, स्वर्ग या विजय प्राप्त करने के लिए दिया गया काम्य दान था। वाटिका, कूप आदि का समर्पण ध्रुव दान था।[137]

कुल मिलाकर दान के विषय में कहा जा सकता है कि दान के सम्बन्ध में स्त्रियों के लिए अलग से स्मृतिकारों के द्वारा कुछ नहीं लिखा गया। किन्तु इस सम्बन्ध में उनके द्वारा निर्मित विधानों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि स्त्रियाँ भी दान कार्य में बढ़-चढ़ कर भाग लेती थीं। उन्हें इस कार्य के लिए सम्पत्ति में भी अधिकार दिया गया था। केवल कुल्टा स्त्री ही इससे वंचित थी।

इस तरह से जब हम स्त्री की धार्मिक स्थिति का विश्लेषण करते हैं, यही स्पष्ट होता है कि स्मृतिकाल में उनपर कऋर धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। उनके मासिकधर्म, कर्मकाण्डीय जटिलता तथा पवित्रता में वृद्धि, अन्तर्वर्णीय विवाह तथा उपनयन निषेध के कारण कुछ स्मृतिकारों ने शर्त के साथ धार्मिक कार्यों का विधान उनके लिए किया तथा कुछ ने पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान किया।

सन्दर्भ-सूची

1. डॉ० मुरलीधार चतुर्वेदी, प्राचीन भारतीय विधि-व्यवस्था, प्रस्तावना, पृ०-14
2. अथर्ववेद, 9.9.17
3. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.11
4. बृहस्पति० संस्कार काण्ड, 1.4
5. पूर्व मीमांसा सूत्र, 1.1.2, 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'।
6. महाभारत, अनुशासन पर्व, 115.1
7. वही, वनपर्व, 373-76
8. कुल्लूक द्वारा मनु० 2.1 में उद्धृत, अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। श्रुति प्रमाणको धर्मः श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिको तान्त्रिकी च।
9. याज्ञ०, 1.7,
   श्रुति स्मृति सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः।
   सम्यक् संकल्पजः कामो, धर्ममूलमिदं स्मृतम्।।
10. ऐ० ब्रा०, 35.2, तै० सं०, 6.2.75
11. महाभारत, शान्तिपर्व, 191.8, "तत्र गुरूकुल वासमेव प्रथममाश्रमाश्च ममुदाहरन्ति।सम्यग्यत्र शौच संस्कार नियमव्रत विनियागत्मा उभे सन्ध्ये भाष्कराग्नि दैवतान्युपस्थाय विहाय तन्द्रायलस्ये गुरोरभिवादन वेदाभ्यास श्रवण नित्यभिक्ष्याभैक्ष्या दिसर्वनिवेदितान्तरात्मा गुरु वचन निर्देशानुष्ठान प्रतिकूलो गुरूप्रसाद लब्धा स्वाध्याय।"
12. अथर्ववेद, 11.5.18, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
13. व्यास स्मृति, 4.2-4, 13,14
14. महाभारत, शान्तिपर्व, 12.18

15. मनु०, 6.91-92,
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्दिजैः।
दश लक्षणको धर्मः सेवतिव्यः प्रयतन्तः।।
धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणं।।
16. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.32.24, वायु पुराण, क्रियाणां साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते।
17. विष्णु पु०, 3-9.8, विधिनावाप्तादारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मण।
18. बौ० ध० सू०, 8.13, यथा शक्तेन चान्नेन सर्वाणि भूतानि।
19. वही, 8.4-5,12, सायमा गतमतिथिं नापरुन्ध्यात्।। नाश्यानन वसेत्। गृहेस्वभ्यगतं प्रत्युत्थानासनवाक्यसूनृतान सूयाभिर्मस्येत्।।
20. ब्रह्माण्ड पुराण, 2.7.174, वायु पु०, 8.173, दाराऽग्नयोऽथातिथेय इज्या श्राद्ध क्रियाः प्रजाः, मत्स्य पु०, 40.3 धर्मागत प्राप्यं धनं यजेत् दद्यात्स दैवातिथिन्भोजयेच्च।
21. श० ब्रा०, 1.7.2-10, महाभारत, अनुशासन पर्व, 1.120.15
22. जैमिनि, 6.2.31
23. मनु०, 6.35,
ऋणानि त्रीण्य पाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत।
अवपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।।
24. महाभारत, शान्ति पर्व, 63.20.21
अर्चयित्वा पितृन्सम्यक् पितृयज्ञैर्यथा विधि।
देवान् यज्ञैर्ऋषिन्वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः।।
अन्त काले च संप्राप्तेय इच्छेदाश्रमान्तरम्।
सो अनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात्।।
25. मत्स्य पु०, 53.16
पंचैते विहिता यज्ञाः पंचसूनापनुत्तये।
कण्डनी पेषणी चुल्ली जल कुम्भी प्रमार्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य तेन स्वर्गे न गच्छति।।
26. तै० सं०, 2.11.2.2, अतिथि देवो भव।
27. महाभारत, शल्य पर्व, 52.19, असंस्कृतायाः कन्याः कुतो लोकास्तवानधो।
28. वही, 52.3
29. मनु०, 9.96, प्रजानार्थं स्त्रियः स्रृटाः
30. रामायण, 4.16.12, ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मंत्र विद्वज यैषिणी।
31. अथर्ववेद, 14.1.43
32. विष्णु पु० 3.18.37, यस्तु संत्यज्य गार्हस्थ्यं वानप्रस्थो न जायते... पाप कृन्नरः।
33. अर्थशास्त्र, 1.3, वानप्रस्थ ब्रह्मचर्य भूमौशैय्या जटाऽजिनधारणाग्निहोत्राभिषेकौ देवतातिथि पितृपूजा वन्यश्चाहारः।।

34. मनु०, 6.3, विष्णु पु०, 4.2.129 'सकल भार्यासमन्वितो वनं प्रविवेश'।
35. ब्रह्माण्ड पुराण, 3.68.104, वायु पु०, 93.102, स रजर्षिः सदारः प्रस्थितो वनम्।
36. मस्त्य पु०, 61.37
    मलस्यैक देशे तु वैखानस विधानतः।
    सभार्यः संवृतो विप्रैस्त पश्चक्रे सुदुश्चरम्।।
37. याज्ञ० वानप्रस्थ प्रकरण, 45, सुत विन्यस्त पत्नीकस्तया वानुगतो वनम्।
38. महाभारत, वनपर्व, 130.17, 225,14-15, द्रोण पर्व, 54.17, आदि पर्व 93, अनुशासन पर्व, 14-95,98 शान्ति पर्व, 320.7, अथ धर्म युगे तस्मिन् योग धर्ममनुष्ठिता। मही मनुचचारैका सुलभानाम् भिक्षुकी।।
39. गौ० ध० सू०, 1.3.10 अनिचयो भिक्षुः।
40. मनु०, 6.43
    अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राम मन्नार्थमाश्रयेत।
    उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भाव समाहितः।।
41. गौतम ध० सू०, 3.11,3.23
42. विनयपिटक, पृ० 537.540
43. मनु०, 3.69.71, शंख०, 5.3-4, बौधायन०, 2.6.1-3, गोभिल०, 2. 26-27
44. लघु व्या० सं०, 2.51
45. गोभिल०, 2.28-29
46. बौधा०, 2.5.22
47. वही, 2.6.8-9 56, वृद्ध गौतम०, 21-9
48. वृद्ध गौतम०, 21-9
49. वृ० परा०, 6.76, अध्यापयेद् द्विजान् शिष्यान्, स वै ब्रह्मामद्यः स्मृतिः।
50. मनु०, 2.101
    पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्, सावित्री मार्क दर्शनात्।
    पश्चिमां तु समासीनः, सम्यगृक्ष विभावनात्।।
51. वही, 2.102
    पूर्वा सन्ध्यां जपंतिष्ठन् नैषमेनो व्यपोहति।
    पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्।।
    वही, 3.307
    निशायां वा दिवावाऽपि यदज्ञानकृतं त्वधम्।।
    त्रैकाल्य सन्ध्या कारणात् तत् सर्वंविप्रणश्यति।।
52. वही, 3.70
53. वही, 2.176
    नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षि पितृतर्पणम्।
    देवता अभ्यर्चनम् चैव समिदा धनेमेव च।।

54. बौधायन०, 2.6.4
    गौतम०, 5.5, अहरहः स्वाहा कुर्यादा काष्टात् तथैतं देव यज्ञं समाप्नोति।
55. वृ० हारीत०, 6.143-44
56. वही, 4.111-119, 8.112-118
57. मनु०, 3.76
58. परा०, 7.17
    स्नाता रजस्वला या तु, चतुर्थेऽहनि शुध्यति।
    कुर्याद रजोनिवृत्तौ तु, दैवं पित्र्यादि कर्म च।।
59. वृ० गौतम०, 8.11
60. मनु०, 3.70
61. बौधायन०, 2.6.5
62. मनु०, 3.91, पितृभ्योबलि शेषं तु, सर्व दक्षिणातो हरेत्।
63. वही, 3.82,
    कुर्याद हरहः श्राद्धमन्नाद्ये नोद केन वा।
    पयो मूल फलैर्वाऽपि, पितृभ्यः प्रतिमावहन्।।
64. दक्ष० 3.8-9,
    वैश्वदेवं तथातिथ्यमुद्घृतं चापि शक्तितः।
    देव-पितृ-मनुष्याणां, दीनानाथत पश्विनाम्।।
65. मेधातिथि-मनु०, 5.7, ल० व्या० सं०, 252-53
66. गौतम०, 5.9
67. मनु०, 3.85-86
68. विष्णु०, 67.1-3
69. मिताक्षरा, याज्ञ०, 1.103
70. लघु आश्व०, 1.117-119
71. याज्ञ०, 1.111,
    अध्वनीनोऽतिथिर्ज्ञेयः, श्रोतियो वेद पारगः।
    मान्यवैतो गृहस्थस्य, ब्रह्मलोकमभीप्सतः।।
72. मनु०, 4.32
    शक्तितो अपचमानेभ्यो, दातव्यं गृहमेधिना।
    संविभागश्च भूतेभ्यः, कर्तव्योऽनुपरोधतः।।
73. दक्ष०, 7.45
    समितं यद गृहस्थेन, पाप मारणान्तिकम।
    सनिर्दहति तत् सर्वमेक रात्रोषितो यतिः।।
74. बौधा०, 2.3.68, 2.3.21-22, 2.3.69 अन्ने श्रितानि भूतानि, अन्नं प्राणमिति श्रुतिः।।
    तस्मदन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः।।

75. बौधायन०, 1.7.9, पत्नी यजमाना वृतिग्भ्योऽन्तरतमौ।
वही, 1.7-16, ततः कर्तारौ यजमानः पत्नी च प्रपद्येरन्।
76. गोभिल०, 3.1
77. दक्ष स्मृति०, 2.20
सन्ध्या कर्मावसाने तु, स्वयं होमो विधीयते।
स्वयं होमे फलं यत्तु, तदन्येन न जायते।।
78. वृ० हारीत०, 5.25-26, अग्नौ च जुहुयाद्धविः। जपेन्मन्त्रान् सुवैदिकान।।
79. वृ० हारीत०, 8.86, जप्त्वा मन्त्रं गुरूं पश्चात्।
वही, 8.80, स्त्रीणामप्यर्चनीयः स्यात मंत्र रत्नेन वै पूज्यः।
वही, 8.88, सशोधयेत प्रतिदिनं यज्ञार्थं परमात्मनः।
80. ल० व्यास, 2.2
81. कात्यायन०, 19.1-4
82. वही, 19.3, पत्न्या चाप्य वियोगिन्या, शुश्रूष्योऽग्निर्विनीतया।
83. वही, 8.5
84. वही, 21.3
85. वही, 8.7
86. लघु आश्व०, 1.71-72
87. अत्रि सं०, 138-139
जीवद् भर्तारि वामांगी, मृतेवाऽपि सुदक्षिणे।
श्राद्धे यज्ञे विवाहे च, पत्नीः दक्षिणतः सदा।।
88. मनु०, 11.36-37
न वै कन्या न युवतिनल्पिविद्ययों न बालिशः।
होता स्यादाग्निहोत्रस्य, नार्तो नासंस्कृतस्त था।
नरके हि पतन्येते, जुह्वन्तः स च यस्यतत्।।
तस्माद् वैतान कुशलो, होता स्याद् वेद पारगः।।
89. वही, 5.15, विष्णु०, 25.25, नास्ति स्त्रीणां प्रथग यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
90. विष्णु०, 26.24, सवर्णासु बहु भर्यासु विद्यमानासु ज्येष्ठया सह धर्म कार्य कुर्यात्। मिश्रासु च कनिष्ठयापि समान वर्णया, समान वर्णया अभावेत्वनन्तर यैवापदि च। न त्वेव द्विजः शूद्रया।
91. विश्वरूप०, याज्ञ०, 1.88
92. मनु० 9.86
भर्तुः शरीरशुश्रूषां, धर्म कार्यं च नैत्यकम्।
स्वाचैव कुर्यात्सर्वेषां, ना स्वजातिः कथंचनः।।
93. वही, 9.87
यस्तु तत्कारयेन्मोहात्, सजात्या स्थितयाऽन्यया।
यथा ब्राह्मण चाण्डालः पूर्व दृष्टतथैव सः।।

94. वही, 2.79
95. याज्ञ०, 1.101
    वेदार्थव पुराणानि, सेतिहासानि शक्तित:।
    जप यज्ञ प्रसिद्ध्यर्थं, विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्।
96. गौतम०, 19.11
97. शातातप० 1.4-5
98. वसिष्ठ०, 28.10-15
99. गोभिल०, 2.28-29
100. शंख०, 12.30-31
101. याज्ञ०, 2.77
102. वृ० याज्ञ०, 2.46
    समाहितमनाभूत्वा तत्वध्यानपरायण:।
    ओंकारं यस्त्वभिध्यायेदध्यात्मैक इति स्मृत:।।
103. वही, 2.44-45
104. मनु०, 244 के बाद परिशिष्ट
    ब्रह्मचर्य जपो होम: काले शुद्धाल्प भोजनम्।
    अरागद्वेष लोभाश्च, तप उक्तं स्वयम्भुवा।।
105. वही, 11.234
    तपो मूलमिदंसर्वं दैव मानुषकं सुखम्।
    तपो मध्यं बुधौ: प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभि:।।
106. वही, अ० 95 सर्वं तत् तपसा माध्यं, तपो हि दुरति क्रमम्।
107. याज्ञ०, 3.195, यज्ञेन तपसा दानैर्ये हि स्वर्गजितो नरा:।।
108. लघु हारीत, 5.3-8, त्रिकाल स्नान युक्तस्तु, कुर्यात् तीव्रं तपस्तदा।
109. वही, 5.10, 6.3-23
110. गोभिल०, 2.22-23
111. शंख०, 13.1-17, शबर, मीमांसा दर्शन 6.2.20
112. मिताक्षरा, याज्ञ०, 1.129
113. याज्ञ०, 3.312
    ब्रह्मचर्य दया क्षान्तिर्दानं सत्यं कल्कता।
    अहिंसास्तेय माधुर्य-दमाश्चेति यमा: स्मृता:।।
114. वही, 3.131
    स्नानं मौनोपवासे ज्यास्वाध्यायोपस्थ निग्रहा:।
    नियमागुरुशुश्रूषा, शौचाक्रोध प्रमादता।।
115. अमरकोश, धर्म० इति०, 4.11
116. मिताक्षरा, याज्ञ०, 1.129

117. शंख०, 18.14-16
118. वही, 18.1.16
119. निर्णय सिन्धु, पृ० 29, धर्मशास्त्र का इतिहास, 4.2
120. मनु०, 5.155, विष्णु०, 2.15
121. लिंग पुराण, पूर्वार्द्ध, 84.16
122. कात्यायन, काल निर्णय, पृ० 262-263, धर्म० इति०, 4.21
123. धर्म० इति०, 4.21, क्वचित्म्लेच्छानाप्यधिकारो हेमाद्री देवी पुराणे। स्त्रीभिश्च कुरुशर्दूल०।
124. लिखित० 5, अत्रि सं०, 43, लघु शंख०, 1.5, अग्नि होत्रं तपः सत्यं, वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च, इष्टमित्यभिधीयते।।
125. मनु०, 4.226-227
126. देवल धर्म० इति०, 1.449
    अर्थानामुदिते पात्रे, यथावत् प्रतिपादनम्।
    दानमित्यभिनिर्दिष्टं, व्याख्यानं तस्य वक्ष्येत।।
    पात्र्येभ्यो दीयते नित्यमन वेक्ष्य प्रयोजनम्।
    केवलं धर्मबुद्ध्या यद् धर्म दानं तदुच्यते।।
127. मनु०, 4.234
128. वृद्ध गौतम० अध्यात्य, 6-9
129. दक्ष०, 3.15.16
130. याज्ञ०, 1.200-202
131. मनु०, 7.86,11.1-2
132. वृ० गौतम०, 7.13.18
133. विष्णु०, अ० 92, तत्तद् गुणवते देयम्०।
134. वही, 93.6
135. शंख लिखित०, 8
136. वसिष्ठ०, 29.20, बृहस्पति०, 2.18
137. देवल०/धर्म इति० भाग-1, पृ० 452

इतिहास

वहाबी आंदोलन, जनजातीय और 1857 विद्रोह का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ० प्रवीण कुमार

एम०ए० (पैट), पीएच० डी०, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

सार संकेत

ऐतिहासिक-सामाजिक तुलनात्मक अध्ययन के अर्न्तगत कारण, उद्देश्य, संगठन, स्वरूप तथा फलाफल पर केन्दित होने का प्रयास किया गया है। प्रारंभ में वहाबी आंदोलन का स्वरूप धार्मिक था, किन्तु आगे चलकर राजनैतिक हो गया। इस आंदोलन का प्रारम्भ धर्म सुधार आंदोलन के रूप में हुआ। इसका उद्देश्य मुस्लिम समाज में फैली कुरीतियों को दूर करना था। यह एक मत के रूप में उभरा जिसके प्रणेता अरब के नेजद नामक स्थान के निवासी अब्दुल वहाब थे। भारत में इस मत के प्रणेता रायबरेली निवासी सैयद अहमद बने। इस मत की लोकप्रियता का कारण यह था कि जिन हिंदुओं ने इस्लाम धर्म स्वीकार किया, वे अपने साथ आचार-विचार भी लेते गए। इससे इस्लाम धर्म में उनकी आस्थाओं के प्रतिकूल कई रस्म-रिवाज प्रवेश कर गए। वहाबी धर्मावलंबी चाहते थे कि इस्लाम धर्म एवं समाज में हजरत मुहम्मद कालीन शुद्धता पुनः प्रतिष्ठित हो तथा जो भी विरूद्ध रीतियाँ प्रवेश कर गयी हैं, उन्हें दूर किया जाए। वहाबी धर्मावलंबी यह भी चाहते थे कि लोगों को सर्वशक्तिमान ईश्वर का शुद्ध एवं सच्चा रूप समझा जाए। वहांबी आंदोलन बहुत दिनों तक धार्मिक नहीं रह सका। धीरे-धीरे सैयद अहमद का मुख्य उद्देश्य पंजाब के सिखों तथा बंगाल से अग्रेजों को निकाल बाहर कर भारत में मुसलमानों का शासन फिर से स्थापित करना हो गया।

1857-58 विद्रोह के सामाजिक तथा धार्मिक कारणों पर विचार किया जाए तो अनेक समानताएँ मिलती हैं। धर्म के लिए पहला खतरा ईसाई पादरियों द्वारा संचालित स्कूलों में हुआ। पादरियों का मुख्य मकसद हो गया ईसाई धर्म स्वीकार करवा कर भारतीयों की आत्मा में बदलाव। शिक्षा प्रदान करना तो एक माध्यम बना। अंग्रेज भारतीयों के घरों में ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। स्कूलों में ईसामसीह को ही ईश्वर का सच्चा रूप बताया जाने लगा था। बाइबिल का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया। जेलों को भी ईसाई बनाया जाने लगा। स्कूल ही नहीं अस्पताल, न्यायालय तथा रेलगाड़ी से लेकर तमाम संस्थानों में असमानताएँ प्रवेश करने लगीं। अंग्रेज अपनेको उच्च नस्ल का समझने लगे। ईसाई धर्म को स्वीकार करनेवाले न तो शुद्ध हिंदू रहे और न ही पूर्ण ईसाई बन पाये। धीरे-धीरे धर्म परिवर्तन पर राजनैतिक रंग चढ़ने लगा। 1857 विद्रोह के प्रशासनिक, आर्थिक तथा सैनिक अनेक कारण हैं, किंतु धार्मिक-सामाजिक कारणों को कम आँका नहीं जा सकता। इस विद्रोह का उद्देश्य

भी अंग्रेजों को भगाकर भारतीयों का राज्य स्थापित करना हुआ। इतना स्वीकार करना चाहिए कि वहाबी आंदोलन को संगठनात्मक संरचना 1857 विद्रोह की संरचना से बेहतर थी। वहाबी आंदोलन का कार्यकाल 1830-31 है जबकि विद्रोह जिसे सैनिक विद्रोह भी कहते हैं, का कार्यकाल 1857-58 है। इसी आसपास छोटानागपुर का कोल विद्रोह (1830-31) तथा संथाल परगना का संथाल विद्रोह (1855-57) है, जिनके उद्देश्य भी समानान्तर पटरी पर चलते हैं। सभी आंदोलन तथा विद्रोह में आपसी प्रेम रहे हैं जो ताकत के स्रोत बने है। सभी में मौन प्रेम हैं। यही कारण है कि ब्रिटिश सैनिकों को जबरदस्त चुनौती मिली। उन्नीसवीं सदी के अंत में बिरसा विद्रोह भी स्मरणीय है।

विशिष्ट शब्द

बेदीनों, जकात, उम्र, मुठिया, दीन का सरदार, धर्म युद्ध, राष्ट्रीय विद्रोह, ब्रिटिश क्राउन, घोषणा पत्र, प्रतिक्रियावादी।

भूमिका

भारत में वहाबी मत का आगमन 18वीं सदी के आरम्भ में धर्म सुधार आंदोलन के रूप में हुआ। प्रारंम्भिक काल में मुस्लिम समाज में फैली कूरीतियों को दूर करना ही मकसद प्रतीत हुआ। बाद में यह आंदोलन राजनीतिक बन गया। आतंरिक गिरावट एवं कुरीतियों को दूर करने के अलावा सिख एवं विदेशी शासकों से लड़ना तथा उन्हें उखाड़ फेंकना लक्ष्य बन गया। सैयद अहमद को तत्काल सफलता भी मिली। उन्होंने सिखों से लाहौर छीन लिया। सिक्कों पर गाजी अथवा इस्लाम धर्म संरक्षक के रूप में अपना नाम अंकित करवा भी दिया। परंतु उनके भारतीय एवं पठान अनुयायियों के बीच जमकर विवाद हुआ। इस परिस्थिति का लाभ उठाकर सिखों ने पेशावर पर कब्जा कर लिया। बालाकोट के युद्ध यानी 1831 में सैयद अहमद मारे गए। इस बीच पटना के खलीफाओं ने कुछ वर्षों तक आंदोलन को आगे बढ़ाया। अनेक बार खलीफाओं और ब्रिटिश सैनिकों के बीच युद्ध भी हुए। इस आंदोलन का विस्तार बिहार, बंगाल से लेकर उत्तर-पश्चिम प्रदेश जो कभी पाकिस्तान के हिस्से हैं, तक हुआ। ब्रिटिश सैनिकों की कई बार हार हुई। अन्त में बोनेयर की पहाड़ियों में हुए युद्ध ने कबीलों के सघं को छिन्न-भिन्न कर दिया। ये कबीले ही वहाबी आंदोलन को मजबुत कर रहे थे।

अब 1857-58 की पृष्ठभूमि पर विचार करें। ब्रिटिश साम्राज्य विस्तार की नीति से भारतीय नरेश भयभीत होने लगे थे। डलहौजी की विस्तार नीति ने भय को पृष्ठ कर दिया। भारतीय जनता भी अंग्रेजों की नीति से असंतुष्ट हो चली थी। तैमूर वंश के अंतिम शासक बहादूरशाह के साथ दुर्व्यवहार के कारण मुसलमानों में भी असंतुष्ट कर रही थी। आर्थिक शोषण बहुत होने लगा था। अंग्रेजों की व्यापारिक नीति नेक भी भारतीय व्यापार तथा उद्योग धंधों को नष्ट करना शुरू कर दिया था। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय व्यापार तथा उद्योग काफी विकसित थे। इंगलैड की औद्योगिक क्रांति ने भारतीय उद्योगो को कुप्रभावित करने लगा। इन सबके बावजूद, सैनिकों में धार्मिक, प्रशासनिक तथा राष्ट्रप्रेम की भावना पर कुठाराघात किया जाने लगा। उनकी नियुक्ति में शर्त लगने लगी कि युद्ध के दरम्यान उन्हें समुद्र पार जाना पड़ेगा। चर्बी लगे हुए कारतूसों ने उनकी धार्मिक आस्था को नेस्तनाबूद करना शुरू किया। भारतीय सैनिकों के वेतन भी कम रखे गये थे। निम्न जातियों की सेना में भर्ती

भी कारण बनी। पहले सिर्फ राजपूत और ब्राह्मण होते थे। चर्बीवाले कारतूस ही मुख्य कारण बने। इस कारण सैनिकों को विद्रोह के लिए भड़कना पड़ा।

शोध प्रविधि

शोध आलेख विवरणात्मक तथा विश्लेषणात्मक प्रकृति का है। इसमें प्रकाशित ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं, विचार-विनिमय आदि का सहारा लिया गया ह।

तथ्य विवरण

भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी अधिक से अधिक लाभ करना चाहती थी। जैसे-जैसे कम्पनी की शक्ति बढ़ती गयी, वैसे-वैसे धन प्राप्त करने की लालसा भी तीव्र होती गयी। साम्राज्य विस्तार भी कम्पनी का लक्ष्य बन गया। आर्थिक लाभ प्राप्त करने की लालसा तथा साम्राज्य विस्तार की नीति ने भारतीय जनता से लेकर नरेश तथा राजे-राजवाड़े को बेदखल होने का संकेत देना शुरू किया। साम्राज्य विस्तार नीति को कमजोर करने के लिए 1857 के पूर्व छोटे-छोटे बहुत आंदोलन हुए जिनमें प्रमुख हैं- छोटानागपुर का कोल विद्रोह (1830-31), संथाल परगना का संथाल विद्रोह (1856-57), बिरसा आंदोलन, बनेली आंदोलन, 1846 तथा वहाबी आंदोलन (1830-31) आदि। ये सभी आंदोलन टेलर के रूप में प्रस्फुटित हुए। कोल, संथाल और बरेली आंदोलन के क्षेत्र सीमित रहे, किंतु वहाबी आंदोलन तथा 1857 का सैनिक विद्रोह असरदार तथा लम्बी परिधि में फैल गए। इस आंदोलन तथा विद्रोह में राजे-राजवाड़े एवं आम जनता भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से भागीदार बनी।

1857 के पूर्व कम्पनी का साम्राज्य विस्तार काफी बड़ा हो गया था। कुछ अंग्रेज पदाधिकारियों के विचार तथा नीतियों ने भी भय का वातावरण बनाया। चार्ल्स नैपियर ने लिखा था- 'यदि मैं 12 वर्ष के लिए भारत का बादशाह बन जाऊँ तो भारत में एक भी भारतीय नरेश नहीं बचेगा, निजाम का नाम भी कोई सुनेगा और नेपाल हमारा होगा।' इन विचारों से नरेश तथा निजाम को भयभीत होना स्वाभाविक है। आम नागरिक को इन विचारों से कोई मतलब नहीं था, फिर भी वे सभी नरेश तथा निजाम के प्रति समर्पित या उनके अधीन थे। पठान, अफगान तथा मुगल भी भारत में आक्रमणकारी की तरह आये, किंतु वे भारत में ही बस गये तथा देश को अपना मान लिया। इस प्रकार आम नागरिकों के पास सम्मिलित शक्ति पनप गयी थी।

तैमूर वंश के अंतिम शासक बहादुरशाह पर भारतीय मुसलमान गर्व करते थे, परंतु उनके साथ भी अंग्रेज दुर्व्यवहार करने लगे। सैनिक विद्रोह के पीछे मुख्य कारण यह भी था कि सैनिक और असैनिक सभी मुख्य सेवाओं में उच्च पद अंग्रेजों के लिए सुरक्षित किये जाने लगे। भारतीयों को अधिक से अधिक सूबेदार पद ही दिया जाता था। भारत में अंग्रेजों का मूल आधार भारतीयों का शोषण था। चाहे आर्थिक हो या सैनिक या असैनिक। इतना सही है कि अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत सिर्फ कृषि प्रधान नहीं था, बल्कि व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में भी आत्मनिर्भर था। इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति ने इसे भी कमजोर करने का प्रयास किया। इन राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक कारणों के अलावा सबसे प्रमुख रहा सैनिक कारण। 1856 ई० में कैनिंग ने सामान्य भर्ती अधिनियम बनाया जिसके अन्तर्गत सुनिश्चिम किया गया कि बंगाल की सेना में जितने भी नए

सैनिक भर्ती किये जाएँगे, उन्हें सैनिक सेवा के लिए कहीं भी भेजा जा सकता है। इससे पैतृक आधार पर पुराने तथा नये सैनिक दोनों में असंतोष फैला, क्योंकि सैनिकों की बहाली का आधार लगभग पैतृक था। बाहर जाने पर सैनिक तथा उनके परिवार को जाति से काट दिया जाता था। यह भय भी सताने लगा। विदेश नहीं जाने योग्य पाये जाने पर पेंशन की जगह छावनियों में नौकरी दिये जाने का प्रावधान भी किया गया। मुफ्त पत्र व्यवहार की सुविधा भी समाप्त कर दी गयी।

1856 ई० में पुरानी को हटाकर नया एनफील्ड राइफल (Enfield Rifle) के प्रयोग का प्रावधान भी बनाया गया। उसके लिए जो कारतूस बनाये गये थे, उन्हें राइफल में भरने से पहले दाँत से काटना पड़ता था। यह प्रचार हुआ कि इन कारतूसों में सूअर और गाय की चर्बी का उपयोग किया जाता है। इससे हिंदू तथा मुस्लिम दोनों तरह के सैनिकों को विश्वास हो गया कि अंग्रेज उनके धर्म पर प्रहार कर रहे हैं। इन कारतूसों ने ही सैनिक विद्रोह को अधिक भड़काया। एक सैनिक अधिकारी ने विद्रोह के बाद अपनी 'बंगाल के सैनिकों का विद्रोह' में लिखा कि कारतूस जो खास चर्बी से बना होता था, उसमें सूअर और गाय या भैंस की चर्बी प्रयुक्त की गयी थी। सैनिक विद्रोह को मेरठ और दिल्ली में सफलता भी मिली। इसीलिए हौसले बढ़ गए। कारतूस में चर्बी की बात बैरकपूर छावनी में पहुँच गयी, क्योंकि कारतूस फैक्ट्री में काम करनेवाले निम्न जाति के एक कर्मचारी ने ब्राह्मण सैनिक को ताना मारते हुए कहा- 'देखते हैं, तुम्हारा धर्म कहाँ हैं? सैनिकों ने कारतूसों का प्रयोग से इनकार कर दिया। 29 मार्च 1857 को 34वीं रेजीमेंट के सैनिक मंगल पांडे ने अपने सार्जेन्ट मेजर को गोली मार दी और सैनिकों को अपने धर्म की रक्षा हेतु ललकारा। परंतु उन्हें तथा उनके साथियों को मृत्युदंड दिया गया। 24 अप्रैल 1857 को मेरठ छावनी के 85 सैनिकों ने कारतूसों के प्रयोग से इनकार कर दिया। 10 मई को घुड़सवार सेना ने विद्रोह कर दिया। उसमें पैदल भारतीय सेना भी शामिल हो गयी। बंदियों को छुड़ाकर और अंग्रेज को कत्लकार वे सैनिक दिल्ली पहुँच गये और मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर को विद्रोह का नेतृत्व सम्भालने के लिए राजी कर लिया। इस प्रकार विद्रोह में आम नागरिक भी शामिल हो गए तथा विद्रोह की आग दिल्ली से पटना तक फैल गयी।

भारत में वहाबी आंदोलन के प्रणेता सैयद अहमद ने अपना मत सबसे पहले रूहेलखंड में प्रचारित किया। वहाँ बहुत लोग अनुयायी बन गये। 1820 में वे हज करने गए। 1822 में वापस आकर पटना में प्रचार किया। काफी लोग अनुयायी बने। विभिन्न जिलों में प्रचारकर वहाबियों का संगठन तैयार करने का भरपूर प्रयास किया। गैर-मुस्लिमों के विरूद्ध जेहाद छेढ़ते हुए ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने का अभियान चलाया। सिर्फ मुस्लिम समुदाय को संगठित करना ही इस आंदोलन की कमजोरी रही। उन्होंने स्वयं भी सैनिक वर्दी पहनी। कबीलों को भी प्रोत्साहित किया। सफलता भी अच्छी ही मिली। वहाबी मत काबुल एवं सीमांत प्रातों में भी तेजी से फैली। बिहार तथा बंगाल में सगठन काफी मजबूत हुआ। सिखों के साथ भी सैयद अहमद द्वारा संगठित युद्ध ने कमजोर किया। उनकी मुत्यु के पूर्व राजमहल, मालदह, नदिया, बारीसाल तथा ढाका आदि स्थानों पर मजबूत शाखाएँ स्थापित हो गयीं। पटना के खलीफाओं ने नेतृत्व सम्भालने का भरसक प्रयास किया। रंजीत सिंह की मुत्यु (1839) में हो जाने के बाद वहाबियों ने सिंधु नदी के बाएँ तट के बड़े भू-भाग पर कब्जा कर लिया। परंतु पंजाब विजय के बाद अंग्रेज सैनिकों के सामने वहाबियों ने आत्मसर्मण कर दिया। अंग्रेजों

ने विलयत अली और इनायत अली को पटना भेजा तथा चार वाल तक कहीं नहीं जाने की हिदायत भी दी। विलायत अली ने दिल्ली बादशाह बहादुशाह जफर से भेंट भी की और मदद का भरोसा भी पाया। विलायत अली और इनायत अली दोनों चाहने लगे कि अंग्रेजों के साथ ही युद्ध किया जाए। किन्तु मतभेद हो गए। इसी बीच विलायत अली दुनिया से चल बसे। विलायत अली और इनायत अली दोनों भाई थे। वहाबियों का नतृत्व अब इनायत अली के हाथ में आ गया। उन्होंने अंग्रेजों के विरूद्ध युद्ध करने के लिए मेरठ, बनेली, दिल्ली, पटना आदि शहरों में सक्रिय भी हुए, किन्तु कुचल दिये गये। पटना के आयुक्त विलियम टेलर ने वहाबियों को बातचीत के लिए बुलाया और धोखा देकर गिरफ्तार कर लिया।

इतना निश्चित है कि वहाबी आंदोलन की योजना एवं संगठन संरचना 1857 विद्रोह से बेहतर थी किन्तु कोल, संथाल एवं बिरसा आंदोलन से कमजोर थी। कारण कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जनजाति प्राकृतिक अर्थ में समझते थे। इन चारों पुरुषार्थ से विद्रोही जनजाति वाकिफ प्रतीत होते हैं। जनजातियों से जज्बा तथा देशप्रेम कुट-कूटकर भरे हुए थे। वे अनजान, निष्कलंक, सादे तथा सच्चे थे। यही उनकी ताकत थी। सैयद अहमद ने जेहाद के लिए चार खलीफाओं जैसे विलायत अली, इनायत अली, मुहम्मद हुसैन तथा फरहत हुसैन की नियुक्ति की थी। सैयद अहमद की मृत्यु के बाद वहाबी आंदोलन का केन्द्र पटना बना। सम्पूर्ण देश में संचालन के लिए एक केन्द्रीय समिति बनी जिसके अध्यक्ष तथा जेनरल मैनेजर हुए अहमूदुल्ला। समिति की बैठक शुक्रवार को नमाज के बाद हुआ करती थी। प्रत्येक जिले में समिति तथा उपदेशक बने। पटना को छोटी गोदाम तथा सितान को बड़े गोदाम कहा जाता था। जबकि दोनों के बीच की दूरी लगभग 200 मील थी। स्वयंसेवक तैयार कर सिताना भेजे जाते थे।

रास्ते में उनकी सुरक्षा, विश्राम तथा खानपान की व्यवस्था विश्वासी व्यक्तियों के जिम्मे होती थी। खासकर पटना, वाराणसी, कानपुर, दिल्ली, थानेश्वर, अम्बाला, अमृतसर, झेलम, रावलपिंड़ी, कटक, पेशावर में नियमित रूप से एजेंसियां स्थापित कर दी थी। वहाबियों ने आय के लिए उस्र (उपज के प्रतिमान पर एक सेर), मूठिया (प्रत्येक व्यक्ति पर एक मुट्ठी अनाज), फिजा (मसजिदों में सही व्यक्तियों से भिक्षा के रूप में), कुरबानी का चमड़ा तथा कई असाधारण कर भी लिये जाते थे। प्रत्येक गाँव में एक कर अधिकारी हुआ करता था, किंतु बड़े गाँवों में इनकी संख्या अधिक होती थी। इन्हीं में से एक **दीन का सरदार** यानी नमाज अदा करनेवाला तथा दूसरा **दुनिया का सरदार** यानी दुनियाबी मामलों का देखभाल करनेवाला कहलाता था। इनके अलावा एक **डाक का सरदार** हुआ करता था जो गोपनीयता एवं धन को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने का दायित्व निभाता था। वहाबी निःसंतान की मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति वहाबियों को प्राप्त होती थी। आंदोलन के स्वरूप पर निगाहें डाली जाए तो प्रारंभ में धार्मिक किंतु बाद में राजनीति। आंदोलन में वर्ग-संघर्ष भी था। सिख तथा अंग्रेज दोनों को दुश्मन मानते थे। सम्पन्न मुसलमान तथा कुछ मस्जिद के मुल्लाओं भी आंदोलन के चरित्र की निंदा की। अंग्रेजों को भगाकर मुसलमानों को ही पुनः स्थापित करना विकृत सोच को उजागर करता है।

वहाबी आंदोलन तथा सैनिक विद्रोह दोनों का आधार धार्मिक है। इसी प्रकार कोल विद्रोह तथा संथाल विद्रोह का भी आधार धार्मिक। सैनिक विद्रोह को भी राजे-राजवाड़े, निजाम और यहाँ तक

कि बहादुरशाह जफर का सहयोग भरपूर नहीं मिला। यही स्थिति कोल विद्रोह, बिरसा विद्रोह तथा संथाल विद्रोह के साथ रही। दूसरी बात कि सैनिक विद्रोह का क्षेत्र उसी प्रकार सीमित रहा जिस प्रकार वहाबी आंदोलन, कोल विद्रोह और संथाल विद्रोह का। सैनिकों में भी राष्ट्रीयता का अभाव रहा। राजपूत, सिख, गोरख तथा मुसलमान सैनिकों के बीच सामंजस्य स्थापित न हो सका। इससे अंग्रेजों ने लाभ उठाया। सही नेतृत्व का अभाव तो रहा ही, दक्षिण भारत की उदासीनता रही। साथ ही साथ विद्रोह केन्द्रीभूत हो गया यानी सिमट कर रह गया। वहाबी आंदोलन भी संस्थापक सैयद अहमद की मृत्यु के बाद नेतृत्वहीन ही हो गया। अंग्रेजो ने अनुकूल परिस्थितियों का भरपूर लाभ उठाया जिससे 1857-58 विद्रोह तथा 1830-30 वहाबी आंदोलन लगभग विफल हो गए।

निष्कर्ष

वहाबी आंदोलन, कोल विद्रोह और संथाल विद्रोह को 1857-58 विद्रोह का आधार माना जा सकता है। किसी भी आंदोलन तथा विद्रोह को सफल बनाने के लिए एकता तथा एकजुटता के साथ-साथ आर्थिक स्रोत का आधार मजबूत होना चाहिए। इतना अवश्य हुआ कि 1857-58 विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार जाग गयी और भारतीय प्रशासन तथा व्यवस्था कम्पनी से हटकर सरकार के अधीन चली गयी। किसी भी सरकारी व्यवस्था में कल्याण के तत्व होते हैं। सेवाभावना तथा हितैषी प्रवृत्ति रहती है। भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आंदोलन में भाग लेने वाले सभी नेता एक मंच पर आ गए थे। मजदूर-किसान से लेकर सम्पूर्ण भारतीय जनता एक सूत्र में बंध गयी थी। आजादी प्राप्त करने के मुद्दे पर कोई विभेद नहीं। उन्नीसवीं सदी में जितने भी सामाजिक सुधारक हुए, सबने अपने-अपने हिसाब से सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया जिनमें राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द आदि के विचारों ने काफी योगदान दिये। स्वामी विवेकानन्द ने युवा शक्ति को बढ़ावा। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, मोहम्मद जिन्ना से लेकर अन्य सभी राष्ट्रीय तथा प्रांतीय नेताओं ने कॉमन मकसद से काम किया। देश को रौशनी मिली।

प्रत्येक स्तर पर साहित्य के रचनाकारों ने भी भारत की आजादी के लिए एकजुटता दिखायी। जिस समय भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की शुरूआत हुई, उस समय अंधकार जैसा दृश्य था। उस अंधकार से समाज को निकालना तथा अंधकार को दूर कर प्रकाश देना रचनाकार या किसी स्तर के कलाकार का काम है। आंदोलन की अगुआई करनेवाले लगभग सभी राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र में रचनाकार तथा कलाकार थे। हृदय परिवर्तन, सत्य, अहिंसा, सविनय अवज्ञा, राष्ट्रप्रेम की भावना, महिला सशक्तीकरण, अंतिम आदमी वर्ग समूह की जागरूकता, एकता तथा समंजन एवं राष्ट्रीय-अन्तराष्ट्रीय चेतना का विकास प्रत्येक राजनेता तथा आम आदमी में विकसित हो गयीं, जिसकी जरूरत किसी भी विद्रोह तथा आंदोलन में पड़ती है। वहाबी आंदोलन, कोल विद्रोह, संथाल विद्रोह तथा 1857 विद्रोह में जितनी खामियाँ रहीं, उन्हें ही दूर का प्रयास एकजूट होकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में किया गया। यह विकासात्मक, चिंतनपरक, मूल्यवाहक से लेकर उच्चतर चेतना के मार्ग हैं। किसी भी संघर्ष को सफल बनाने के लिए जुनून तथा टीम स्पिरिट चाहिए। ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा ब्रिटिश हुकूमत में जुनून तथा टीम स्पिरिट था, किन्तु जब उनसे भी बेहतर जूनून तथा टीम स्पिरिट इकट्ठी हुई तब सल्तनत उखड़ गयी।

संदर्भित ग्रन्थों की सूची

1. चन्द्र विपिन : आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैक स्वान, पृष्ठ 129–148
2. जैन एम. एस. : आधुनिक भारत का इतिहास, विश्व प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 176–193
3. डॉ० बी के सिन्हा : दूर शिक्षा निदेशालय, पटना यूनिवर्सिटी के पाठ निर्माता, पृष्ठ 111– 161
4. चन्द्र विपिन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, क. न. पानिकर, महाजन सुचेता: भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ 1–10
5. नारायण हरिवंश : वीरों की अमानत, भेंट का फूल, तनय प्रकाशन, पृष्ठ 21–27
6. सिंह अयोध्या : भारत का मुक्ति संग्राम
7. अहमद क्यूऐमुद्दीन : वहाबी मूवमेंट इन इंडिया
8. चक्रवती दिगम्बर : संथाल हूल, 1855 का इतिहास
9. ग्रोवर एवं यशपाल : आधुनिक भारत का इतिहास
10. शुक्ल रामलखन : आधुनिक भारत का इतिहास

सिपाही विद्रोह के उभार के विभिन्न आयाम

जितेन्द्र कुमार

नेट उत्तीर्ण, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

यद्यपि जिस विद्रोह को मात्र सिपाही विद्रोह या सैन्यद्रोह या फिर धार्मिक आस्थाओं के ब्रिटिश अतिक्रमण का प्रतिवाद मानकर खारिज किया जाता था अब, 1857 का वह महान् विद्रोह भारतीय स्वतंत्रता का पहला संग्राम माना जाने लगा है। उन्नीसवीं सदी के दौरान औपनिवेशिक शासन के लिए वह संग्राम सबसे बड़ा विद्रोह था। उसने जनता के हर वर्ग के हिन्दू और मुसलमान दोनों को आकर्षित किया। सामाजिक और आर्थिक मूलभूत सुधारों की मांग को उत्प्रेरित किया। संग्राम ने नए समाज के निर्माण का आह्वान किया जिसमें जनता की मांगों का अधिक प्रजातांत्रिक प्रतिनिधित्व हो सके।

वह कोई आकाश से गिरी गाज नहीं थी। यह तथ्य अच्छी तरह से जाना ही नहीं गया कि 1763 और 1856 का काल ऐसा नहीं था कि भारतवासियों ने विदेशी शासन को बिना किसी प्रतिरोध के स्वीकार लिया हो। आदिवासियों, किसानों और राजाओं द्वारा ब्रिटिश विरोध बारंबार हुए। कुछ विरोध लंबे समय तक बने रहे, कुछ छुटपुट ही रहे और कुछ अवरोधों के क्रांतिकारी कार्य थे। सबने औपनिवेशिक शासन को चुनौतियां दीं। वन एवं कृषि संपदा के अनियंत्रित दोहन से उत्पन्न विकराल दरिद्रता और जनता की पद्लित स्थिति, दोनों को उस काल ने देखा था।

ब्रिटिश करों का बोझ कमर तोड़ू था। भारतीय किसानों और दस्तकारों से उनकी पैदावार का हिस्सा, उनसे अतिरिक्त धन वसूली तथा बेगार करवाने में ब्रिटिश अधिकारी बल प्रयोग करते थे। इनके खिलाफ शिकायतों को न्यायालय स्वीकार नहीं करते थे। 1856 में ब्रिटिश हाउस ऑफ कमीशंस के सामने टार्चर कमीशन, मद्रास ने पहली रिपोर्ट में यह स्वीकार किया था कि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी यातना देने का परित्याग नहीं करते और न ही वे इसे रोकने का कोई उपाय करते थे। 1855 सितंबर में, कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ऑफ ईस्ट इंडिया कंपनी को दिये गए लार्ड डलहौली के पत्र से पुष्टि होती है कि यातना का वह तरीका केवल मद्रास प्रिसीडेंसी तक ही सीमित नहीं था वरन् उसका प्रयोग प्रत्येक ब्रिटिश शासित प्रदेश में किया जाता था। दुखांत प्रतिरोध के सिवाय निराश जनता के पास कोई उपाय नहीं था। लगभग हर वर्ष सशस्त्र विद्रोह होते थे और ब्रिटिश द्वारा निर्ममतापूर्वक कुचल दिये जाते थे। ब्रिटिश जैसी अग्नेय शक्ति के अभाव में विद्रोहियों को गोली से उड़ा दिया जाता था और संवाद साधनों के अभाव में विद्रोह अन्य विद्रोहों से सहकार्य नहीं कर पाते थे। प्रतिकूल समय के कारण करारी हारें होतीं थीं। तब भी, इनमें से कुछ संघर्ष अनेक वर्षों तक चले।

पहले के विद्रोहों में से एक शिमोगा के डोंडिया वांग के द्वारा किया गया था। 1799 में, उसने टीपू सुल्तान की हार के बाद शिमोगा, चित्रदुर्ग और बेल्लारी जिले को थोड़े समय के लिए स्वतंत्र कर लिया था। 1824 में कर्नाटक की रानी चिन्नम्मा ने कित्तू क्षेत्र में एक विद्रोह का नेतृत्व किया। पांच वर्ष बाद, सिंगोली रायना का गौरिल्ला युद्ध हुआ। 1833 तक कर्नाटक में अनेक विद्रोह होते रहे। 1831 का कोल विद्रोह, 1855 का संथाल विद्रोह और 1816 से 1832 तक चला कुच विद्रोह भी महत्वपूर्ण रहे। ब्रिटिश शक्ति के सामने धराशायी होने के पूर्व उड़ीसा एवं पश्चिमी बंगाल के कुछ राजाओं ने अनेक शताब्दियों तक उनका कठोर प्रतिरोध किया था। सैन्य विद्रोह के पूर्व वेलूर, उत्तरी तमिलनाडू, के भारतीय सैनिकों ने 1806 में विद्रोह किया। यद्यपि वह असफल रहा परंतु उसके फलस्वरूप ब्रिटिश अधिपतियों के विरुद्ध सैनिकों की समस्याओं के लिए राजनैतिक समितियां बनाई गई थी।

उदाहरण के लिए बंगाल की सेना में 1,40,000 भारतीय लोग ''सिपाही'' नियुक्त हुए थे जो लगभग 26,000 ब्रिटिश अधिकारियों के अधीन थे। इन सिपाहियों ने 1838-42 के पहले ब्रिटिश-अफगान युद्ध की अग्नि को सहा और दो पंजाब के युद्धों 1845-46 एवं 1848-49 और दूसरे एंग्लों-बर्मी युद्धों को निकटता से लड़ा था। उन्हें अफीम युद्ध में चीन के विरुद्ध क्रीमियन युद्ध 1854 में लड़ने के लिए समुद्र पार भेजा गया था। मृत्यु का लगातार सामना करने पर भी भारतीय सिपाहियों को अपनी पदोन्नति के बहुत ही कम अवसर मिलते थे। सभी प्रमुख पदों पर यूरोपियनों का एकाधिकार था।

बंगाल सेना के बहुत से सिपाही, उत्तर प्रदेश के हिंदी भाषी क्षेत्रों से थे जहां अवध को छोड़कर ब्रिटिश ने ''महलवारी'' करों को लगाया था जो राजस्व की लगातार बढ़ती हुई मांग से निहित था। 19वीं शताब्दी के पहले भाग में, ब्रिटिश को दिया जाने वाला कर-राजस्व 70 प्रतिशत तक बढ़ाया गया। इससे कृषि पर कर्ज का भारी बोझ बढ़ा और बहुत तेजी से जमीन महाजनों और व्यापारियों के यहां रेहन रखी जाने लगी। इसी अमानवीय टैक्स प्रथा को अवध तक फैलाया गया जहां की संपूर्ण कुलीनता को सरसरी तौर पर अपदस्थ किया जा चुका था।

परिणामस्वरूप, ब्रिटिश के विरुद्ध असंतुष्टि केवल कृषि समुदायों तक ही सीमित नहीं रही। कुलीन एवं मध्यमवर्ग के दिवालियापन से अनेक वस्तुओं की मांग लुप्तप्राय हो गई। उसी समय, स्थानीय उद्यमों को ब्रिटिश आयातित वस्तुओं की भ्रष्ट प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ा। इन परिणामों को विद्रोही राजा फिरोजशाह ने अपनी 1857 की घोषणा में पेश किया: ''यूरोपियनों ने भारत में अंग्रेजी वस्तुओं को लाकर बुनकरों, सूती वस्त्र कर्मियों, बढ़ईयों, लुहारों और जूता बनाने वालों को बेकार बना दिया और उनके पेशों को हड़प लिया। हर प्रकार का हस्तकार भिखारी बन गया।''

इन घटनाओं की तुलना भारत में मुगलों के आगमन से कर लेते हैं। बाबर ने भारतीय जलवायु और रीतिरिवाजों की नापसंदगी के बाबजूद, भारत के हस्तकारों की कुशलता एवं विभिन्नता को परखा और बढ़ते हुए भारतीय उत्पादन में अपार संभावनाएं देखीं। ब्रिटिश के बिल्कुल विपरीत, मुगलों ने भारतीय शिल्पियों की शक्तियों का गठन किया जो पहले की सल्तनतों के समय में अच्छी तरह से स्थापित थे और उनको बाद के समय में चमत्कारी ऊंचाइयों तक उठाया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक, वास्तव में, ब्रिटिश नीतियों ने औद्योगिकरण के पूर्व के गुणों को पूरी तरह से दमघोंटकर मार

डाला। उस काल के एक ब्रिटिश इतिहासकार थॉमस लो ने परखा कि कैसे ''पश्चिमी दुनिया पर अपने नाम और आश्चर्य को फैलाने वाले भारतीय कलाकार और उत्पादक, आज के समय में, लगभग लुप्त हो गए हैं। एक समय के प्रसिद्ध और जाने माने शहर विनाश के ढेर हैं।''

इन सबने 1857 के विद्रोह के लिए भूमि तैयार की थी। यद्यपि भारत के उत्तर में केंद्रित 1857 का विद्रोह पूर्व में ढाका और चटगांव से पश्चिम में दिल्ली तक फैला। बंगाल के मुख्य शहर, उड़ीसा में कटक सहित बिहार, संभलपुर, पटना और रांची ने भागीदारी की। मध्य भारत में विद्रोह इंदौर, जबलपुर, झांसी और ग्वालियर तक फैला। राजस्थान के नसीराबाद, महाराष्ट्र में औरंगाबाद एवं कोल्हापुर और अफगान सीमा पर पेशावर में उपद्रव भड़के थे। उत्तर प्रदेश के समतल मैदान में ही युद्ध-भूमि थी। परंतु ब्रिटिश आक्रमणकारियों को हर बड़े शहर से कठोर अवरोध मिलता रहा। यह संग्राम सिपाही विद्रोह से शुरू होकर जल्दी ही अवध और उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में जनविद्रोहों से संयुक्त हुआ। ब्रिटिश शासन का विरोध जेलों और सरकारी इमारतों पर धावों से प्रकट हुआ। सरकारी ''खजानों'' पर धावा बोला, बैरिकों और न्यायालय भवनों पर प्रहार किया और जेल के दरवाजों को तोड़ डाला गया। जनविद्रोह समाज के हर वर्ग के लोगों की सहभागिता का बड़ा आधार था जैसे सीमावर्ती धनवान, कृषक, कारीगर, धार्मिक गुरू एवं भिक्षुक गण, सरकारी सेवक, दुकानदार और नाविक लोग।

1857 में मई 10 को मेरठ में शुरू हुए विद्रोह के बाद कई, महीनों तक भारत के उत्तरी मैदान में ब्रिटिश शासन खत्म हो गया था। कई मुस्लिम और हिन्दू राजा विद्रोही सैनिकों, लड़ाकू किसानों और अन्य राष्ट्रीय सेनानियों के साथ शामिल हुए। विद्रोह के प्रमुख नेताओं में नाना साहेब, तांतिया टोपे, बक्तखान, अजीमुल्लाखान, रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हजरत महल, कुंवर सिंह, मौलवी अहमदउल्ला, बहादुरखान और राव तुलाराम थे। ब्रिटिश के विरुद्ध उत्तराधिकार के बदनाम कानून सहित राजाओं की अनेक समस्याएं थीं। उत्तराधिकार कानून ब्रिटिश को किसी भी राज्य में ''कानूनी पुरुष उत्तराधिकारी'' न होने पर, उस राज्य को अपने अधीन कर लेने का अधिकार देता था। विद्रोहियों ने दस सदस्यों की कोर्ट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन का गठन किया जिसमें छः सैनिक और चार नागरिक थे। इनमें हिन्दू और मुस्लिम दोनों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया। विद्रोही सरकार ने सामान्य उपयोग की वस्तुओं को कर मुक्त किया और जमाखोरी को दंडित किया। उनके घोषणापत्र में ब्रिटिश द्वारा थोपी गई घृणित जमीनदारी प्रथा के उन्मूलन और किसानों को जमीन देने का आदेश था।

यद्यपि जिन राजाओं ने विद्रोहियों का साथ दिया था वे इतने आगे तक नहीं जाना चाहते थे। विद्रोही-सरकार द्वारा की गई घोषणाओं के अनेक पक्षों पर ध्यान देने की आवश्यकता है। सभी घोषणाएं जनसामान्य भाषा में की गई थीं। हिन्दी और उर्दू के मूलपाठ के साथ हिन्दू और मुस्लिम दोनों के नाम से घोषणाएं की गई थीं। फिरोजशाह ने अगस्त 1857 की अपनी घोषणा में कुछ महत्वपूर्ण बातों का समावेश किया था। यथा सरकारी भाप चलित नावों एवं भाप गाड़ियों के मुफ्त उपयोग करने की सुविधा के साथ व्यापार केवल भारतवासियों के लिए सुरक्षित किया जाना चाहिए। सार्वजनिक कार्यालय भी केवल भारतवासियों को दिए जायें और सिपाहियों का वेतन बढ़ाया जाये।

घटनाओं के ऐसे मूलगामी मोड़ से घबराकर ब्रिटिश शासकों ने संघर्ष को कुचलने के लिए सैनिकों और हथियारों के सभी स्रोतों को झोंका। यद्यपि विद्रोहियों ने वीरतापूर्वक मुकाबला किया परंतु

सिख, राजस्थानी और सिंधिया जैसे मराठा राजाओं ने ब्रिटिश राजभक्त बनकर भारत में उनके बने रहने का अवसर दिया। उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड केनिन ने ध्यान दिया: ''राजाओं ने तूफान में तरंगरोध की तरह काम किया अन्यथा उसने हमें एक ही लहर से बहा दिया होता! व्यापारिक समुदायों की पुराणपंथिता ने भी ब्रिटिश की मदद की। वे लंबे समय तक चलने वाले जनविद्रोह की अनिश्चितताओं का साथ नहीं देना चाहते थे। परंतु साम्राज्य को बचाने में, ब्रिटिश क्रूरता और हथियारों का भारी महत्व था। विद्रोह दबाने की ब्रिटिश बर्बरता अभूतपूर्व थी। 1858 मई 8 को लखनऊ के हारने के बाद फ्रेडरिक एंग्लिस ने कहा था: ''सत्य है कि यूरोप अथवा अमेरिका में ब्रिटिश जैसी क्रूर सेना नहीं थी। लूटमार, हिंसा, कत्लेआम ये जो अन्य जगहों से सख्ती और पूर्णता से समाप्त हो चुके हैं, ब्रिटिश सैनिकों के निहित स्वार्थ के अधिकार हैं, आदिमकालीन विशेषाधिकार हैं'' अवध अकेले में 1,50,000 लोगों की हत्या की गई जिसमें से 1,00,000 लोग नागरिक थे। दिल्ली के महान उर्दू कवि मिर्जा गालिब ने लिखा: ''सामने आज खून की नदियां देखता हूं।'' उन्होंने आगे वर्णन किया कि कैसे विजयी सैनिक हत्या की रंगरेलियां मना रहे थे। लोगों की संपत्ति को लूटते और जैसे-जैसे आगे बढ़ते हर सामने पड़ने वाले को मौत के घाट उतार रहे थे।

दिल्ली में, बहादुरशाह जफर के तीनों बेटों को ''खूनी दरवाजे'' पर आम जनता के बीच फांसी दी गई। बहादुरशाह को अंधा बनाया और देश निकाले पर रंगून भेजा, जहां वे 1862 में मर गए थे। दया की भीख मांगने को नकारते हुए उसने ब्रिटिश को मुंह तोड़ जवाब दिया था: ''यदि विद्रोहियों के हृदय में स्वाभिमान की ज्वाला मंद नहीं पड़ी तो भारत की शक्ति एक दिन लंदन को हिला देगी।'' थॉमस लो ने लिखा था: ''अब भारत में रहना ज्वालामुखी के मुंहाने पर खड़े रहने के समान है जिसके किनारे हमारे कदमों से दूर हो तेजी से बिखर रहे हैं और उबलता हुआ लावा फूट पड़ने तथा हमें भस्म कर देने के लिए तैयार है।'' 1857 के विद्रोह ने हिन्दू और मुस्लिम एकता को इस्पात की तरह मजबूत बनाया। वह संग्राम स्वतंत्रता प्रेमियों के भविष्य की पीढ़ियों के लिए आशा और प्रेरणा देने का महत्वपूर्ण मील का पत्थर था। 1837 के बाद औपनिवेशिक शासन में नाटकीय बदलाव आया। राष्ट्रीय विद्रोह की 1857 की हार के बाद ब्रिटिश ''बांटो और राज करो'' की नीति पर धार्मिक घृणा को फैलाते हुए तेजी से काम करने लगे। झूठ एवं भ्रम का सहारा लेते हुए ब्रिटिश ने भारतीय इतिहास को जानबूझकर सांप्रदायिक रंगों में ढाला और भारतीय जनगण को बांटने के लिए घातक जातिवादी नीतियों को लागू किया। वे नीतियां आज भी उपमहाद्वीप को परेशान कर रहीं हैं। जब अधिकांश लोग औपनिवेशिक जड़ों के इस अलगाव और जातिवादी खाई को पहचान लेंगे तब संभव है कि हिन्दू मुस्लिम एकता को पहुंचे नुकसान को थोड़ा कम किया जा सके। यदि 1857 की आत्मचेतना में हिन्दू और मुस्लिम पुन: मिलें और आपसी सहयोगी बन सकें। तो हमारा उपमहाद्वीप आज भी समर्थ है औपनिवेशिक विगत से मुक्ति पाने में।

संदर्भ-सूची

- Alavi, Seema (1996), *The Sepoys and the Company: Tradition and Transition 1770-1830*, Oxford University Press.
- Anderson, Clare (2007), *Indian Uprising of 1857–8: Prisons, Prisoners and Rebellion*, New York: Anthem Press

- Bandyopadhyay, Sekhara (2004), *From Plassey to Partition: A History of Modern India*, New Delhi: Orient Longman.
- Bayly, Chistopher Alan (1988), *Indian Society and the Making of the British Empire*, Cambridge University Press.
- Harris, John (2001), *The Indian Mutiny*, Ware: Wordsworth Editions
- Hibbert, Christopher (1980), *The Great Mutiny: India 1857*, London: Allen Lane
- Keene, Henry George (1883), *Fifty-Seven. Some account of the administration of Indian Districts during the revolt of the Bengal Army*, London: W.H. Allen
- Kulke, Hermann; Rothermund, Dietmar (2004), *A History of India* (4th ed.), London: Routledge
- Majumdar, R.C.; Raychaudhuri, H.C.; Datta, Kalikinkar (1967), *An Advanced History of India* (3rd ed.), London: Macmillan
- Markovits, Claude, ed. (2004), *A History of Modern India 1480-1950*, London: Anthem
- Metcalf, Thomas R. (1990), *The Aftermath of Revolt: India, 1857-1870*, New Delhi: Manohar
- Metcalf, Thomas R. (1997), *Ideologies of the Raj*, Cambridge University Press
- Palmer, Julian A.B. (1966), *The Mutiny Outbreak at Meerut in 1857*, Cambridge University Press
- Robb, Peter (2002), *A History of India*, Basingstoke: Palgrave
- Roy, Tapti (1994), *The politics of a popular uprising: Bundelkhand 1857*, Delhi: Oxford University Press, pp. 291
- Stein, Burton (2001), *A History of India*, New Delhi: Oxford University Press
- Stokes, Eric (1980), *The Peasant and the Raj: Studies in Agrarian Society and Peasant Rebellion in Colonial India*, Cambridge University Press
- Stokes, Eric; Bayly, C.A. (ed.) (1986), *The Peasant Armed: The Indian Revolt of 1857*, Oxford: Clarendon
- Taylor, P.J.O. (1997), *What really happened during the mutiny: a day-by-day account of the major events of 1857-1859 in India*, Delhi: Oxford University Press.

गांधीजी की दृष्टि में सामाजिक न्याय

आलोक कुमार सिन्हा

NET/JRF, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना

पौर्वात्य चिंतपरंपरा, धार्मिक श्रृतियों, गीता तथा उपनिष्द् जैसे महान धर्म ग्रन्थों से अनुप्राणित गाँधी का नाम सामाजिक न्याय के प्रमुख उन्नायकों में आदर के साथ लिया जाता है। गाँधी वेद और उपनिषद् में वर्णित 'श्रेय' और प्रेय की धारणा को स्वीकार करते हुयें यह मानते है कि व्यक्ति को मात्र संकीर्ण स्वार्थ की प्राप्ति के लिये श्रेय मार्ग से नहीं हटना चाहियें। श्रेय मार्ग वह है जा सामाजिक समरसता, परमार्थ सुखवादी दृष्टिकोण और पर कल्याण की भावना रखता है।[1] जो व्यक्ति मात्र प्रेम को महत्व देता है वह समाज कल्याण मार्ग से विरत हो जाता है।[2]

गाँधी के वैचारिक चिन्तन में सामाजिक न्याय का महत्वपूर्ण स्थान है। तत्कालीन सामाजिक परिदृश्य में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनैतिक स्तरों पर निहित असमानता एवं अन्यायपूर्ण क्रियाओं से समाज को मुक्त कराने की प्रतिबद्धता में गाँधी इस अवधारणा को भारतीय समाज की मौलिक आवश्यकता के रूप में प्रस्थापित करते है। यही कारण था कि गाँधी आजीवन अछूत जाति एवं स्त्रियों के उत्थान कार्यो में लगे रहे। वे जीवन में दो विषयों पर किसी प्रकार का समझौता करने को तैयार नही थें, एक स्त्री के अधिकार का प्रश्न एवं दूसरा अछूतों के अधिकार का प्रश्न। जिस समाज का कोई भी भाग मानवीय गरिमा की न्यूनतम आवश्यकताओं से वंचित हो, वह सामाज सामाजिक न्याय का विलोम है।

न्यूनाधिक रूप में गाँधी सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापना हेतु साध्य और साधन पर विशेष बल देते है। उनके अनुसार सामाजिक न्याय की प्राप्ति पवित्र साधनों से ही सम्भव है। जहाँ मार्क्स इसे प्राप्त करने के लिए वर्ग संघर्ष की बात करते है, *जार्ज सोरेल* ध्वसांत्मक साधनों को अनुमोदन करते है, वहीं गाँधी की दृष्टि में सामाजिक न्याय की शर्त अहिंसा है। सामाजिक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने के लिए उन्होंने सत्याग्रह को एकमात्र साधन के रूप में स्वीकार किया था, और शक्ति के प्रयोग के प्रति असहमति व्यक्त किया था। गाँधी के शब्दों में :

मैने हमेशा यह विश्वास किया है कि सामाजिक न्याय सबसे नीचे और कमजोर वर्गो के लिए भी शक्ति के द्वारा प्राप्त करना असम्भव है। मैने आगे यह विश्वास किया है कि सबसे नीचे के व्यक्तियों के अपने प्रति अन्याय के निराकरण हेतु अहिंसा परक साधनों के प्रशिक्षण द्वारा अपने प्रति अन्याय को दूर करना सम्भव है और यह साधन अहिंसक असहयोग है।[3]

गाँधी का यह मानना था कि समाज में कुछ लोग जो अति सम्पन्न है उन्हे सामाजिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए। जब विकास के संसाधनों एवं सोचों पर कुछ लोगों का एकाधिकर टूटेगा तभी नीचे के लोग अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा पायेंगे। तात्पर्य यह कि सामाजिक न्याय सार्वभौमिक हित के लिए आवश्यक है।[4]

गाँधी के सामाजिक न्याय का आधा नैतिक है। उपनिषदों तथा जैन एवं बौद्ध दर्शन से प्रभावित गाँधी सामाजिक न्याय की प्राप्ति हेतु पंचमहाव्रत का पालन अनिवार्य मानते है। ये पंचमहाव्रत हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य।

जहाँ तक सामाजिक न्याय का प्रश्न है गाँधी जी ने न्याय, समानता, ओर स्वतंत्रता के आधार पर एक अहिंसक समाज रचना का सम्पूर्ण जीवन दर्शन प्रस्तुत किया है।[5]

गाँधी का मानना है कि समाज का समर्थवान व्यक्ति जब परार्थसुख एवं सेवा की भावना से सामाजिक शक्ति के प्रतीक गरीब, असहाय एवं निरीह लोगों की सेवा करता है तो समाज के भीतर सामाजिक समरसता एवं प्रेम का संचार होता है। गाँधी वास्तविक प्रेम की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि जो आपसे घृणा करते है, उनसे भी प्रेम करना। अपने पड़ोसी से प्रेम करना चाहे वह आप पर भले ही विश्वास न करता हो वह प्रेम किस काम का यदि वह तभी तक बना रहे जब तक कि मित्र का आप पर विश्वास हों।[6]

गाँधी जी की दृढ़ मान्यता है कि सत्य पर आधारित समाज में सामाजिक न्याय की समस्या नहीं रह जाती। गाँधी जी का सत्य के प्रति प्रेम, उनका वेदों व उपनिषदों के प्रति अगाह श्रद्धा का परिणाम रहा है। ऋग्वेद में सत्य शब्द का प्रयोग ऋत् के समानार्थक हुआ है।[7] ऋग्वेद में कहा गया है कि- वाणी के द्वारा सत्य व्यवहार की क्षमता मुझे प्राप्त है।[8] ऋग्वेद में भी यह माना गया है कि- वही सत्यवाणी मेरी रक्षा करे।[9] वैदिक काल में सत्य को पृथ्वी, जल, तेल, वायु, आकाश आदि का आधार माना गया है।[10] वैदिक युग में सत्यवादी को नही अपितु सत्य कर्म करने वाले को अधिक महत्व दिया गया है।[11] ब्राह्मण एवं अरण्यक दर्शन में तो सत्य को ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है।[12]

और कहा गया है कि आत्मा सत्य है।[13] उपनिषद् के मंत्रों में सत्य को ज्ञान और अनन्त आनन्द के साथ ब्रह्म का स्वरूप माना गया है।[14] प्रश्नोपनिषद में कहा गया है कि- जो व्यक्ति असत्य भाषण करता है वह निश्चय पूर्वक मूलसहित सूख जाता है।[15] अर्थात् उसका समूल नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भागवत् गीता में सत्य का प्रयोग प्रिय और हित के साथ हुआ है।[16] गीता में कहा गया है कि ''असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का नाश या अभाव नहीं होता है।[17]

जैन एवं बौद्ध दर्शन में सत्य को एक महाव्रत के रूप में मान्यता मिली है। जैन दर्शन में कहा गया है कि सत्य में धृति स्थिति है।[18] सत्य का साधक सुख-दु:ख में एक समान रहता है वह किसी भी परिस्थिति में न तो धबड़ाता है और न ही विचलित होता है।[19] बौद्ध दर्शन का आधारस्तम्भ ही चार आर्यसत्य है। जिसमें भिक्षुओं से प्रिय तथा सत्य वचन बोलना चाहियें।[20] कामनाओं के निमित मनुष्य का असत्य कभी नही बोलना चाहियें।[21] इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी सत्य एवं प्रिय वाणी का समर्थन किया गया है। पतंजलि योगसूत्र में भी अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह के साथ-साथ सत्य को भी एक यम के रूप में स्वीकार किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पाँच यम है।[22]

गाँधी जी ने अस्तेय को अहिंसा तथा सत्य को सहायक व्रत के रूप में स्वीकार किया है।

उनके अनुसार- किसी एक चीज की हमें जरूरत नही है, फिर भी वह जिसके कब्जे में हो उससे, चाहे उसकी इजाजत लेकर ही, लेना चोरी है। जिसकी जरूरत न हो ऐसी एक भी चीज हमें

नहीं लेनी चाहियें। अस्तेय व्रत पालने वाला एक के बाद एक अपनी हाजते कम करता जायेगा। इस जगत में बहुत सी कंगाली अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।[23]

गाँधी जी ने अपने चौर्थ व्रत अपरिग्रह का संबंध अस्तेय से बताया है। गाँधी जी कहते है कि- ''जो माल असल में चुराया नहीं है उसे जरूरत न होन पर भी जमा करने से वह चोरी का माल सा बन जाता है। परिग्रह के माने है संचय यानि इकट्ठा करना। सत्य की खोज करने वाला अहिंसा बरतने वाला परिग्रह नहीं करता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। अपने लिये जरूरी चीज वह रोज की रोज पैदा करता है इसीलिये अगर हम उस पर भरोसा रखते है तो हमें समझना चाहिये कि हमारी जरूरत की चीजें वह रोजना देता है, देगा।[24] इस तरह से यदि गाँधी जी के अपरिग्रह व्रत का पालन करते हुये सब लोग अगर अपनी जरूरत की चीजों का ही संग्रह करें तो जगत में सामाजिक असमानता और उसमें से पैदा होने वाले सभी प्रकार के दु:ख स्वत: ही नष्ट हो जायेंगे। और विभिन्न निर्योग्यताओं से पीड़ित समाज के असहाय लोगों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक न्यायसंगत वितरण सुनिश्चित किया जा सकेगा जो सामाजिक न्याय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है। गाँधी जी स्पष्ट करते है कि- अपरिग्रही मनुष्य निरंतर श्रम करते हुये भी समाज से उतना ही ग्रहण करे जितना उसके जीवन के लिये अनिवार्य होय शेष सब कुछ उसे समाज के कल्याण के लिये समर्पित कर देना चाहियें।[25] गाँधी जी का पाचवाँ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। वे ब्रह्मचर्य को केवल कामेच्छा निरोध तक ही सीमित नही मानते। उनका कथन है कि- ''मन, वचन एवं कर्म से सभी समयों में, तथा सभी स्थानो पर अपनी समस्त इन्द्रियों का पूर्ण संयम अथवा नियंत्रण ही ब्रह्मचर्य है।''[26] ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला नि:स्वार्थ भाव से समाज के लिये जीता है और उसका प्रेम सर्वव्यापी होता है। जैसे ही वह इन्द्रियों के वश में होकर तामसिक भोजन, कामोत्तेजक वस्तओ, दृश्यों स्पर्श तथा गंध आदि के प्रति संकुचित होने लगता है और वह अपने और परायें में भेद करने लगता है ऐसे में सामाजिक अन्याय, शोषण, अत्याचार व दमन जैसी अनेक सामाजिक बुराइयाँ जन्म लेने लगती है और हम सामाजिक न्याय के मूल लक्ष्यों से दूर हो जाते है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म की-सत्य की खोज में चर्या।[27] अर्थात् उसके अनुरूप आचरण एवं व्यवहार करना। ब्रह्मचर्य व्रत का भली-भाँति पालन करने वाला वासनात्मक विचारों का परित्याग करके पवित्र विचारों का विकास करता है और सामाजिक हितों के कार्य में अपना सारा जीवन अर्पित कर देता है। ऐसे समाजों में कोई किसी का शोषण नहीं करता है और सामाजिक सरोकारों के प्रति सभी संवदनशील होते है। परिणामस्वरूप सामाजिक न्याय की प्रतिस्थापना स्वत: ही हो जायेगी।

सन्दर्भ

1. श्रिये श्रेयांसस्त वसोरथेशु- ऋग्वेद 5-6 -:4
2. प्रेय: (काम के प्रति अतिशय लगाव)- कठोपनिषद् 2.1.2
3. हरिजन, 20 अप्रैल, 1940.
4. वारडोली, 13.12.1941.
5. सिंह, राम जी, गाँधी विचार और सामाजिक पुनर्रचना, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेश, वाराणसी 1997, पृ.सं. 151.

6. हरिजन, 3 मार्च 1946 पृ. 28.
7. "ऋतं च सत्यं चामीद्धात्तयसोडध्यजाक्त्"-ऋग्वेद, 1/190/1.
8. ''वाचः सत्यम्शीप---।" - यजुर्वेद, 34/4.
9. ''सा मां सत्योक्तिः परिपातु।" ऋग्वेद, 10/37/2.
10. ''सत्येनीत्तमिता भूमिः।"-ऋग्वेद, 10/85/1.
11. ''सत्यं नदन्त्सत्य कर्मन।" -ऋग्वेद, 1/113/4.
12. ''सत्यमेश ब्रह्म।"-सतपथ ब्राह्मण, 2/1/4/10.
13. ''सत्यं चं आत्मा।" - तैत्तिरीय ब्राह्मण, 3/7/7.
14. ''सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म।" - तैत्तरीय उपनिषद्, 2/1.
15. ''समूलो वा एष परिशुष्यति योशष्नृतमभिवदति।"- प्रश्नोपनिषद् 6/1.
16. ''अनुद्धेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।" - गीता, 17/15.
17. ''नासतो विद्यतेभावो ना भावो विद्यते सतः।- गीता 2/16.
18. ''सच्चामि घिइं कुण्श्ष्वह।" - आचारांग सूत्र, 1/3/2.
19. ''साहियो दुक्खमत्राये पुो नो झंझायें।" आचारांग सूत्र, 1/3/3.
20. ''प्रिय एव भासाति नो अप्पियं। सच्चंयेव भासति नो अलिकं," - सूत्तनिकाय, 29/1.
21. ''न कामकामा अलिंक भणन्ति"। सूत्त निकाय, 14/1.
22. ''अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहायमा।।" योगसूत्र 2/30.
23. गाँधी, मोहन दास, मंगल प्रभात (अनु. अमृतलाल ठाकोर दास) नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1958, पृ. 27.
24. वहीय पृ. 29.
25. वर्मा, वेद प्रकाश, नीतिशास्त्र के मूलसिद्धांत, एलाइड पब्लिशर्स लिमिटेड, तृ. संस्करण, नई दिल्ली, 1992, पृ. 369.
26. वही, पृ. 369.
27. गाँधी, मोहनदास, मंगल प्रभात (अनु. अमृतलाल ठाकोरदास) नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1958, पृ. 20.

इतिहास

ब्रिटिश काल में न्याय प्रणाली की विवेचना

देवेश कुमार

एम०ए०, नेट उत्तीर्ण, लल्लू पोखर, मुंगेर

भारत में आधुनिक न्याय प्रणाली का विकास मुख्यत: अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना से जुड़ा है। भारत में अंग्रेज़ों ने दीवानी एवं फौजदारी न्यायालयों के श्रेणीबद्ध संगठन के जरिए न्याय प्रदान करने की एक नवीन व्यवस्था की शुरुआत की। इस नवीन व्यवस्था को वारेन हेस्टिंग्स (1772-85) ने प्रारंभ किया, जबकि इसको सुदृढ़ बनाने का श्रेय लॉर्ड कार्नवालिस (1786-93ई.) को है।

सर्वप्रथम 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने प्रत्येक जिले में दो न्यायालय स्थापित किये। ये थे-

1. दीवानी न्यायालय
2. फौजदारी न्यायालय। दीवानी न्यायालय का अध्यक्ष जिले का अंग्रेज़ कलक्टर होता था और उसकी मदद के लिए एक भारतीय अधिकारी होता था।

दीवानी न्यायालय में सम्पत्ति, विवाह, जाति प्रथा, ऋण, अनुबंध, भू-राजस्व तथा उत्तराधिकार से संबंधित मामले की सुनवाई की जाती थी। यहाँ हिन्दुओं पर हिन्दू विधि एवं मुसलमानों पर मुस्लिम विधि लागू होती थी। जिला दीवानी न्यायालय के ऊपर कलकत्ता में एक सदर दीवानी न्यायालय की स्थापना की गयी थी।

कलकत्ता कौंसिल का अध्यक्ष (गवर्नर) सदर दीवानी न्यायालय का अध्यक्ष होता था, जबकि कौंसिल के सदस्य न्यायालय के सदस्य होते थे।

जिला फौजदारी न्यायालय का अध्यक्ष एक भारतीय काज़ी होता था तथा उसकी मदद के लिए एक मुफ्ती और दो मौलवी हुआ करते थे। जिले का कलक्टर काज़ी के काम पर नज़र रखता था।

फौजदारी न्यायालय में चोरी, हत्या, तथा बलात् सम्पत्ति हड़पने से संबंधित मुकदमे की सुनवाई होती थी। जिला फौजदारी न्यायालय के ऊपर कलकत्ता में एक सदर फौजदारी (निजामत) न्यायालय स्थापित की गयी थी। फौजदारी न्यायालय की अध्यक्षता ''दरोगा-ए-अदालत'' करता था और उसकी सहायता के लिए एक मुख्य काज़ी, एक मुफ्ती तथा तीन मौलवी होते थे।

कलकत्ता कौंसिल सदर निजामत न्यायालय के कार्यों की देख-रेख करता था। यहाँ मुस्लिम कानून लागू होता था। जिला फौजदारी न्यायालय को मृत्युदण्ड देने एवं सम्पत्ति जब्त करने का अधिकार नहीं था। इसके लिए उसे सदर निजामत न्यायालय से प्रमाणित करवाना पड़ता था।

उपरोक्त न्यायालयों के अतिरिक्त 1774 ई. में रेगुलेटिंग एक्ट के तहत कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गयी। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश सहित तीन अन्य न्यायाधीश होते थे। यहाँ अंग्रेज़ी कानून लागू होता था इसके अंतर्गत बिहार, बंगाल एवं उड़ीसा की यूरोपीय प्रजा आती थी।

हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित सदर दीवानी एवं निजामत न्यायालय तथा सुप्रीम कोर्ट के मध्य संबंधों को स्पष्ट नहीं किया गया था, जिससे दोनों के मध्य टकराव हो जाता था। इस टकराव को दूर करने के लिए 1781 ई. में एक एक्ट पास किया गया। इस एक्ट के तहत सुप्रीम कोर्ट के कार्य क्षेत्र को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया और भू-राजस्व वसूली के मामलों में उसका कोई अधिकार नहीं रह गया।

कार्नवालिस ने न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से अपनी न्यायिक सुधार योजना 1793 ई. में प्रस्तुत की। जिसे कार्नवालिस संहिता (कोड) के नाम से जाना जाता है। यह संहिता शक्ति के पृथक्करण के सिद्धांत पर आधारित थी। इस संहिता के तहत कलक्टरों से न्याय संबंधी सभी अधिकार लेकर न्यायाधीशों को दे दिये गये। अब जिला न्यायाधीश सभी दीवानी मुकदमों को देखने लगा। जिला न्यायाधीश नागरिक सेवा का सदस्य होता था।

कार्नवालिस ने दीवानी न्यायालयों की एक क्रमबद्ध श्रृंखला स्थापित की, जिसके सबसे नीचे मुसिफ एवं अमीन का न्यायालय था। मुसिफ न्यायालय का अध्यक्ष एक भारतीय होता था, जिसे 50 रुपये तक के मामलों की सुनवाई का अधिकार था। इसके ऊपर रजिस्ट्रार का न्यायालय था, जिसका न्यायाधीश यूरोपीय होता था। इसे 200 रुपये तक के मामलों की सुनवाई का अधिकार था।

उपरोक्त सभी न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध जिला न्यायालय में अपील की जा सकती थी। यहाँ यूरोपीय न्यायाधीश भारतीय विधिवेत्ताओं की मदद से मुकदमे की सुनवाई करते थे।

जिला न्यायालय के ऊपर चार प्रान्तीय न्यायालय कलकत्ता, मुर्शिदाबाद, ढ़ाका तथा पटना में थे। अब प्रत्येक न्यायालय में दो के बदले तीन यूरोपीय न्यायाधीश होते थे। वे पूर्ववत् फौजदारी सर्किट कोर्ट (भ्रमणशील न्यायालय) का काम करते थे। ये न्यायालय 1000 रुपये तक के मामले की सुनवाई कर सकते थे।

इनके ऊपर कलकत्ता में सदर दीवानी न्यायालय (सर्वोच्च न्यायालय) होता था, जिसके सदस्य गवर्नर जनरल एवं उसके पार्षद होते थे। यह न्यायालय 1000 से 5000 रुपये तक के मामले की सुनवाई कर सकता था।

कार्नवालिस संहिता के तहत दीवानी के भ्रमणशील न्यायालयों को निजामत के सभी अधिकार दे दिये गये थे। साथ ही, फौजदारी न्यायालयों के मुस्लिम फौजदारी कानून को संशोधित किया गया और उन्हें कम सख्त बनाया गया, जैसे अंग-भंग की सज़ा देने की मनाही कर दी गयी।

फौजदारी न्यायालयों से सभी संबंधित मुकदमे अब अंग्रेज़ न्यायाधीशों द्वारा सम्पन्न होने लगे। भारतीयों को इससे मुक्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त गवर्नर जनरल को सज़ा कम करने अथवा माफ करने का अधिकार दिया गया।

इस प्रकार, कार्नवालिस की न्याय प्रणाली पश्चिमी न्याय प्रणाली पर आधारित थी। छोटे-मोटे संशोधन के साथ यह प्रणाली बेंटिक के समय तक चलती रही। उसने इसमें व्यापक संशोधन किये।

बेंटिक ने प्रान्तीय, अपीलीय तथा भ्रमणशील न्यायालयों को भंग कर दिया। न्याय की दृष्टि से उसने बंगाल प्रेसीडेन्सी को 20 भागों (डिवीज़न) में विभक्त कर दिया। प्रत्येक डिवीज़न के कार्य कमिश्नरों (आयुक्तों) को सौंप दिये गये। इसके अतिरिक्त कमिश्नरों को अपने अधीन कलक्टरों, मजिस्ट्रेटों और न्यायाधीशों पर नज़र रखनी पड़ती थी।

अन्ततः 1865 ई. में सदर दीवानी अदालत और सदर निजामत अदालतों की जगह कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई में उच्च न्यायालय स्थापित किये गये। सरकार ने 1833 ई. में लार्ड मैकॉले के नेतृत्व में भारतीय कानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए एक विधि आयोग नियुक्त किया।

लार्ड मैकॉले के परिश्रम के परिणामस्वरूप भारतीय दंड संहिता में पश्चिमी देशों से लायी गयी दीवानी प्रक्रिया, दण्ड प्रक्रिया एवं अन्य कानूनों को समाहित किया गया। इन नवीन कानूनों में विधि का शासन एवं कानून के सम्मुख समानता की आधुनिक धारणाएं शामिल थीं।

इस प्रकार, अब सारे देश में एक ही प्रकार के कानून लागू हो गये। साथ ही इन कानूनों को न्यायालय की समरूप प्रणाली के तहत लागू भी किया गया। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत को न्यायिक रूप से सूत्रबद्ध किया गया।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. बी.एल. ग्रोवर, आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली
2. सुमित सरकार, आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1999
3. बी.डी. महाजन, आधुनिक भारत का इतिहास
4. एल.पी. शर्मा, आधुनिक भारत
5. ए.के. मित्तल, भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास
6. रोमिला थापर, भारत का इतिहास
7. एम.एस. जैन, आधुनिक भारत का इतिहास
8. एन.सी.ई.आर.टी., आधुनिक भारत
9. बिपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, नई दिल्ली।

प्राचीन भारत में विज्ञान एवं तकनीक

डॉ० मयूराक्षी रानी

भारतीय उपमहाद्वीप में, तकनीकी प्रगति का सबसे पहला प्रमाण हरप्पा सभ्यता, 4000 से 3000 ई.पू., के पुरावशेषों में पाया जाता है। पुरावशेषीय खंडहर योजनाबद्ध शहरी केंद्रों के होने के संकेत देते हैं जहां विधिवत् तौर की सड़कें और जलमल-निकास की प्रशंसनीय व्यवस्था के साथ निजी एवं सार्वजनिक इमारतें बनी हुईं थीं। उस समय के लिए निकास व्यवस्था खासकर उल्लेखनीय है क्योंकि उन्हें जमीन के नीचे बनाया गया और उनका निर्माण इस ढंग का था कि उनकी नियमित सफाई हो सके। निजी घरों के छोटे निकासों को सार्वजनिक बड़े निकासों से जोड़ा गया था।

बड़े बहुमंजिले निजी मकान और सभी इमारतें मानकीकृत पकीं हुईं ईटों से बनाईं गईं थीं और उनमें रसोई और शौचालय के लिए अलग अलग स्थान थे। अनाज और व्यापारिक वस्तुओं के रखने के लिए भंडारण सुविधायें, सार्वजनिक स्नानगृह और नागरिकों के विभिन्न कार्यक्रमों के लिए पृथक इमारतें बनाईं गईं थीं। शहरी केंद्र प्रायः नदियों की घाटी या बंदरगाहों के पास होते थे। परिशुद्ध बांट एवं पैमाने उपयोग में लाये जाते थे। लोथल जैसे बंदरगाह ढलवां कांसे और तांबे की वस्तुओं के निर्यात केंद्र के रूप में विकसित किए गए थे। तांबा गलाने के भट्ठे और ढलाई के उपकरण, धातु के औजार, आधी और पूरी गोल आरियां, छिदी हुईं सुइयां और सबसे महत्वपूर्ण घुमावटी नालीदार कांसे के बरमा भी अस्तित्व में थे। उस काल में, बरमा ने अतुलनीय बारीकी के साथ वस्तुओं का उत्पादन करना संभव किया और उसे आज के यांत्रिक औजारों का प्राचीन अग्रदूत माना जा सकता है। वहां योजनाबद्ध सिंचाई व्यवस्था के प्रमाण मिले हैं और ऐसा लगता है कि खेतों तथा गांवों को आग एवं बाढ़ से बचाने के तरीके भी मौजूद थे। कारीगर चाक का उपयोग करते थे और मिट्टी के बर्तन की सजावट विभिन्न रंगों एवं आकृतियों से की जाती थी। कपास उगाया और वस्त्र उद्योग के काम में लाया जाता था। हरप्पा क्षेत्र के शहरी केंद्र आपस में और साथ ही बेवीलोन, फारस की खाड़ी, मिस्त्र और संभवतया भूमध्यसागर के शहरी केंद्र से भी व्यापार करते थे। हरप्पन सभ्यता का फैलाव काफी बड़ा था और आज के सिंध, गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को समाहित करता था। परंतु उसके विलुप्त होने के पूर्व उसके काफी सामाजिक क्षय और विघटन के भी प्रमाण मिलते हैं। हरप्पन सभ्यता के परवर्ती काल की खुदाइयों से पता लगता है कि जनसंख्या के दबाव ने इमारतों के निर्माण में अस्त-व्यस्तता पैदा की। शहरी घर छोटे होते गए और बसाहटें अधिक उटपटांग होती गईं जो सामाजिक संरचना और परंपरा में आई गिरावट के द्योतक थे। फलतः शहरी नियमावली को बढ़ावा मिला तथा निर्माण संबंधी कायदों को लागू किया गया।

सामाजिक दशाएं और तकनीकी प्रगति

यह बिलकुल संभव है कि शहरी समाज की गिरावट कृषि योजना और सिंचाई व्यवस्था के रखरखाव जैसे दूसरे क्षेत्रों में भी फैली जिसने सूखा, बाढ़, आग और भूकंप जैसी प्राकृतिक आपदाओं

को बुलावा दिया। इस प्रकार, वह गिरावट इस उन्नत सभ्यता के आकस्मिक अंत का कारण बनी। इससे स्पष्ट होता है कि तकनीकी प्रगति को उन सामाजिक अवस्थाओं से अलग नहीं किया जा सकता जो या तो तकनीकी प्रगति को उत्साहित करतीं हैं या फिर भरपूर उन्नत सभ्यताओं के पतन का कारण बनती हैं। उदाहरण के लिए, हरप्पा से 3000 वर्षों बाद हमें मौर्य काल में बनायीं गईं प्रभावशाली शहरी बस्तियों के अस्तित्व संबंधी प्रमाण मिलते हैं। ग्रीस के यात्रियों ने मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र के प्रशंसनीय विवरण छोड़े हैं। परंतु सामाजिक झगड़े उस महान प्रतापी सभ्यता का अंत ले आये। समाज के परजीवी, शोषणकारी और दमनकारी वर्ग ने घोर सामाजिक उथल पुथल को जन्म दिया। गृह युद्धों के दौरान आग और लूटमार ने, लगभग लकड़ी के समस्त घरों, सार्वजनिक इमारतों और विशाल राजमहलों सहित मौर्य राजधानी को नष्ट कर दिया।

इस तरह लकड़ी पर आधारित शहरी निर्माण की संपूर्ण परंपरा, जिसे विकसित होने में कई शताब्दियां लगीं होंगी, समाप्त हो गई। और, स्थाई निर्माण सामग्री के उपयोग पर ज्यादा जोर दिया जाने लगा। जिन सामाजिक परिस्थितियों ने एक ओर, एक तकनीकी प्रगति को नष्ट किया, उन्हीं ने दूसरी ओर, एक नई तकनीक को जन्म दिया। मौर्यकाल के मूर्तिशिल्प के अवशेष बताते हैं कि मौर्य शिल्पियों ने पत्थर के काम करने में उच्च दर्जे की दक्षता प्राप्त कर ली थी। उनके पास ऐसे औजार और उपकरण अवश्य रहे होंगे जो पशु एवं मानव प्रतिमा को चमकदार और चिकना बनाने में सक्षमता प्रदान करते थे। भारत में बाद की सभ्यताओं ने इन क्षमताओं का उपयोग न केवल मूर्तिकला में किया वरन् विभिन्न मजबूत इमारतों को बनाने में भी किया। उदाहरण के लिए, सीमेंट बनाने के लिए विभिन्न विधियां विकसित की गईं जो आज तक कायम हैं और 7वीं शताब्दी तक उच्च स्तर की टिकाउ सीमेंट महत्वपूर्ण स्मारकों के निर्माण में उपयोग की जाने लगी थी।

धातु विज्ञान के लिए प्रेरणा

स्मारकीय वास्तुशिल्प के लिए निर्माण सामग्री के परिवहन, उठाने और चढ़ाने, निर्माण के ठीये और ढ़ांचे बनाने तथा संबंधित औजार एवं उपकरण निर्माण संबंधी तकनीकी प्रगति की बहुत आवश्यकता थी। प्राचीन ईजिप्ट या बेबीलोन की तरह भारत में उपयुक्त तकनीकों को पैदा करना और उपयोग में लाया जाना था। खासकर पत्थर आधारित निर्माण में उसे काटने और आकार देने के लिए कठोर धातु के औजारों और उपकरणों की जरूरत थी। भारत में, अति विशाल वास्तुशिल्प की उन्नति के लिए लोहे की खोज ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और धातुविज्ञान कला को विकास की ओर प्रेरित किया। 4थी शताब्दी ई.पू. में रचित कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी अयस्क से धातु प्राप्त करने और मिश्र धातु बनाने की विधि पर एक अध्याय था।

संस्कृत ग्रंथों में धातु शुद्धता आंकलन संबंधी चर्चा है और धातु को परिशुद्ध करने की तकनीकों का विवरण है। मिश्र धातु बनाने की कई तकनीकें प्रचिलित थीं और उनमें से कुछ की शुरूआत संभवत: हरप्पा या वैदिक काल में हुई होंगी। उदाहरण के लिए वैदिक साहित्य के ऐसे संदर्भ हैं जो बतलाते हैं कि दूध न फटे इसके लिए तांबे के बर्तनों को रांगे से लेपा जाता था। व्यावहारिक तकनीकों के बड़े पैमाने पर प्रचार और शोधार्थियों की खोज ने मिलकर धातुविज्ञान संबंधी उन्नति को आगे बढ़ाया। दिल्ली का 5वीं शताब्दी का लौह स्तंभ इस कौशल का उल्लेखनीय उदाहरण है। यह लोहे के एक ही टुकड़े से बना लगभग 23 फुट उंचा बिना जंग के निशान के 1500 बरसातों को सहता

हुआ खड़ा है। पिंटवा लोहे के इस स्तंभ में लौह धातु 99.72 प्रतिशत है। लगता है जंग से बचाने के लिए इस पर मैग्नीज डॉयोआक्साईड का पतला लेप लगाया गया था।

12वीं शताब्दी तक, निर्माण इंजीनियर लोहे के गर्डर और बीम का बड़े पैमाने पर उपयोग कर रहे थे जो दुनिया के किसी अन्य हिस्से में ज्ञात न था। पुरी और कोणार्क के मंदिरों में लोहे की बीम का सबसे ज्यादा उपयोग किया गया। पुरी मंदिर में 239 लोहे की बीमें हैं और कोणार्क की बीमों में से एक बीम 35 फुट लम्बी है। सभी 99.64 प्रतिशत लोहे की हैं और दिल्ली के लोहे स्तंभ के समान ही बनाई गईं थीं। मध्यकाल में, भारत ने उंचे दर्जे की स्टील बनाने के लिए ख्याति प्राप्त की और 14 वीं शताब्दी तक जिंक को अयस्क से निकाल लेने की क्षमता प्राप्त कर ली थी। बिदारी रांगा, सीसा और तांबे की एक मिश्रधातु बीदारी का बहुतायत से उपयोग होता था। आश्चर्य नहीं कि धातु कर्म के विकास ने तोपखाने के उत्पादन पर भी अपना असर डाला। ए. रहमान के अनुसार, "साइंस इन मेडिवल इंडिया", 16वीं शताब्दी तक, दुनिया की सबसे भारी तोपें भारत में ढालीं गईं और इस उपमहाद्वीप में विभिन्न शस्त्रों का निर्माण होने लगा। जयगढ़ का तोप कारखाना भारत के सर्वोत्तमों में से एक था। 1857 की लड़ाई के पहले जयपुर के राजपूत एशिया की सबसे बड़ी तोप होने का दावा करते रहे। पर राजपूत तोपों में से किसी एक का भी उपयोग अंगरेजों का मुकाबला करने में नहीं हुआ। देश की सबसे सज्जित सेनाओं के विरुद्ध बिना लड़े ही ब्रिटिश ने इस उपमहाद्वीप को जीत लिया और इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि तकनीकी उन्नति अपने आप में कोई मंजिल नहीं होती।

सामाजिक आवश्यकतायें और तकनीकी उपयोग

अधिकांशत: सामाजिक आवश्यकतायें भौगोलिक, जलवायु और जीवन की परिस्थितियों से पैदा होकर, तकनीकी उन्नति का मूलभूत प्रेरक होती हैं। भारत के बहुत से प्रदेशों के लम्बे सूखे महीनों ने जल प्रबंधन तकनीक में अनेक नवीनताएं पैदा कीं। सिंचाई की नहरें, विभिन्न प्रकार के कुएं, जल संग्रहण के तालाब और पानी संरक्षण तकनीकें संपूर्ण उपमहाद्वीप में स्थापित हुईं। जल प्रबंधन समाधानों के निर्माण में हरप्पन अकेले न थे। समय-समय पर बड़े पैमाने पर सिंचाई के लिए कार्य किए गए। काठियावाड़ में गिरनार के पास, 3री शताब्दी ईसा पूर्व में निर्मित बांधों की चौड़ाई आधार में 100 फुट थी। भोपाल के पास भोजपुर में राजा भोज के द्वारा 11वीं शताब्दी में 250 वर्ग मील को घेरते हुए एक कृत्रिम झील बनवाई गई थी। उसी शताब्दी में, दक्षिण में, कावेरी नदी द्वारा आपूरित एक कृत्रिम झील पत्थर के जल द्वार, सिंचाई की नहरें तथा 16 मील लंबे बांध के साथ बनाई गयी थी। राजस्थान के आर पार, राजपूत राजाओं ने कृत्रिम झीलें बनवाईं। मगर कृषि की उन्नति के लिए कश्मीर, बंगाल और दक्षिण की नदियों के मुहानों के क्षेत्रों में भी सिंचाई योजनायें आवश्यक थीं। वर्षाऋतु की सही भविष्यवाणी की आवश्यकता ने खगोलविज्ञान में विकास को बढ़ावा दिया जबकि ग्रीष्मऋतु की गर्मी ने भवन निर्माणशास्त्र में नवीनताओं का मार्ग प्रशस्त किया। राजस्थान और गुजरात में, जमीन की गहराई में कहीं-कहीं तो सौ फुट गहरे सीढ़ीनुमा कुएं बनाये गए। उज्जैन, मथुरा और बनारस में बड़े पैमाने पर वेधशालायें खगोलशास्त्र में प्रगति के लिए बनाईं गईं। बंगाल, उच्च कोटि की मलमल जो राज्य की गर्म और सीलन भरी जलवायु के लिए उपयुक्त थी और पहनने में हलकी और हवादार थी, के लिए प्रसिद्ध हुआ। आचार बनाने, फल, सब्जियों, मछली और मांस के संरक्षण करने एवं सड़न को रोकने के लिए तकनीकें पूरे देश में विकसित हुईं। हाथ से चलाये जाने वाले

शीतलन के उपकरण खोजे गए। अर्थशास्त्र में वारियंत्र का वर्णन है। जो शायद, हवा को ठंडा करने के लिए गोलाई में घूमने वाला उपकरण था। इस प्रकार भौतिक आवश्यकताओं को प्रत्युत्तर में, पूरा करने के लिए तकनीकी का आविर्भाव हुआ।

वैज्ञानिक बुद्धिवाद और तकनीकी क्षमता

अनुकूल सामाजिक वातावरण तकनीकी विकास के लिए एक आवश्यकता है। वैज्ञानिक ज्ञान, तर्कशील सोच और व्यवहारिक प्रयोग, तकनीकी खोजों की प्रक्रिया के लिए आवश्यक बुनियाद हैं। पहले से ज्ञात तकनीक के उपयोग अधिक आसान होते हैं; जैसा कि "डेवलपमेंट ऑफ फिलोसिफिकल थाट एंड साइंटिफिक मैथडस् इंन एनसियेंट इंडिया" नामक लेख में बताया गया है, प्राकृतिक विज्ञान और गणितशास्त्र में उन्नति और तर्कवादी दर्शनशास्त्र की प्रगति के साथ अनेक तकनीकी खोजें साथ-साथ हुईं। यह नहीं कहा जा रहा है कि भारतीय समाज संपूर्ण तौर से बुद्धिवादी था। सभी प्राचीन समाजों में, और यहां तक कि आधुनिकों में भी, अंधविश्वास, धार्मिक मान्यताएं, फलित ज्योतिष, अंकशास्त्र या "ऋषि" की सलाह, हस्तरेखा और भविष्यवक्ताओं पर निर्भरता ने वैज्ञानिक प्रगति को अवरुद्ध किया और फलत: तकनीकी प्रगति को बाधा पहुंचाई। भारत, बेबीलोन और ईजिप्ट की प्राचीन सभ्यताओं से ज्ञात होता है कि बहुत से वैज्ञानिक कथन और व्यावहारिक सत्य धार्मिक भ्रांतियों एवं सामान्य अंधविश्वासों के साथ मिले हुए थे। औषधिविज्ञान के बारे में यह बात विशेष तौर पर सत्य थी। बिना भेदभाव के अवैज्ञानिक व्यवहारों के साथ असली निदान सूचीबद्ध थे। परंतु भारत में बुद्धिवादीकाल में वैज्ञानिक तरीकों के जोर ने विभिन्न दवाओं और चिकित्सा विधियों की क्षमता के प्रति विश्वसनीयता को बढ़ाया। भारतीय चिकित्सक वास्तविकता को जितना सही देख सका, शारीरिक क्रियाओं को समझ सका और प्रचलित डाक्टरी तकनीकों की क्षमताओं का परीक्षण कर सका, उपचार उतने अधिक सफल हुए। शवविच्छेदन और विभिन्न व्याधियों का उपचार औषधिविज्ञान के अध्ययन एवं उपयोग के महत्वपूर्ण अंग थे। उपचार की अधिकाधिक सफलता के साथ आत्मविश्वास बढ़ता गया और डाक्टर आपरेशन में शल्य औजारों के उपयोग करने प्रोत्साहित हुए, हालाकि आज की तुलना में उनके उपकरण अविकसित थे।

बेहोश करने और शल्य क्रिया के लिए शरीर के अंगों को चेतनशून्य करने की आवश्यकता थी और उनकी अनेक विधियां विकसित हुईं। उच्छेदन, छेदन, चीरा, परीक्षण, अंग या अंगों को निकालने के लिए, तरल निकास, रक्त मोक्षण, टांका, और प्रदाहन के लिए सुयोग्य औजार बनाये गए। विभिन्न प्रकार की पट्टियों और मलहमों का उपयोग संक्रमण को रोकने के लिए प्रयुक्त हुआ और सफाई सुनिश्चित करने के लिए आधारभूत विधियां का उपयोग आवश्यकता अनुसार होने लगा।

संदर्भ-सूची

1. History of South India: Ancient, Medieval & Modern by P N Chopra, T. K. Ravindran, N. Subrahmanian.
2. Vishnu's Crowded Temple by Maria Misra.
3. Region, Nation, Heartland- Uttar Pradesh in India's Body Politic by Gyanesh Kudaisya.
4. Cultural History of Modern Indiaby Dilip M. Menon.

बौद्ध और जैन दर्शन का एक समीक्षात्मक अध्ययन

कहकशाँ कौसर

शोध-छात्रा, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग, तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

अनादि काल से ही भारतीय इतिहास में दो प्रकार की चिन्तन परम्पराएँ सामान्य रूप से द्रष्टव्य हैं- एक वह हैं जो परम्परामूलक है, ज्ञान के संरक्षित स्वरुप के अनुगमन पर जोर देती है और जिसके लिये सत्य का अन्तिम निश्चय वैदिक साहित्य के रूप में हो चुका है। यह ब्राह्मण्य या ब्राह्मणवादी परम्परा है। दूसरी परम्परा वह है, जिसे प्रगतिशील कहा जा सकता है, ज्ञान को विकासशील मानती है, यज्ञ के स्थान पर आचरण को प्रमुखता देती है, देवों के ऊपर मनुष्यत्व को बिठाने का प्रयत्न करती है और परम निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए मानवीय पुरुषार्थ पर बल देती है। यह है श्रामण्य श्रमणों की परम्परा। मोटे तौर पर और अत्यन्त व्यावहारिक रूप में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणवादी परम्परा का जन्म और विकास पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हुआ, जबकि श्रमण परम्परा का विशेषतः आसाम, बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में। बाद में यह भौगोलिक विभेद मिट गया।

जैन धर्म की परम्परा बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। कुछ विद्वानों के मतानुसार जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। श्रमण-संस्कृति का आदि प्रवर्तक धर्म वस्तुतः जैन धर्म ही है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु सभ्यता के काल में भी जैन धर्म विद्यमान था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में व्रात्यौ का उल्लेख है। उन्हें उपनयनादि वैदिक संस्कारों से विहीन श्रमण-ज्ञानियों की परम्परा का पूर्व रूप माना जा सकता है। ऋग्वेद के केशीसूक्त (10/136) में प्राचीन श्रमण योगियों के जीवन की एक झलक मिलती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। जैन धर्म का विकास सहस्त्रावधि शताब्दियों में उन ज्ञानी महात्माओं के द्वारा किया गया है, जिन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। 'तीर्थंकर' ज्ञान का प्रवर्तन करने वाले वीतराग महात्माओं का नाम है। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है, वह निमित्त जिससे भव-सागर तरा जाता है- *'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति'।* धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण जिन अखिल ज्ञानदर्शी मुनियों ने किया है, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। जैन धर्म की परम्परा के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों ने जैन धर्म का उपदेश दिया है, जिनमें अन्तिम भगवान महावीर हैं। आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हैं, जिनका उल्लेख सम्भवतः ऋग्वेद की एक ऋचा (10/166/1) में हुआ है। अथर्ववेद (11/5/24-26) और गोपथ ब्राह्मण (पूर्व 2/8) में स्वयम्भू काश्यप का उल्लेख है, जिन्हें भगवान् ऋषभदेव से मिलाने का प्रयत्न किया गया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि 'वृषभ धर्मप्रवर्तकों में श्रेष्ठ है।' यह आदि जैन तीर्थंकर का द्योतक हो सकता है। श्रीमद्भागवत (5/28) में तो और भी स्पष्ट भगवान् ऋषभदेव का

उल्लेख है। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के अतिरिक्त अरिष्टनेमि, जो बाईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं, वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। जैसा हम अभी देखेंगे, अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर बुद्ध के समकालिक थे (के विशेष संदर्भ में हम इस शोध-पत्र में बौद्ध एवं जैन दर्शन की समीक्षा करेंगे।

जैसा कि पूर्व में ही कहा है कि जैन श्रमण-संघ प्राचीन काल से ही चला आ रहा था और इस परम्परा के साधुओं को पालि असाहित्य में 'निगण्ठ' अथवा निर्ग्रन्थ नाम से पुकारा गया है। 'निर्ग्रन्थ' शब्द आज भी पहले की तरह ग्रन्थि-विमुक्त जैन साधकों के लिए जैन साहित्य में प्रयुक्त होता है। ये निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के अनुयायी बताये गये हैं। 'निगण्ठ नाटपुत्त' पालि साहित्य में भगवान महावीर का नाम है। उनकी गणना उस समय के प्रसिद्ध आचार्यों में की गयी है। पालि वर्णनों के अनुसार निगण्ठ साधु एक वस्त्र धारण करते थे, जबकि अचेलक बिल्कुल नग्न रहते थे। रज:कणों में भी जीवतत्त्व विद्यमान है, ऐसा निगण्ठों का विश्वास था।[2] निगण्ठों के मुख्य सिद्धान्त, जिसका उल्लेख पालि साहित्य में हुआ है, चातुर्याम संवर के नाम से प्रसिद्ध है। चातुर्याम संवर चार प्रकार के संयम का नाम था, जिसका विवरण पालि ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार है- (1) जीव हिंसा के भय से निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का संयम करते हैं, (2) सभी पापों का वारण करते हैं, (3) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं, (4) पापों के वारण करने के कारण वह सदा धूत-पाप (पाप रहित) होते हैं।[3] राजगृह, कालशिला, इसिगिलि पर्वत पर भी उनके निवास स्थान थे। बुद्धकाल में निग्रन्थ साधुओं के अनुयायियों में उस समय के अनेक महापुरुष थे। वैशाली का सिंह सेनापति निगण्ठों का भक्त था और इसी प्रकार नालन्दा का उपालि गृहपति भी। असिबन्धकुपत्र और अभय राजकुमार निगण्ठों के शिष्य थे। स्वयं बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में वप्प नामक शक्य, जो भगवान बुद्ध का चाचा (चूलपिता) था, निगण्ठों का अनुयायी था।[4]

मज्झिमनिकाय के अनुसार निगण्ठों के गृहस्थ शिष्य श्वेत वस्त्र पहनते थे। श्वेतवस्त्रधारी श्रमणी (सेतसमणी) का भी एक स्थान पर उल्लेख हैं।[5] मज्झिमनिकाय की अट्टकथा में कहा गया है कि निर्ग्रन्थ लोगों का दावा था कि वे सभी ग्रन्थियों से विमुक्त हो चुके हैं, इसलिए उनका नाम निर्ग्रन्थ है। उनका कहना था, 'हमारे अन्दर ग्रन्थि' रूपी क्लेश, बाधारूपी क्लेश नहीं है। हम क्लेश रहित हैं। इसीलिए हमारा 'निगण्ठ' नाम है। निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र- भगवान महावीर) ने पावा में निर्वाण प्राप्त किया था। इसका उल्लेख पालि ग्रन्थों में है और वहीं यह भी कहा गया है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों में सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ था।[6] अत: बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर भगवान महावीर ने बुद्ध- परिनिर्वाण से पूर्व शरीर छोड़ दिया था, जो प्राय: ऐतिहासिक सत्य माना जाता है। जटिलसुत्त (संयुक्त निकाय) में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का बुद्ध गणाचार्य तीर्थंकर के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन हमें देवहसुत्त (मज्झिमनिकाय) में भी उपलब्ध होता है। एक विशेष बात जो तीर्थंकर भगवान महावीर के सम्बन्ध में पालि निकायों में कही गयी हैं, वह उनकी सर्वज्ञता या निखिलज्ञानदर्शनसम्पन्नता के सम्बन्ध में है। निगण्ठ नाटपुत्र सर्वज्ञ, सर्वसदर्शी हैं, निखिल ज्ञान-दर्शन को जानते हैं, चलते, खड़े होते, सोते, जागते, सदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है, ऐसा अनेक सुत्तों में कहा गया है।[7] जबकि हम जानते हैं कि गौतम बुद्ध ने स्वयं अनी सर्वज्ञता का प्रतिवाद किया था। यदि उन्हें कोई सर्वज्ञ कहता तो इसे वे असत्य के द्वारा अपनी निन्दा मानते थे, ऐसा उन्होंने कई बार स्पष्ट कर दिया था। वे किसी प्राणी

का सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करते थे। अत: भगवान महावीर के बारे में भी उनकी क्या दृष्टि हो सकती थी, इसे हम आसानी से समझ सकते हैं।

बुद्ध-शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता के दावा करने वाले शास्ताओं की ओर व्यंग्य करते हुए कहा था- ''यहाँ एक शास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं, परन्तु सूने घरों में भी भिक्षा के लिए जाते हैं। भिक्षा तो पाते नहीं, उल्टे कुक्कुरों से शरीर को नुचवाते हैं। वे स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछते हैं, गाँव-नगर का नाम पूछते हैं, अपना रास्ता पूछते हैं।''[8] कुछ विद्वानों का कहना है कि आनन्द का लक्ष्य निर्ग्रन्थ साधुओं की ओर था। सर्वज्ञता की मान्यता जिस धर्म में हो उसे स्वयं भगवान बुद्ध ने 'अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य' आश्वासनहीन धर्म कहा था।[9] एक साथ कोई मनुष्य तीनों काल के और तीनों लोकों के पदार्थों को जानेगा, ऐसा गौतम नहीं मानते थे इसीलिए उन्होंने न वैदिक ऋषियों को सर्वज्ञ माना था और न स्वयं अपने को। जैन दर्शन में इस विषय सम्बन्धी वस्तुत: एक परिपूर्ण समाधान है, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य जानना भी शक्य नहीं है।''[10]

निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सिद्धान्तों को संक्षेप रूप में पालि निकायों में इस प्रकार रखा गया है, ''जो कुछ भी यह पुरुष सुख-दु:ख या असुख-अदु:ख अनुभव करता है वे सभी पहले किये हुए हेतु से। इस प्रकार पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने से, नये कर्मों को न करने से, भविष्य में सत्व परिणाम रहित होता है।''[11] सैद्धान्तिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात जो हमें निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सिद्धान्त के सम्बन्ध में पालि निकायों में उपलब्ध होती है, वह है, उसके द्वारा मानसिक कर्म (मनोकम्म) और शारीरिक कर्म (कायकम्म) के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देना। 'चित्तं वयं कायो होति, कायं वयं चित्तं होति''[12] अर्थात् चित्त पर आधारित काया है और काया पर आधारित चित्त है। यह जैन साधकों का बुद्धकाल में प्रसिद्ध आदर्श वाक्य था। भगवान बुद्ध ने भी कहा है- चेतना (चित्त) को मैं कम करता हूँ।

जहाँ तक बौद्ध एवं जैन दर्शनों का वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, हम स्वामी दयानन्द के शब्दों में कह सकते हैं- 'जैनबौद्धयोरैक्यम्'।[13] वेद-प्रमाण्य को इन दोनों में से कोई नहीं मानता। वैदिक यज्ञादि की ओर दोनों में से किसी की सहानुभूति नहीं है। परन्तु दूसरी तरफ जब हम देखते हैं तो दोनों (जैन एवं बौद्ध) में काफी भेद भी दृष्टिगोचर होता है। जहाँ दर्शन पूर्णत: आत्मवादी दर्शन है वहीं बौद्ध दर्शन के नाम के साथ 'अनात्मवाद' अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, उसके उत्तरकालिक पुद्गलशून्यता और धर्मशून्यता की तो कोई बात ही नहीं। बौद्ध एवं जैन दोनों अहिंसावादी धर्म है, परन्तु अहिंसा की स्वीकृति जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर है। यदि तपस्या करने तथा शरीर को क्लेश देने से, किसी के चित्त-मल दूर होते हैं और उसके कुशल कर्मों की वृद्धि होती है, तो उसके लिए इस प्रकार की तपस्या को, काय क्लेश को, बुद्ध विहित और आवश्यक बनाते हैं, उसके विपरीत को निषिद्ध और अनावश्यक।[14] चित्त और शरीर के कर्मों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रख्यापन करने वाले जैन साधक कायिक तपस्या पर ही जोर देते हो, ऐसा कहना उनके मन्तव्य को विकृत करना होगा। फिर भी तपस्या जैन साधना का अधिक आवश्यक अंग है अपेक्षाकृत बौद्ध साधना के, यद्यपि बौद्ध साधना में भी उसके महत्व की स्वीकृति है। बुद्ध के विचार का प्राण है, उनका मध्यममार्गी स्वरूप, जो उसकी अपनी विशेषता है।

दोनों दर्शन एक आदि, स्थिर चैतन्य कर्त्ता की सत्ता में विश्वास नहीं करते। जैसा अभी कहा गया, वेदों का प्रामाण्य दोनों को ही स्वीकार्य नहीं है। दोनों ही अहिंसा पर अधिक जोर देने वाले हैं, यद्यपि जैन दर्शन तो कुछ अधिक है। अब हम क्रमशः व्यवहारपक्ष, तत्त्वपक्ष और प्रमाणपक्ष को लेकर इन दोनों दर्शन के सम्बन्ध पर आते हैं। व्यवहारपक्ष या नीतिपक्ष में जैन दार्शनिकों ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य को मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है।[15] अतः बौद्ध दर्शन के साथ उसकी पूरी समानता है। हम आसानी से इस साधना-त्रिपुटी को बौद्ध आर्य आष्टांगिक मार्ग का संक्षेप कह सकते हैं। या इसका विस्तार आर्य अष्टांगिक मार्ग को मान सकते हैं, बिना एक दूसरे पर किसी के ऋण की स्थापना करते हुए। आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक अंग के आदि में 'सम्यक्' शब्द जुड़ा हुआ है और यही बात जैन-साधना की उपर्युक्त त्रिपुटी में है। यह अत्यन्त सार्थक है।

वस्तुतः सम्यकत्व बौद्ध एवं जैन दर्शन-साधनाओं का एक अभिन्न अंग है, यद्यपि केवल सम्यकत्व को लेकर बौद्ध दर्शन की अपेक्षा जैन दर्शन में अधिक विचार है। जैन योग का यदि वर्णन करने लगें तो वह लगभग वैसा की होगा जैसा उपनिषदों का, महर्षि पतंजलि का अथवा बुद्ध का। वही शून्यगारों में ध्यान करने का उपदेश[16], वही हिंसा, असत्य, चोरी आदि से विरति[17], वही सत्य, अस्तेय, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ[18], वही कर्मों का विभाजन और उस कर्म से मुक्ति-प्राप्ति रूपी जीवन का उद्देश्य। कर्मों का निःशेष किए बिना जैन दर्शन में भी मुक्ति सम्भव नहीं है। उस कर्म का स्वरूप यहाँ पुद्गल रूप में अवश्य दिखता है जबकि बौद्ध दर्शन में चेतना रूपी बौद्ध दर्शन के 'अकुशल' कर्म ही यहाँ ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और मोहनीय कर्म, इन चार 'घातीय कर्मों' के रूप में प्रकारान्तर से रखे हुए हैं, अपने विशेष दर्शन का एक आवरण पहने हुए। जैन दर्शन में जिन्हें 'अन्तराय' कर्म कहा गया है, वे बौद्ध विचार के तीन बन्धनों अथवा पाँच नीरवरणों से कितनी समानता रखते हैं, इसे भी यहाँ बताने की आवश्यकता हमें नहीं लगता। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ[19], इस कर्म निगम सम्बन्धी निष्ठा को दिखने की भी यहाँ क्या आवश्यकता? योग दर्शन के तो वे बिलकुल 'अन्तराय' और विक्षेप सहभुवः के रूपान्तरण ही हैं। जैन साधना की अशुचि भावना को, जो वहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित हैं, बौद्ध धर्म ने 'अशुभ भावना' के रूप में लिया है। डॉ० हरदयाल ने बौद्ध धर्म पर जैन धर्म के ऋण को स्वीकार किया है, सहमत होने में हमें विशेष कठिनाई नहीं है।[20] बौद्धों के ब्रह्मविहार स्वरूप मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावनाएँ जैन साधना में भी विद्यमान है।[21]

जैन दर्शन के अनुसार कर्म पुद्गल ही जीव और अजीव का सम्बन्ध करता है और जीव तथा कर्म परमाणुओं की गति को ही जैन दर्शन में आस्रव कहा जाता है। 'चक्खुना संवरो साधु[22] आदि प्रयोग तो बुद्ध के उपदेशों में भी हमें उपलब्ध होते हैं, जिनके समान कहीं-कहीं जैन व्याख्या भी की गयी है, किन्तु सम्वर (संयम) की तात्त्विक व्याख्या तो जैन दर्शन की अपनी देन है। सम्बर (संयम) का अभ्यास करते-करते जब जीव कर्म परमाणुओं से छूटने लगता है, तो यही 'निर्जरा' की अवस्था होती है। इस निर्जरा की अवस्था प्राप्त होने पर, जो परिपूर्णता संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जीव मुक्त हो जाता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य का भागी होती है। इसी उद्देश्य की ओर जैन साधना जीव को ले जाने की कोशिश करती है और इस अर्थ में न केवल वह बौद्ध दर्शन से ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय अन्य दर्शनों से भी भली प्रकार संगत

है। यदि निश्चय ही और सभी बातों को गौण स्वीकार कर जैन दर्शन ने भव के हेतु का निदान आस्रव के रूप में ही किया है और संवर या संयक को ही मोक्ष मार्ग ठहराया है[23] तो हम कह सकते हैं कि उसका यह निदान और वह भैषज्य-विधान चतुरार्य सत्यों के शास्ता उन 'उत्तम- भिषक्', तथागत के औषध-विज्ञान से कुछ भी भिन्न नहीं है, किन्तु समान ही मन्तव्य का अवलम्बन करने वाला है। बौद्ध-साधना में जिस प्रकार लोक को अनित्य और अशरण कहा गया है, वही बात जैन साधना के सम्बन्ध में भी है।[24] धर्मास्तिकाय[25], प्रत्येकबुद्ध[26] और बुद्ध के प्रदेश क्षेत्र[27] की कल्पनाएँ स्पष्टत: बौद्ध धर्म से ली हुई जान पड़ती है।

तत्व-दर्शन के क्षेत्र में आते ही हमें बौद्ध और जैन चिन्तन-शास्त्रों की परस्पर विभिन्न प्रवृत्तियों और रूचियों का पता चलने लगा है। यहाँ विज्ञानवाद या शून्यवाद जैसी कई वस्तु नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार स्थिरता और विनाश दोनों ही प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। कोई भी वस्तु एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य नहीं है। सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की है।

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णात्थि संभव विहीनो।
उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोब्बेण अत्थेण।।

अर्थात्, उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई पदार्थ होना चाहिए। एकान्त नित्य पदार्थ में परिवर्तन सम्भव नहीं है और यदि पदार्थ को क्षणिक माना जाय तो 'परिवर्तित कौन होता है? यह भी बताया नहीं जा सकता। अत: जीवन जैन दर्शन के अनुसार एकान्त नित्य नहीं है। परमाणुओं के संघात से ही संसर के सारे पदार्थ बने हैं, यह जैन दर्शन का एक मौलिक विचार है। परमाणुओं के पुंज को 'स्कन्ध' कहा जाता है। भौतिक जगत् अपने समष्टि रूप में 'महास्कन्ध' कहलाता है। जैन दर्शन में परमाणु आदि-अन्तहीन और नित्य है। परमाणु अमूर्त है। पृथ्वी, जल, वायु आदि एक ही प्रकार के परमाणुओं के रूपान्तर है। मुक्त जीवन परमाणुओं को प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परमाणुवादी हैं और जीवों की अनेकता मानने के कारण अनेक-जीववादी भी, किन्तु जीव को वे व्यापक नहीं मानते। यदि ईश्वर के कर्तृत्व सम्बन्धी विश्वास को आचार्य धर्मकीर्ति केवल मनुष्यों की बुद्धि की जड़ता का चिह्न मात्र समझते हैं तो मल्लिसेन इस प्रकार के विश्वास से बचने के लिए अपने अनुशासक के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित किए बिना नहीं रहते-

"कर्तास्ति कश्चिज्जगत: स चैक: स सर्वग: स स्ववश: स नित्य:। इमा कुहेवाक विडम्बना: स्यु: तेषां न येषाम् अनुशासकस्त्वम्।"[28]

जैन आचार्यों के तर्क भी ईश्वरकर्तृत्ववाद के विरूद्ध प्राय: वैसे ही हैं जैसे बौद्ध आचार्यों के। अशरीरी कर्त्ता की असम्भवता, ईश्वर के पास सृष्टि निर्माण के किसी भी उद्देश्य की अविद्यमानता, ईश्वर की कारुणिकता और जगत् की दु:खमयता में पारस्परिक असंगति आदि बातें ऐसी हैं, जो ईश्वर-कर्तृत्ववाद को जमने नहीं देतीं।[29] जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समान ही फल प्राप्त कराने के लिए कर्म मात्र को ही पर्याप्त समझता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर दोनों के ही विरोधी होने के कारण जैन और बौद्ध दर्शन 'आस्तिकवादी' लोगों के द्वारा एक ही कोटि में डाल दिये गए हैं और अन्य बातों में उनकी पारस्परिक विभेद की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया।

जैन न्याय-परम्परा अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। मध्ययुगीन न्याय के इतिहास में जैनों का एक विशेष भाग है। जैन न्याय की सबसे बड़ी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसमें सविकल्प मानवीय ज्ञान की अल्पता की अनुभूति कूट-कूट कर भरी है। साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते हैं और यह एक प्रकार से जैन दर्शन का दूसरा नाम है। अतः इस सिद्धान्त का जैन दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। 'स्याद्वाद को स्याद्वादमंजरी में संक्षेपतः इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

"स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशवलैकवस्त्वभ्युपगम इति"।

अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते हैं, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक धर्मों की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है। इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक ही वस्तु को देखने की अनेक दृष्टियाँ हो सकती हैं। किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय में हम केवल यही कह सकते हैं- (1) शायद है (2) शायद नहीं है। (3) शायद है और नहीं है (4) शायद अवक्तव्य है (5) शायद है और अवक्तव्य है (6) शायद नहीं है और अवक्तव्य है तथा (7) शायद है, नहीं है और अवक्तव्य है। इसी को सप्तभंगीनय[30] भी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इस नय की संदेहवादी व्याख्या की है, जिससे सहमत होना कठिन है। अशेष ज्ञान को सिखलाने वाले शास्ता संदेह की शिक्षा कैसे दे सकते हैं, यह सम्भव नहीं। संजय वेलट्ठिपुत्त के विचारों की झलक सप्तभंगीनय में देखना ठीक नहीं है। हमारी समझ में अशेष, ज्ञान, केवल ज्ञान, को दिखाने का प्रयत्न इस सिद्धान्त में किया गया है। वह दृष्टि में, किसी मतवाद में, एकांश-निष्ठा से बचने के लिए हैं, जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने भी दिया था। भगवान् बुद्ध ने 'है' और 'नहीं' को कोटियों का परिवर्तन करके तत्व को अव्याकृत कर दिया था, मध्यम मार्ग को स्वीकार किया था। उदारता और अविवाद धर्म की उसी दृष्टि की अभिव्यक्ति अनेकान्त के रूप में हुई है, ऐसी हमारी विनम्र धारणा है।

उपनिषद् आत्मैकतत्त्वविज्ञान का मानदण्ड लेकर नापने वाले मनीषी डॉ० राधाकृष्णन् ने जैन दर्शन के अनेकान्तवादी यथार्थवाद को बीच मार्ग में ठहर जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया है।[31] आचार्य शंकर ने भी इसी कारण जैन दर्शन को 'असंगत' कहा था।[32] श्रवण धर्म अपने मौलिक रूप से साधना-मार्ग ही था, सम्यक्त्व का धर्म था। भगवान् महावीर ने जब 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' कहा था तो पूर्ण सत्य के प्रख्यापन में यह उनके द्वारा दूसरे मतों को अपेक्षा देने के परिणामस्वरूप था। 'यही सत्य है' (इदमेव सच्चं, सूर-सुत्त)। इस विवाद की शान्ति का वह एक उपाय था। एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते। उसे सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयत्न न कर वे उसकी अनिश्चयवादी व्याख्या कर देते हैं।[33] और उनके अनुकरण पर प्रायः सभी वैदिक विद्वान् आज तक ऐसा करते आये हैं। 'अनेकान्त' परिनिष्पन्न सत्य है, परामर्श सत्य है और इस रूप में विरोधी भाषा का प्रयोग स्वयं वैदिक दर्शन में भी है।

बौद्ध दर्शन ने तो आत्मवाद से ही पीछा छुड़ा लिया, परन्तु प्रकारान्तर से अद्वय तत्व की सिद्धि उसने भी की। 'निर्गुण' से भी अधिक बलवन् और वरिष्ठ 'शून्य' उसने खड़ा कर दिया। अतः 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' में भले ही उसके सम्बन्ध में भ्रमपूर्वक कह दिया गया हो, बीच के पड़ाव जैसी कोई बात उसके सम्बन्ध में कभी नहीं कही जा सकती थी। वस्तुतः जैन दर्शन भी बीच का

पड़ाव नहीं है। वह तो पूर्ण सत्य का, केवल ज्ञान का गवेषी है और उसकी खोज करते हुए वह भी उस अभेद निष्ठा पर पहुँचा है, जो सम्पूर्ण वेदान्तों का लक्ष्य है। दोनों का लक्ष्य मानव है, वह मानव जो पूर्णतः विमुक्त है, केवली है, अर्हत् है, जिसके आस्रव क्षय हो गए हैं,[34] आस्रव-निरोध रूप संवर के द्वारा जिसने निर्जरा की प्राप्ति की है।[35], मोह का उच्छेदन कर ज्ञान-दर्शन के आवरणों को हटाकर जिसने केवल परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त किया है।[36] यही मुक्त पुरुष अर्हत् बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों का लक्ष्य है। अतः बौद्ध एवं जैन दोनों आर्हती दृष्टियाँ हैं। जैन साधक का मौलिक विषय बौद्ध साधक के समान यह भावना करना कि 'मुझे मोह की सेना को किस प्रकार जीतना चाहिए,[37] उसे मूल साधना के द्वारा यह अनुभूति करना कि 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म हूँ,''[38] यही श्रामण्य का मूल उद्देश्य था, नयों और द्रव्यों का विवेचन नहीं, आत्मा के सिद्धान्त का प्रख्यापन नहीं। राग के प्रहाण और संयम प्राप्ति के लिए श्रमण साधना का प्रवर्तन हुआ था, जो दुःखक्षय का एकमात्र मार्ग है। बुद्ध ने राग, द्वेष और मोह के अकुशल मूल कहा और इसके आत्यन्तिक क्षय को निर्वाण। वीतरागता का इसके अलावा और संदेश क्या हो सकता है? भगवान् बुद्ध ने कहा था कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में अपने को मत खोजो, वहाँ अपना नहीं मिलेगा, वह पर-वस्तु है, उसे छोड़ दो और यही बात प्रकारान्तर से जैन साधाना के 'स्व' और 'पर' के भेद-विज्ञान में है-

"णाहं देहोण मनो ण चैव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण पा कारयिदा अनुमन्ता चैव कर्तृणाम्।। णाहं होमि परेासिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि इति णिच्छिदो जिदिन्दो जादो जघाजाद-रूपधरो। [39]

ऊपर हमने भगवान् महावीर (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के जीवन और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में, जैसे कि वे पालि निकायों में वर्णित हैं, वर्णन किया है। बौद्ध धर्म के वर्णनों के आधार पर जैन धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में और जैन धर्म के वर्णनों के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हमें मिथ्या धारणाएँ नहीं बना लेनी चाहिए। शिष्य-प्राप्ति के लिए इनमें काफी होड़ चल रही थी और इसकी प्रतिच्छाया इनके वर्णनों पर भी पड़ी है। पालि वर्णनों के ही अनुसार निर्ग्रन्थ लोग बुद्ध को 'अक्रियावादी' कहते हैं,[40] जो वह वास्तव में नहीं थे और इसी प्रकार बुद्ध शिष्य चित्त गहपति के साथ निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के संवाद के सम्बन्ध में[41] तथा वाबेरू जातक में जिस प्रकार निर्ग्रन्थ साधकों को उपस्थित किया गया है, जो ठीक नहीं। यहाँ सन्तोष की बात यही है कि बुद्ध का इससे कुछ भी सम्बन्ध न था। भगवान् बुद्ध इस बात में बड़े सतर्क थे कि निर्ग्रन्थों के जो शिष्य उनके मत को स्वीकार भी करें तो उसके बाद भी वे अपने निर्ग्रन्थ गुरुओं का उसी प्रकार दानमनादि से सत्कार करते रहे जैसा कि वे पहले करते थे। उपालि गृहपति को स्पष्टतः उन्होंने ऐसा आदेश दिया था।[42] निर्ग्रन्थ साधुओं के प्रति बिना सम्मान की भावना के इस प्रकार का आदेश नहीं दिया जा सकता।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अनेकान्त, अप्रैल 1952, पृ० 120-121.
2. धम्मपदट्ठकथा, जिन्द तीसरी, पृ. 489 (P.T.S.)
3. अम्हाकं गन्थनकिलेसो पलिबुज्झनकिलेसो नत्थि किलेसगण्ठिरहिता मयं हि एवं वादिताय लद्धनामवसेन निगन्ठा। मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, पृ०-423.

4. अगुंत्तरनिकाय की अट्ठकथा, पृ. 559. (P.T.S.)
5. कुणालजातक, जहाँ सच्चवादी नामक श्रमणी का उल्लेख है, जिसे 'सतेसमणी' कहा गया है।
6. सामगामसुत्त (मज्झिमनिकाय, 3/1/4), संगीतिपरियायसुत्त (दीघनिकाय, 3/10)।
7. चूलदुक्खक्खनधसुत्त (मज्झिमनिकाय, 1/2/4), चूल सुकुलदायिसुत्त (मज्झिमनिकाय, 2/3/9).
8. सन्दकसुत्त (मज्झिमनिकाय, 2/3/6)
9. बुद्धचर्या, पृ. 263.
10. वही, गाथा 48.
11. देवदहसुत्त (मज्झिमनिकाय, 3/1/1)
12. महासच्चकसुत्त (मज्झिमनिकाय, 1/4/6)
13. सत्यार्थ प्रकाश (द्वादशसमुल्लास)
14. देवदहसुत्त (मज्झिमनिकाय, 3/1/1)
15. सम्यग्दर्शनानचरित्रणि मोक्षमार्गः, तत्त्वार्थ सूत्र 1/1.
16. शून्यगारेषु गिरिगुहतरूकोटरादिषु आवासः। तत्त्वार्थ सूत्र 7/6, मिलाइये बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति 'भिक्षुओं! शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करो'। गिरि-गुहा, पुआल-पुंज और वृक्ष-मूल में ध्यान करने के उपदेश भी भगवान बुद्ध ने दिया है।
17. हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्, तत्त्वार्थसूत्र, 7/7.
18. तत्त्वार्थसूत्र, 7/4-7.
19. शुभः पुण्ययस्याशुभः पापस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/3
20. बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ. 95, तत्त्वार्थसूत्र 7/12.
21. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु। तत्त्वार्थसूत्र, 7/11.
22. 'चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो। घाणेन संवरो साधु, साधु जिह्वाय संवरो।। कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो। मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो।। सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्ख पमुच्चति। धम्मपद, भिक्खुवग्गो, 25/1-2, कायेन संवरो साधु, वाचाय संवरो। मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो। सब्बत्थ संवुतो लज्ली रक्खितोति पवुच्चतीति'। संयुक्त निकाय। जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिए देखिए, आस्रवनिरोधः पवुच्चतीति'।। संयुक्त निकाय। जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिए देखिए, आस्रनिरोधः संवरः। तत्त्वार्थ-सूत्र 9/1.
23. आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवचरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिः अन्यदस्याः प्रपञ्चनम्।। सर्वदर्शनसंग्रह।
24. तत्त्वार्थ-सूत्र 9/7.
25. वही, 10/8
26. वही, 10/9
27. वही, 10/9
28. स्याद्वादमंजरी।
29. हरिभद्र का षड्दर्शन-समुच्चय और उसपर गुणरत्न की वृत्ति।
30. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति व वक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः।

31. One thing, however, is clear, that it is only by stopping short at a halfway house that Jainism is able to set forth a pluralistic realism. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृ० 340.
32. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 2/2/33-34.
33. अनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानंवदप्रमाणमेव स्यात्। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य 2/2/33.
34. तत्त्वार्थ-सूत्र 9/1.
35. वही, 8/1.
36. वही, 10/1.
37. प्रवचन सार, गाथा 80.
38. वही, गाथा सं० 92.
39. वही, 160-61.
40. सीहसुत्त (अंगुत्तरनिकाय 8/1/2/2), अभयराजकुमारसुत्तन्त (मज्झिमनिकाय, 2/1/8).
41. उपालिसुत्त (मज्झिमनिकाय)।
42. महावंश 10/97.

संगीत

प्रकृति और संगीत

सुनील कुमार तिवारी

संगीत विभाग, सु० म० महाविद्यालय, भागलपुर, तिलकामांझी भागलपुर विश्वविद्यालय भागलपुर

प्रकृति के अनुरूप संस्कृति का निर्माण होता है। प्राकृतिक जीवन की विकृतियों से मुक्ति पाने के लिए संस्कृति का विकास हुआ। इसी संस्कृति की मधुरतम विद्या है संगीत। संगीत नीरस जीवन को सरस एवं सुन्दर बनाता है। नागपुरी में एक कहावत है– क तले ख तले ग अर्थात् पहले कमाओ फिर खाओ तब गावो।

प्रकृति में जो प्राकृतिक संगीत समाया हुआ है वह बादलों की गड़गड़ाहट में, पवन के शोर में, सागर की लहरों में, नदियों के कलकल-छलछल में, झरनों के झरझर में, पक्षियों के कलरव गान में, पशुओं के रम्भाने में, झींगुरों के झनकार में, वृक्ष के पत्तों की तालियों में, कहाँ नहीं है संगीत। निसर्ग के इसी उन्मुक्त संगीत ने मानव मन को प्रेरित किया। इसके अनुकरण में मानव संगीत का कंठ फूटा और यही क्रमशः लोक संगीत बन गया। धरती पर स्वर्ग उतर आता है जब संगीत का समा बंध जाता है।

'संगीत एक समुदाय - वाचक नाम समझा जाता है। इस नाम से गायन, वादन और नर्तन इन तीनों कलाओं का बोध होता है। अतः गाना, बजाना और नाचना इन तीनों कलाओं के मेल को संगीत कहते हैं। साधारणः स्वरों की वह रचना, जो कानों को मधुर और सुरीली मालूम हो और जो प्राणि-मात्र के चित्त को प्रसन्न करें, उसे संगीत कहते हैं।

संगीत रत्नाकर के लेखक पं० शारंगदेव ने अपने ग्रंथ में संगीत की परिभाषा संस्कृत में दी हैं जिसका हिन्दी रूपान्तर इस प्रकार है– गाना, बजाना और नाचना इन तीनों कलाओं के मेल को संगीत कहते हैं। संगीत में गायन, वादन और नर्तन ये तीनों कलाएँ सम्मिलित हैं। तथापि तीनों कलाएँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र है परंन्तु स्वतंत्र होते हुए भी उनमें एक प्रकार का परस्पर सम्बन्ध भी है, वह इस प्रकार कि गायन के आधीन वादन और वादन के अधीन नर्तन है, इसलिए तीनों कलाओं में गायन प्रधान माना गया है, यही बात संगीत रत्नाकर के पृष्ठ 7 पर भी अंकित है।

संगीत एक उच्चकोटि की उत्तम कला है। इनमें बड़ी विचित्र शक्ति है, इसकी झनकार एक बार जंगली जानवरों तक को मोहित कर लेती है। एक ऐसा समय था जब संगीत विद्या भारत में अपने ऊँचे शिखर पर था। जिस कला को किसी समय नारद जैसे देवर्षियों ने सम्मान प्रदान किया था, जिसकी उपासना स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने की थी, जिसका प्रवेश किसी समय चक्रवर्ती नरेशों के महलों से लेकर किसानों की कुटियों तक था, जिस विद्या को बड़े-बड़े कवियों ने अपने-अपने नाटकों में समावेश किया था, जिस कला को प्रत्येक श्रेणी के लोग आनन्दपूर्वक अपनाते और सीखते थे, और जिसकी मधुर झनकार सुनकर एक बार पतित हृदय भी अध्यात्मिक शांति अनुभव करने

लगता था-ऐसी विद्या और ऐसी कला की जितनी भी प्रशंसा की जाय कम है। स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने संगीताचार्य नारद मुनि से कहा था।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता: यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

भावार्थ: हे नारद। मैं न तो वैकुण्ठ में रहता हूँ, न योगियों के हृदय में ही, बल्कि मैं वहाँ रहता हूँ, जहाँ मेरे भक्त लोग संगीत की चर्चा करते हैं। यही नहीं, बल्कि जार्ज मेरेडिथ (Gerge Meredith) ने एक बार रमणी से कहा–''ईश्वर का सबसे बड़ा आशीर्वाद है सुशील स्त्री (God's rerest blessing is after all a good woman) उस रमणी ने उत्तर दिया- उससे भी बढ़कर आशीर्वाद है संगीत (Rarest than that is music)

यहाँ तक कि महाकवि शेक्सपियर (Shakespeare) ने कहा है कि जिस मनुष्य में गायन की रूचि नहीं होती और जो उसके स्वरों से मोहित नहीं होता, वह पतित, विश्वासघाती व आत्मद्रोही है, उसका हृदय अंधकारमय रात्रि से भी अधिक भयंकर है।

जगत प्रसिद्ध प्लेटो (Plato) ने अपनी पुस्तक 'आइडियल स्टेट' (Ideal state)में लिखा है कि संगीत मनुष्य के लिए लाभदायक व सुखदाई है और नवयुवक व्यायाम तथा संगीत द्वारा अपनी जीवन सुखी बना सकते हैं।

संगीत की प्रशंसा पूज्य पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी की है। उन्होंने दिल्ली के लाल किले में 'गणतंत्र समारोह' मनाते समय कहा था-

''The ways of relaxation might differ in defferent countries, but there could be no disput over the fact that relaxation through music was common and everywhere. Music was not only interesting bul also educative, Music and poetry were necessary for the life of human being" —Pioner, 5.2.50.

संगीत की प्रशंसा हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री राजेन्द्र प्रसाद जी ने भी की है। उनका कथन है कि हमारे जीवन में संगीत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। "Music occupies an important place in our lives from times immemorial we have learnt to apprecate music and to count it among the foremost achievement of man"

वास्तव में संगीत एक अति उत्तम एवं महान् कला है संगीत मनुष्य के लिए अति सुखदाई है। जिस प्रकार मनुष्य साहित्य, काव्य, चित्रकारी इत्यादि से अत्यन्त सुख प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार संगीत से भी अति आनन्द प्राप्त हो सकता है। संगीत से मनुष्य मानसिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार का आनंद प्राप्त कर सकता है। थोड़े शब्दों में, संगीत प्राणिमात्र के जीवन की अमृतमयी धारा है, जीवन का सुख है, मोक्ष का साधन है, मिलन का सुख स्वप्न है।

अगर प्रकृति और संगीत की चर्चा करते हैं तो झारखण्ड की चर्चा करना आवश्यक होगा। झारखण्ड का अर्थ ही होता है जंगल, पहाड़ झरनों का घर। प्राकृतिक सुषमा का अनुपम भंडार है वहाँ। सर्वत्र जिधर नजर उठ जाएँ नैनाभिराम दृश्य मन को मोह लेते हैं। वहाँ नैसर्गिक संगीत की क्या कमी? वहाँ तो संगीत ही संगीत है- वहाँ के जलप्रपात अविरल नगाड़े पीटते हैं, नदियाँ अविराम

संगीत सुनाती हैं। वायु जंगली पुष्पों की खुशबू के साथ संगीत के सातों सुरों को सातवें आसमान तक पहुँचाती है। वहाँ रहते है आदि काल से नाग, आग्नेय, द्रविड़ मूल के प्राचीन निवासी। झारखंड नाग भूमि रही है।

झारखंड के नाग, आग्नेय एवं द्रविड़ मूल के लोगों ने खूंखार जानवरों से भरे गहन वन के मध्य खेत खलिहान बनाए। खेत खलिहानों के बीच गाँव, घर बसाए और गाँव-घर के केन्द्र में स्थापित किए 'अखरा'। 'अखरा' अर्थात् गाँव का हृदय स्थल, जहाँ से पूरा गाँव संचालित होता है। जहाँ से गाँव वाले शक्ति प्राप्त करते हैं। ये शक्ति मिलती है संगीत से। दिन भर के कठिन श्रम के उपरांत थकान उतारने के लिए ये सामूहिक रूप से रात्रि में अखरा में उतरते हैं। अखरा जागृत करते हैं। श्रम और संगीत में सहिया भाव है। ये अखरा भयानक जंगली जानवारों से झारखंडवासियों की रक्षा करता आ रहा है। रात के सन्नाटे में झारखंड वासियों के नगाड़े, ढाँक, ढोल, मांदर, रबका, चोड़चोड़ी, टमक, धमसा, शहनाई, भेइर, नरसिंघा कुड़ूदुतू, संखवा आदि जब एक साथ बज उठते हैं तब जंगली जानवरों के कलेजे कांप जाते हैं। उन्हें तक प्रतीत होता है जिधर (गाँव की ओर) हमारा शिकार है वहां तो हमसे भी खतरनाक पशु गरज रहे हैं। ये भीष्ण तेज आवाज वाले वाद्य इन जानवरों के गांव की ओर न आने की सूचना देते है। ये है 'अखरा'। यही 'अखरा' उनका प्रशिक्षण और प्रदर्शन स्थल भी है। सालों भर 'अखरा' रात्रि में जगा रहता है जहां चांद तारे भी इमली के पेड़ों से छन कर नीचे उतर आते हैं। 'अखरा' के चारों ओर इमली के पेड़ होते हैं। जिनकी छोटी और कोमल पत्तियाँ अखरा की धूल में मिलकर मुलायम बना देती है। 'अखरा' केवल नृत्य-संगीत का ही नहीं अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र भी माना गया है।

संगीत की उत्पत्ति के संबंध में भी कुछ बातें ऐसी है जो स्वयं उसका प्रकृति के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है- संगीत के सातों स्वरों की उत्पत्ति पशु-पक्षियों द्वारा बताई गई हैं मोर से षड़ज, चातक से ऋषभ, बकरा से गंधार, कौआ से मध्यम, कोयल से पंचम, मेंढक से धैवत और हाथी से निषाद स्वर की उत्पत्ति मानी गई है।

फारसी के एक विद्वान् का मत है कि हजरत मूसा जब पहाड़ों पर घूम घूमकर वहाँ की छटा देख रहे थे, उसी वक्त गैब से एक आवाज आई (आकाशवाणी हुई) कि 'या मूसा हकीकी तू अपना असा (एक प्रकार का डंडा, जो फकीरों के पास होता है।) इस पत्थर पर मार! यह आवाज सुनकर हजरत मूसा ने अपना असा जोर से पत्थर पर मारा, जो पत्थर के सात टुकड़े हो गए और हर एक टुकड़ा में से पानी की धारा अलग-अगल बहने लगी। उसी जल-धारा की आवाज से अस्सलामलेक हजरत मूसा ने सात स्वरों की रचना की, जिन्हें सा,रे,ग,म,प,ध,नि कहते है।

एक अन्य फारसी विद्वान् का कथन है कि पहाड़ों पर 'मूसीकर' नाम का एक पक्षी होता है जिसकी चोंच में बाँसुरी की भाँति सात सुराख होते हैं। उन्हीं सात सूराखों से सात स्वरों का ईजाद हुआ।

सृष्टि की सृष्टि ही संगीत से हुई है। मानव जीवन का जन्म भी होता है रूदन गान से और जवीन का अंत भी शोक विलाप गीत से। संगीत का नाता जीवन से अटूट है। इसके बिना जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

स्वयं कविगुरू रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने रवीन्द्र संगीत में प्रकृति गीतों का वर्णन किया है–रवीन्द्रनाथ के प्रकृति संबंधी गीतों में दृश्य और अदृश्य दोनों के रूप सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। जड़ और चेतन दोनों के प्रति कवि की वाणी मुखर है। इसके साथ ही मानव स्वभाव और प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देते है। उपवन, नदियाँ, सागर और पर्वत का सौन्दर्य और उन्हें देखकर मानव मन की अवस्थाओं का चित्रण रवीन्द्रनाथ को महाकवि की श्रेणी में बैठा देता है। जब नारियाँ पानी भरते समय वर्षा से भींग रही हैं या किसी वट वृक्ष की नंगी डालियाँ तूफान के झोकें से कांप रही है तो रवीन्द्रनाथ के प्रकृति गीत मुखर हो उठते हैं। प्रकृति पर्व में उनका पहला गीत 'विश्ववीणारव मोहे विश्व जन' से प्रारंभ हुआ है। नृत्य गीत और रूप एवं रस से भरे इस विश्व मंच पर नाट्योत्सव, उनकी ऋतु रंगशाला है। ऋतुओं के भौगोलिक गुण दोषों का वर्णन एवं मानव स्वभाव को उनमें प्रतिबिम्ब करते हुए उन्होंने उनमें मानव प्राण का संचार किया है।

संगीत के समय-सिद्धान्त की तरह राग और ऋतुओं का संबंध भी प्राचीन संगीत में मिलता है जिसे ऋतु सिद्धान्त कहा जा सकता है। भारत के सभी प्रदेशों में ऋतुओं के अनुसार लोकमय गीतों का प्रचलन रहा है। वास्तव में गीत के शब्द उनसे उत्पन्न भाव समाज की परिस्थितियाँ और समय, एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। पुत्र जन्मोत्सव पर विरह व्यथा के गीत नहीं गाये जाते, किसी के निधन पर बधाई के गीत नहीं गाए जाते। इसी प्रकार लू से तपती दुपहरी में अथवा माघ-पूस की ठंड में मयूर नृत्य की कल्पना नहीं होती और न ठंड के दिनों में वर्षा की फुहारें अच्छी लगती हैं।

मल्हार के गीत तो वर्षा में ही सुहावने लगते हैं और वसन्त एवं बहार रागों की बंदिशों होली के अवसर पर उपयुक्त लगती है। वेदकालीन संगीत में साम की उपासना ऋतुओं के अनुसार बताई गई है।

शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर में प्रत्येक वर्ग के रागों का संबंध ऋतुओं से स्थापित किया है, जैसे गौडपंचम ग्रीष्म ऋतु में, भिन्नषड़ज, हेमन्त ऋतु में, हिंडोल वसंत ऋतु में और रगन्ती शरद ऋतु में। रागों का समय सिद्धान्त रागों की सबसे बड़ी विशेषता है। पूरे रागों को समय के अनुसार विभाजित किया गया है और सभी रागों को अलग अलग गाने का विधान हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में है।

रागों के समय सिद्धान्त में सबसे महत्वपूर्ण संघीप्रकाश राग है। स्वर और समय की दृष्टि से हिन्दुस्तानी रागों के तीनों वर्ग कामल, तीव्र (विकृत) के स्वरों के अनुसार उनका विभाजन किया गया है।

रागों के गाने के समय का आभास होना संगीत और प्रकृति को स्पष्ट करता है जैसे-मल्हर गाने से वर्षा का होना, चिलचिलाती धूम में मारवा का गाना, भैरव और भैरवी से सुबह का आभास होना। इसके अलावे रसों की उत्पत्ति भी मौसम और समय के अनुसार होता हैं। गीतों में ऋतुओं का वर्णन जैसे मल्हर में वियोग-मिलन, बिजली का कड़कना, वर्षा का होना, प्रिया के मिलन की बात, जंगल में मोर का नाचना इत्यादि।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आदि नाद ''ऊँ'' जो अ+उ+म+ तीन वर्गों के मेल से बना है जिसका संबंध संगीत और प्रकृति दोनों से है। सृष्टि की उत्पत्ति तथा विनाश के हर पल में संगीत विद्यमान है जो सनातन सत्य है। इसे स्वीकार करना ही नहीं बल्कि स्वीकार्य भी है।

संगीत के महत्व पर प्रकाश डालने पर पता चलता है कि प्रकृति से इसका कितना गहरा संबंध है। संगीत संस्कृति का दर्पण होता है। लोक संगीत द्वारा, विभिन्न देशों की, एक ही देश के विभिन्न स्थानों की लोक संस्कृति की झांकी, हम देख सकते है। ऐतिहासिक प्रसंग, भौगोलिक स्थिति (वहाँ के मौसम, पैदावार) पारिवारिक स्थिति, उत्सव- त्यौहार, वहाँ के प्रचलित रीति-रिवाज सभी का दर्शन संगीत के माध्यम से किया जा सकता है।

जन्म से लेकर मृत्यु तक 16 संस्कार, 12 महीनों के पर्व-त्यौहार, कोई ऐसा मौका नहीं होता जो संगीत की स्वर-लहरी से वंचित हो। चाहे अनपढ़ हो, बड़ा शहर अथवा गाँव, पिछड़ी बस्ती हो अथवा आदिवासी जाति, परन्तु अपनी-अपनी समझ व प्रथाओं के अनुकूल स्वर-लहरी हर जगह गूँजती है।

यों तो हर कला का मानव जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है तथापि संगीत इस क्षेत्र में सबसे अग्रणी है। मानव जीवन की क्या, सम्पूर्ण प्रकृति संगीत से प्रभावित है। संगीत का हमारे मानव जीवन में कितना महत्वपूर्ण स्थान है अथवा संगीत हमारे जीवन में क्या कार्य व सहायता करता है इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। मानव जीवन का हर पहलू, हर समय संगीतमय है। केवल हर्ष-उल्लास के समय ही नहीं वरन् मृत्यु जैसे शोक में भी संगीत का स्थान है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण जीवन संगीत से जा संवरा रहता है। प्रत्येक समय, पर्व, परिस्थिति, स्थान के अनुसार सांगीतिक विभिन्नता होती है। पर संगीत के बिना कोई कार्य सम्पन्न नहीं होता। संगीत से हमारे जीवन के कौन से प्रयोजन सिद्ध होते हैं, वह किस प्रकार हमारे लिए उपयोगी है तथा किस तरह हमारा जीवन संगीत का ऋणी है? इसकी कल्पना हम सहज ही कर सकते हैं।

कला का प्राण रस है और कला का लक्ष्य रसानुभूति। रस का सम्बन्ध प्रकृति से है। संगीत में रसानुभूति किस प्रकार तथा किन-किन माध्यमों से होती है। इसके अन्तर्गत प्रकृति रस निष्पत्ति का एक माध्यम है। रसों का प्रमुख आधार भाव ही है। इन भावों को स्थायी भावों की संज्ञा दी गई हैं। हर सहृदय सामाजिक के हृदय में यह भाव रहते है तथा मानस के अर्द्धचेतन अथवा अवचेतन भाग में छिपे रहते है। जब हम नाटक काव्यादि में भाव विशेष का चित्रण पढ़ते या देखते है तो छिपा भाव उभर कर चेतन मन में उतरता नजर आता है और विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा पुष्ट होकर रस में परिणत होता है। तब वह असीम आनन्द प्रदान करता है। अतः भाव ही रस के आधार है।

स्थायी भावों की तुलना समुद्र से की जाती है। जिस प्रकार समुद्र खारा तथा मीठा पानी और समस्त (अनेक) वस्तुओं को आत्मसात कर आत्मरूप बना लेता है, उसी प्रकार स्थायी भाव अपने से प्रतिकूल अथवा किसी भी भाव से विच्छिन्न नहीं होता तथा सभी को आत्मरूप बना लेता है। इस प्रकार रस के उपादन ये स्थायी भाव ही महत्वपूर्ण है। विभाव - ये स्थायी भाव को रस पहुँचने में सामग्री जुटाकर सहायता करते हैं। विभाव का अर्थ है जिसका ज्ञान हो सके'। विभाव ही स्थायी भाव को पुष्ट करता है। विभाव के दो भेद हैं- आलम्बन तथा उद्दीपन। आलम्बन प्रायः व्यक्ति होता है तथा उद्दीपन देशकाल, प्रकृति आदि, जैसे- किसी नाटक में नायक-नायिका (राम, सीता, दुष्यन्त, शकुन्तला) आलम्बन के माध्यम से जो भाव पैदा होता है अथवा जो भाव को उद्दीप्त करता है वह उद्दीपन होता है जैसेः शकुन्तला का सुन्दर व यौवन सम्पन्न होना (आलम्बन स्वरूप) दुष्यन्त के हृदय में रति का भाव पैदा करता है। यहाँ शकुन्तला आलम्बन है। उस समय का एकान्त मालिनी तट

कोयल की कूहू-कूहू बगीचे की शोभा आदि उस रति भाव को और बढ़ा रहे है। अतः ये सभी उद्दीपन विभाव है। इस प्रकार स्थायी भाव को विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन) पुष्ट करता है। रति भाव को धारण करने के कारण दुष्यन्त आश्रय है।

उच्च श्रेणी का काव्य वही है जो नवरस की कल्पना को साकार कर सके जो सभी रसों की उत्पत्ति करने में सफल हो। ठीक उसी प्रकार संगीत से भी नवरस की कल्पना साकार होती है। संगीत का आधार राग है। एक राग से अनेक रसों की उत्पत्ति होती है, जिसमें समय, ऋतु, परिस्थिति का बहुत बड़ा योगदान होता है।

व्यक्ति को जन्म से लेकर मरण तक हरेक रीति रिवाजों में संगीत की परम्परा रही है। हर रस्म के अलग-अलग संगीत शैलियाँ है। लोक गीतों की परम्परा इसमें सबसे धनी है जैसे सोहर, छट्ठी, यज्ञोपवीत, शादी इत्यादी, ऋतु गीत में कजरी, चैती, होली, चैता, बारहमासा, माँझी, भटियाली, वाउस, सावन, झुमर, लावनी, मांड इत्यादि। इस प्रकार पूरे देश में अनगिनत गीतों की परम्परा है। श्रेत्रीयता से लेकर पूरे देश तक अनेकों ऐसे गीत हैं जो प्रकृति और संगीत के सम्बन्धों को दर्शाते हैं। प्रकृति बहुत व्यापक है और उससे निकला हुआ संगीत भी अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म है। बस जरूरत है इस गीतों को बचाना, नहीं तो आने वाली पीढ़ी को हमें जबाब देना पड़ेगा कि आखिरकार डोमकच कौन सा गीत है। इसके अलावे लोक नृत्य और लोक गाथा जो विलुप्त होने के कारगार पर है। उसे धरोहर समझकर बचाना जरूरी है। इन विषयों पर शोध की आवश्यकता है ताकि आने वाली पीढ़ी इसको पढ़कर भी समझ सके कि हमारी संस्कृति कितनी समृद्ध थी।

संदर्भ-सूची

1. वसंत, संगीत विशारद, हाथरस, संगीत कार्यालय (उ० प्र०)
2. डॉ० गिरिधारी राम गौंझू, 'गिरिराज' जमशेदपुर, ट्राइब्ल कल्चरल सोसाइटी, झारखंड
3. बहुरा एक्का, एडीटेड वाई, रिडींग मेटेरियल, रिफ्रेसर कोर्स, (27.08.2009 से 16.09.2009 तक) ए० एस० सी० राँची, राँची विश्वविद्यालय, राँची।
4. जैन, श्रीमती विजय लक्ष्मी, संगीत-दर्शन, जोधपुर, राजस्थानी, ग्रन्थागार।
5. निगम, विक्रमादित्य सिंह, संगीत कौमुदी, पहला भाग लखनऊ, श्रीमती केसर कुमारी निगम ''केसर विला'' 73, राजेन्द्र नगर।

प्राचीन भारत के ग्रामीण विकास में पंचायतीराज व्यवस्था

बिपिन दुबे

शोधछात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, पीटी० डी०डी०यू० इण्टर कॉलेज, खजुरिया, गोपालगंज

दिसम्बर 1992 में 73 वें 74वें संशोधन द्वारा 9 और '9 क' के अन्तर्गत अनुच्छेद 243 से लेकर 243ह तक कुल 34 नए अनुच्छेद पंचायत संबंधी एवं नगरपालिकाओं का जिक्र करती है जो ग्राम पंचायती राज को सबल बनाती है। परन्तु ये पंचायतें प्राचीन काल से ही मजबूत एवं सक्रिय थी, जिससे ग्रामीण विकास संभव हुआ।

प्रो० अल्तेकर का कहना है कि ''अति प्राचीनकाल से ही भारत के ग्राम शासन-व्यवस्था की धुरी रहे है।'' शुक्र ने गाँवो की परिभाषा देते हुए बताया है कि जहाँ से एक सहस्र चाँदी के पण की आय हो वह गाँव है। कौटिल्य कहना है कि कोस-दो कोस की सीमा में गाँव बनाए जाएँ जिनमें शूद्र तथा किसान अधिक हों, सौ से पाँच सौ तक कुल हों तथा गाँव एक-दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हों। इन गाँवों की सीमा नदी, पर्वत, वन, खाई, अथवा गुफा, सेतु, बाँधा या वृक्षों से बनाई जाएँ। वैदिक काल में राज्य का आकार छोटा होने के कारण गाँवों का महत्व और भी अधिक था। राज्य का आकार बढ़ जाने के बाद भी अधिकांश लोग गाँवो में ही रहते थे, अत: इनका महत्व बना रहा। रामायण और महाभारत काल में भी गाँव के अधिकारियों का नाम आया है। वैदिककालीन ग्रामों का अधिकारी ग्रामीण होता था जिसे स्थानीय जनता का माता-पिता समझा जाता था।

प्राचीन ग्रीक नगर-राज्य विविध ग्रामों के समुदाय थे। जिन ग्रामों व ग्राम-संस्थाओं से मिलकर उनका निर्माण हुआ था, उनकी विशेषताएँ निम्नलिखित थीं-

(1) यह माना जाता था, कि ग्राम के सब निवासी सजात हैं। उनकी उत्पति एक ही मूलपुरूष से हुई है। रक्त की एकता उनमें एकानुभूति को उत्पन्न करती थी। ग्राम का निर्माण अनेक परिवारों, कुलों या गोत्रों से मिलकर होता था, जो सब अपने को सजात समझते थे।

(2) ग्राम का शासन एक ऐसी सभा के अधीन रहता था, जिसमें ग्राम के अन्तर्गत विविध परिवारों के मुखिया या कुलमुख्य सम्मिलित होते थे। सम्पूर्ण ग्राम का प्रधान इन्ही कुलमुख्यो में सें एक होता था, जो सभा के अधिवेशनों का सभापतित्व भी किया करता था।

(3) यह समझा जाता था, कि ग्राम की सब भूमि ग्राम की सम्पति है। भूमि पर किसी व्यक्ति का स्वत्व न होकर सम्पूर्ण ग्राम का स्वामित्व होता था। इसीलिए जो किसान उस पर खेती करते थे, वे अपनी उपज का एक अंश लगान के रूप में ग्राम-संस्था को प्रदान किया करते थे।

(4) प्रत्येक ग्राम की अपनी पूजा-विधि होती थी, और अपने पृथक् देवता।

जनपद के अन्तर्गत ग्रामों के अपने परम्परागत नियम और कानून होते थे, जिनका पालन करना प्रत्येक ग्रामवासी के लिए आवश्यक था। इसीलिए कौटिल्य ने अपन विजिगीषु राजा को यह परामर्श दिया है, कि वह ग्रामसंघों के परम्परागत चरित्र और कानूनों का अतिक्रमण न करें। ग्राम का शासन एक ऐसी सभा के अधीन था, जिसमें ग्राम के अन्तर्गत विविध परिवारों या कुलों के मुखिया (कुल-मुख्य) सम्मिलित होते थे। सम्भवतः, इसी ग्राम सभा को कौटिल्य ने ग्रामसंघ नाम से लिखा हैं। ग्राम संघ का प्रघान ग्रामिण होता था। पाणिनि की अष्टाध्यायी में इन्हीं कुल-मुख्यों या कुलवृद्धों को गोत्रापत्य कहा गया है। प्रत्येक परिवार में जो सबसे वृद्ध व्यक्ति हो, उसे ही गोत्रापत्य कहते थे। परिवार के अन्य सब सदस्य युवापत्य कहाते थे।

गाँवो के प्रशासन का रुप प्रजातन्त्रात्मक था। डा० राधाकुमुद मुखर्जी आदि विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारत का विश्वास सता के केन्द्रीकरण में न होकर सामूहिक स्वशासन में था जिसके लिए विकेन्द्रीकरण आवश्यक था। उस समय प्रत्येक गाँव स्वशासित था। गाँवों की राजनीति पर राज्य में होने वाले राजनीतिक उतार-चढ़ाव का अधिक प्रभाव नहीं होता था। मेगास्थनीज आदि विदेशी विद्वानों ने भी यह माना है कि भारतीय ग्राम छोटे-छोटे आत्मनिर्भर गणतन्त्र थे। कृषि कार्य को इतना पवित्र माना जाता था कि राजनीतिक लड़ाइयों में भी खेती को यथाशक्ति नुकसान नहीं पहुँचाया जाता था। शुक्र ने प्रत्येक गाँव में 6 राज्य कर्मचारी रखने को कहा है- गाँव का अधिपति, सुरक्षा अधिकारी, राज्य की सम्बन्धी आय लेने वाला, लेखक, प्रतिहार तथा व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क लेने वाला।

ग्राम की सब भूमि पर ग्राम का ही स्वत्व माना जाता था। भूमि खेति के लिए विविध व्यक्तियो को ग्राम-संस्था द्वारा ही प्रदान कि जाती थीं। इसीलिए भूमि के सम्बन्ध में कौटल्य ने यह व्यवस्था कि थी कि "जो भूमि खेति के लिए पहले से ही तैयार हो, उसे किसानो के जीवन-काल के लिए उन्हें खेती करने के प्रयोजन से दिया जाए और उनसे इसके बदले में कर लिया जाए। जो भूमि खेती के लिए पहले से तैयार न हों, उसे उन लोगो के हाथो मे रहने दिया जाए,जो उस खेती के लिए तैयार करते हों। जो स्वय खेती न करते हो, उनसें भूमि छीन ली जाए, या उसे ग्राम कि ओर से मजूदर रखकर खेती करायी जाए, या दूसरो को खेती के लिए दे दी जाए।'' यह ग्राम पंचायती व्यवस्था प्राचीन समय के ग्रामीण विकास को ही दर्शाती हैं।

ग्रामों के अपने पृथक् देवता होते थे, जिन्हें ग्राम देवता कहा जाता था। इन ग्रामदेवताओं के जहा अपने स्थान (मन्दिर) होते थे, वहाँ साथ ही इनका अपना द्रव्य (सम्पति) भी होता था, जिसकी संभाल करना ग्रामवृद्धों का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य माना जाता था।

अनेक ऐसे कार्य थे जिन्हें ग्राम या ग्रामसंस्था द्वारा सामूहिक रूप से किया जाता था। नाबालिकों की सम्पति (बालद्रव्य) और देवद्रव्य की देखभाल करना ऐसे ही महत्व के कार्य थे। ग्राम द्वारा अनेक प्रकार से न्याय-कार्य भी किया जाता था, और वह अपने क्षेत्र के निवासियों से अनेक प्रकार के जुर्माने भी वसूल करता था।

गाँव का अधिपति अपने निर्देशन एवं निरिक्षण में गाँव के शासन को संचालित करता था। विभिन्न समयों एवं स्थानों में इस अधिकारी के लिए अलग-अलग संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। सामान्य रुप से एक गाँव का एक ही अधिपति होता था।

गुप्तकाल में कुछ प्रान्तो में ग्राम समितियों का विकास हो चुका था। ये मध्य भारत में पंचमण्डली तथा बिहार में ग्राम-जनपद कही जाती थी। इनकी नियमित बैठके हुआ करती थी तथा महत्वपुर्ण निर्णय लिये जाते थे। देश के कुछ राज्यों में ग्राम वृद्धों द्वारा शासन कार्य सम्पन्न किया जाता था। प्रो० अल्तेकर का कहना है कि ''गुप्तकाल तथा उसके बाद में बिहार, राजपूताना, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक में ग्राम सभाओं की कार्यकारिणी समितियाँ भी कायम हो चुकी थी। पर स्मृतियों और उत्कीर्ण लेखों में इनके संगठन से सम्बन्धित कोई जानकारी प्राप्त नही होती।''

प्राचीन भारत में ग्रामीण संस्थाओं के लिए यदि कोई निर्वाचन किया जाता था तो उस पर आज की तरह से दलबन्दी, साम्प्रदायिकता आदि का प्रभाव नहीं होता था। गाँव के सद्गृहस्थों की सभा में ताति-पाँति के भेदभाव का असर अधिक नही होता था। मराठा शासन काल की ग्राम पंचायतो के फैसलों पर अब्राह्मणों तथा यहाँ तक कि शूद्रों तक के हस्ताक्षर मिलते है।

प्राचीन भारत में ग्राम पंचायतों के द्वारा अनेक विकास कार्य किये जाते थे। प्रो० अल्तेकर के अनुसार ये निम्नांकित प्रकार के कार्य करती थी-

- भूमि कर वसूल करने का दायित्व पूरी तरह से ग्राम पंचायतो का था। सूखा या बाढ़ आदि की स्थिति में वह लगान मफ कर सकती थी। कर वसूल करने के लिए विभिन्न तरीकों को अपनाया जा सकता था।
- गाँव की उसर भूमि का स्वामित्व ग्राम पंचायत करती थी। राज्य द्वारा इस भूमि को ग्राम पंचायत की अनुमति के बिना नहीं बेचा जा सकता था। स्वयं पंचायत द्वारा ऐसी भूमि के बेचने का विवरण प्राप्त होता है।
- ग्राम पंचायतों को न्याय के क्षेत्र में व्यापक शक्तिया प्राप्त थी। गंभीर अपराध के मामले इनके अधिकार-क्षेत्र की सीमा से बाहर थे। दीवानी मामलो में इसके अधिकारों की कोई सीमा नही थी। पंचायतों की व्यापक न्यायिक शक्तियों का कारण तत्कालीन अराजकता या राजकीय न्यायालयों के अभाव को नही माना जा सकता। स्वये राज्य की नीति ही यह थी कि पंचायतो को न्याय क्षेत्र में अधिक शक्तियाँ सौपी जाएँ। पंचायतों के निर्णय के विरुद्ध अपील की जा सकती थी, किन्तु इसकी सफलता की आशाएँ अत्यन्त मन्द होती थी।
- गाँव के उत्पादन को बढ़ाने के लिए ग्राम पंचायतें योजना बनती थी। इसके लिए वे जंगली तथा उसर भूमि को कृशि योग्य बनाने का प्रयास करती थी। ये सड़को की मरम्मत, पेयजल के कुँए तथा धर्मशाला आदि की व्यवस्था भी करती थी। इस प्रकार प्राचीन समय से ही ग्राम पंचायते विकास कार्य में महत्वपुर्ण भूमिका निभा रही है। आज भी अनेक गाँव इसके उदाहरण है जैसे गोपालगंज जिले के खवाजेपुर पंचायत का भुवाली टोला गाँव आपसी सहयोग से ही विदेशी नौकरी में बच्चों को भेजकर उन्नति कर लिया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि प्राचीन भारत के जनपदों का स्वरूप प्राय: वैसा ही था जैसा कि प्राचीन ग्रीस के 'पोलिस' और प्रचीन इटली के 'सिविातास' का था। प्राचीन भारत की राजनीतिक व

शासन-सम्बन्धी संस्थाओं का अनुशीलन करते हुए इस तथ्य को दृष्टि में रखना बहुत आवश्यक है। गत दो सहस्राब्दियों से भी अधिक काल में राज्य संस्था के विकास द्वारा राज्यों का जो स्वरूप वर्तमान समय मे हैं। उसे भारत के प्राचीन जनपदो की तुलना कर सकना सम्भंव नही है और नही आधुनिक युग संस्थाओं से उनकी संस्थाओं की तुलना की जा सकती है। यदि उनकी तुलना करनी ही हो, तो प्राचीन ग्रीस और इटली की शासन-संस्थाओं से ही उनकी समता स्थपित करना अधिक युक्तिसंगत है।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ- डॉ० जी०पी० नेमा एवं डा० हरिश्चन्द्र
2. भारत का संविधान एक परिचय- ब्रजकिशोर शर्मा
3. प्राचीन भारत की शासन-पद्धति और राजशास्त्र-सत्यकेतु विद्यालंकार
4. हमारा संविधान- सुभाष कश्यप
5. 'दैनिक समाचार पत्र' एवं 'प्रभात खबर' की संम्पादकीय से उद्घृत

भारतीय समाज में महिला–पुरूष सम्बन्धों की सोच के विभिन्न आयाम

डॉ० रीता कुमारी

उपाचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, के. बी. महिला महाविद्यालय, हजारीबाग, झारखण्ड

प्राचीन भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति बहुत अस्पष्ट है। मनुस्मृति में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' कहकर उन्हें अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया गया है। तो दूसरी ओर यह कहा गया कि कमजोर होने के कारण उसे अपने जीवन के सभी चरणों में सुरक्षा की जरूरत है, बचपन में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पति की मृत्यु के बाद पुत्रों द्वारा। मातृदेवी के दुर्गा, काली चण्डी अथवा अन्य कई नामों और रूपों में उसे शक्ति का प्रतिनिधि माना जाता है वह मन में भय और श्रद्धा दोनों जगाती है, वह रक्षा कर सकती है और भिन्न परिस्थितियों में वह प्रतिशोध में विनाशलीला भी कर सकती है। प्रसन्न होने पर वह प्रत्येक इच्छा पूरी कर सकती है, क्रुद्ध होने पर वह अभूतपूर्व विभीषिका ला सकती है। देवता उसके समक्ष स्वयं को असहाय पाते हैं और जब वह सक्रिय होने का निर्णय करती है तब वे हस्तक्षेप नहीं करते। उसकी कुछ विशेषताएँ सभी महिलाओं में सन्निहित मानी जाती है। लेकिन महिला की एक और तस्वीर है और इसे भी धार्मिक लेखन तथा लोकगीतों में प्रबल समर्थन .प्रदान किया गया है। उसे चंचल और कमजोर माना जाता है। वह ऐंद्रिक, बहकाने वाली, मिथ्यावादिता, मूर्खता, लालच, धूर्तता, अपवित्रता में प्रवृत्ति तथा बिना विचारे काम करने वाली है। इस प्रकार उसे सभी बुराईयों की जड़ माना जा सकता है। उसके इस कथाकथित असंगत चरित्र के कारण उसे कठोर नियंत्रण में रखना आवश्यक है। इस तरह महिलाओं की ये दोनों छवियाँ परस्पर विरोधी हैं। स्वीकृत रूढ़ रूपों में झुकाव नकारात्मक और अपमानजनक छवि की ओर है। प्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने अपनी एक बहुउद्धृत चौपाई में महिलाओं को शूद्रों, गंवारों और ढोल के साथ रखा है जिन्हें सन्मार्ग पर रखने के लिए ताड़ना की आवश्यकता है। चूँकि महिला कथित रूप से हीन लिंग की मानी जाती है अत: उसे कुछ ऐसे अधिकारों और विशेषाधिकारों से वंचित रहना पड़ा जो एकांतिक रूप से पुरूषों के माने जाते हैं। अधीनता की यह विचारधारा, जो मुख्यत: हिन्दू धर्म से निकली लेकिन इसके साथ ही इस्लाम तथा ईसाई धर्म से भी जुड़ी है, व्यापक है और यह लगभग सम्पूर्ण भारतीय समाज की विश्वदृष्टि और लोकाचार में प्रवेश कर गयी है। निस्संदेह इसके कुछ अपवाद भी हैं जो महिला को अधिक समानता और स्वतंत्रता की अनुमति देते हैं।

निम्नलिखित प्रमुख क्षेत्र हैं जहाँ महिलाओं पर नियंत्रण रखा जाता है प्रथम, उनके यौन सम्बन्ध पुरूषों की तुलना में कहीं अधिक कठोरतापूर्वक नियंत्रित होते हैं। महिला अधिक आसानी से अपवित्र हो जाती है और सामाजिक रूखों के मद्देनजर उसके मायके और ससुराल दोनों परिवारों की बदनामी

होती है। लड़कियों का उनकी वय:संधि (प्रथम मासिक धर्म) से पूर्व ही विवाह कर देने के प्रतिमान के पीछे उनकी पवित्रता की रक्षा की ही बात है। यौन सम्बन्ध के नियंत्रण में प्रजनन (सन्तानोत्पत्ति) का नियंत्रण सन्निहित है। दूसरे, महिलाओं के आने-जाने और लोगों से मिलने-जुलने पर भी प्रतिबन्ध है। इसके पीछे आरोपित विचार यह है कि महिलाओं को यौन प्रतिमानों को तोड़ने के प्रलोभन मिलने के अवसर न मिलें और वह इन प्रतिमानों का पालन करती रहे। इसके अलावा इस तरह उसके संसाधन-संपत्ति, नगदी, श्रम तथा कौशल - का भी कोई शोषण न कर पाये, न उसमें कोई हिस्सा बंटा पाये। निम्नतर वर्ग की महिलाओं को अपने घर का खर्च पूरा करने के लिए काम करना पड़ता है और इससे उन्हें घर की चारदीवारी से बाहर निकलना पड़ता है। इस प्रकार से विनियमन उच्च और मध्य स्तर के परिवारों पर ही अधिक लागू होते हैं। तीसरे, ऐसा माना जाता है कि महिला के संसाधनों के लिए विनिमय और नियंत्रण की आवश्यकता होती है। अधिकतर महिलाओं के लिए उनके मुख्य संसाधन है उनका श्रम और कौशल। वे बाहर के काम करके आय अर्जित कर सकती हैं अथवा पारिवारिक शिल्प में भागीदार हो सकती हैं, अथवा उनमें ऐसे कोई विशेष कौशल हो सकते हैं, जिन्हें मान्यता मिलती है और ये लाभप्रद्र रूप में इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में ये प्रश्न उठते हैं: अपनी कमाई का कितना हिस्सा वे अपनी इच्छा से खर्च कर सकती हैं, कितना बचा सकती हैं और परिवार की कमाई में उन्हें कितना योगदान देना पड़ सकता है? उच्च और मध्य वर्ग की महिलाएँ अपने साथ कुछ सम्पत्ति ला सकती हैं जिसे कानूनी तौर पर स्त्रीधन (महिला-धन) माना जाता है। क्या इस सम्पत्ति का इस्तेमाल वे अपनी इच्छा से कर सकती हैं? अथवा उन पर इस बात के दबाव हैं कि वे इसका उपयोग परिवार की साझी परियोजनाओं को सहारा देने अथवा पारिवारिक संकट से पार पाने में करें। ये नियंत्रण किस तरह लागू किये जाते हैं यह बहुत कुछ सामाजिक संरचना, निर्धारित भूमिका, नैतिक मूल्यों तथा सामाजिक नियंत्रण की कठोरता अथवा लचीलेपन पर निर्भर करता है। महिला-पुरूष संबंध के समीकरणों का निर्माण तथा पुनर्निमाण बहुत कुछ ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों की परस्पर क्रिया पर निर्भर करता है।

कुछ अपवादों को छोड़कर भारतीय सामाजिक व्यवस्था की विशेषता है पितृसत्ता। पितृसत्ता पुरूष के प्रभुत्व और महिला की अधीनता को मान्यता देती है। विवाह के अवसर पर वधू का अपने पैतृक घर से नाता टूट जाता है तथा वह उस परिवार की सदस्य हो जाती है जिसमें उसका विवाह होता है। उसकी सन्तानें उसके पति की वंश परम्परा में होती हैं। परिवार के भीतर अधिकार पुरूष में- अधिकतर वंशपरम्परा के ज्येष्ठतम पुरूष में निहित होते हैं। वह मुख्य निर्णयकर्त्ता होता है, हालांकि उसे अन्य ज्येष्ठ पुरूषों से सलाह मशविरा करना पड़ता है। निर्णय लेने की प्रक्रिया में महिलाओं की उपस्थिति स्पष्ट रूप से परिलक्षित नहीं होती यद्यपि अनुभवी, दृढ़ इच्छा शक्तिवाली और परिपक्व महिलाएँ अपनी बात जोर देकर कहती हैं लेकिन वे प्राय: पृष्ठभूमि में रहती हैं। कम उम्र की महिलाएँ भी पर्दे के पीछे से सूत्रधार बनी रहती हैं। इस प्रकार घर की राजनीति में महिलाओं की भूमिका की अनदेखी नहीं की जा सकती, लेकिन अंतिम विश्लेषण में वे पुरूष प्रभुत्व पर गम्भीरतापूर्वक कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगातीं। जब ऐसा किया जाता है तो परिवार जल्दी ही टूट जाता है। निस्सन्देह, कुछ ऐसे परिवारों के उदाहरण भी मिलते हैं जिनकी मुखिया महिला है लेकिन यह तभी होता है जब बच्चे छोटे होते हैं और घर में केवल एक व्यस्क महिला ही होती है जो घर का दायित्व संभाल सकती है। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनमें ज्येष्ठतम पुत्र गृहस्थी का मुखिया पद संभाल लेता है।

अधिकतर जनजातीय समूह पितृवंशी होते हैं लेकिन उनमें पितृसत्ता बहुत सुस्पष्ट नहीं है। शासकों और प्रधानों के परिवार अपवाद है जो पुरूष प्रधान हैं। जनजातीय महिलाओं को जंगलों और खेतों में काम करना पड़ता है। उन्हें कहीं आने-जाने और आर्थिक उत्तरदयित्व की पर्याप्त स्वतंत्रता है। सैद्धांतिक रूप में वे पुरूष श्रेष्ठता को स्वीकार करती हैं किन्तु वे अधिकतर समतावादी लोकाचार के तहत काम करती हैं।

भारत में मातृवंशी समाज के छोटे सीमित केन्द्र हैं, लेकिन मातृसत्ता के प्रचलन का कोई साक्ष्य नहीं मिलता है। मातृवंशी समुदायों में वंश परम्परा का मूल महिला के माध्यम से खोजा जाता है लेकिन राजनीतिक सत्ता सामान्यत: पुरूष में निहित होती है। भूमि तथा अन्य सम्पत्ति का उत्तराधिकार महिला की परम्परा में रहता है किन्तु उसकी देखभाल, प्रबंधन, अधिकांशत: पुरूष करते हैं। मातृवंशी प्रबंधन व्यवस्था महिलाओं को कुछ विशेष गरिमा तथा हैसियत प्रदान करती है यद्यपि महिलाओं और पुरूष के कार्यक्षेत्र और अधिकार क्षेत्र अलग-अलग चिह्नित होते हैं। एक खासी कहावत है: युद्ध और राजनीति पुरूषों के लिए है जबकि सम्पत्ति और बच्चे औरतों के लिए है। उनमें शासन, मुखिया तथा शक्ति का इस्तेमाल करने वाले बुजुर्ग सभी पुरूष हैं किन्तु महिलाओं की महत्वपूर्ण आर्थिक भूमिकाएँ हैं। उदाहरण के लिए खासी महिलाएँ छोटी दुकानें चलाती हैं तथा स्थानीय व्यापार में लगी हैं। नायर, जो केरल के हिन्दु समाज के अंग हैं, भूस्वामी अथवा खेती न करने वाले काश्तकार थे। उनकी महिलाएँ घर के भीतर सीमित थीं, और पुरूष सेना में सेवारत थे। उनकी सम्पत्ति का स्वामी तथा उत्तराधिकारी महिलाएँ होती थीं। लेकिन उनकी देखभाल प्रबन्धक करता था जो मातृवंश का कोई वरिष्ठ और जिम्मेदार पुरूष (मामा, भाई अथवा नानी का भाई) ही होता था। लगभग यही स्थिति लक्षद्वीप द्वीपसमूह के मातृवंशी मुसलमानों में है केरल और कर्नाटक के केवल कुछ ही मातृवंशी वंशों में महिलाओं को परिवार का प्रमुख पद प्राप्त करने का अधिकार था।

मातृवंशी व्यवस्था इस समय दबाव में है। समकालीन सामाजिक परिवेश इसकी कार्यपद्धति में कुछ परिवर्तन लाये जाने का दबाव डाल रहा है। परिवर्तन के प्रमुख कारक हैं बाजार अर्थव्यवस्था, आधुनिक शिक्षा, बढ़ी हुई भौगोलिक गतिशीलता, तथा रोजगार के अवसर। पति-पत्नी और बच्चों की इकाइयों में विशेषकर अजनबी परिवेष में, मातृवंशी परम्परा उसी तरह काम नहीं कर सकती जैसा कि वह पारम्परिक परिवेश में करती थी। नायर तारावाड़ टूट रहे हैं क्योंकि नये कानून ने विवाह के अन्तर्निहित सिद्धान्त को बदल दिया है और व्यक्तियों को पूर्वजों की सम्पत्ति में हिस्सा पाने का अधिकार दे दिया है। स्वयं अर्जित सम्पत्ति को ध्यान में रखकर खासी भी अब अपने कानून में परिवर्तन ला रहे हैं, किन्तु मातृवंशी विचारधारा के पूरी तरह समाप्त हो जाने की संभावना नहीं है क्योंकि महिलाएँ मातृवंशी परम्परा आगे चलाती रहेंगी, पूर्वजों की सम्पत्ति में उनका हिस्सा होगा और वे उसी सम्मान और प्रस्थिति की माँग करेंगी जो उनके पारम्परिक प्रतिमानों और मूल्यों द्वारा उन्हें प्रदान किये गये थे।

भारतीय सामज में भूमिका निर्धारण के सन्दर्भ में **'पुरूष के कार्य'** और **महिलाओं के कार्य'** में भेद किया गया है। गृहस्थी के प्रबन्ध का काम निरपवाद रूप से महिला के क्षेत्र में आता है। यदि वे घरेलू कामकाज में हाथ बंटाने के लिए कोई सेवक नहीं रख सकती हैं तो महिलाओं को घर के सारे कामकाज खुद ही करने पड़ते हैं जैसे पानी भरना, खाना पकाना, घर की सफाई, अपने और घर

के पुरूषों और बच्चों के कपड़े धोना तथा बच्चों की देखभाल। पुरूष ये काम तभी कर सकते हैं यदि पत्नी घर पर न हो, अथवा अस्वस्थ हो तथा उसका काम संभालने वाले कोई अन्य महिला घर में न हो, यह धारणा इतनी गहरी जमी हुई है कि व्यवसायों में कार्यरत तथा पूर्णकालिक सेवारत महिलाओं से भी अपेक्षा की जाती है कि वे इसके अलावा गृहस्थी के काम-काज भी देखते रहें। बहुत सी महिलाएँ जब अपने घरेलू दायित्व नहीं पूरे कर पातीं तो उन्हें अपराध बोध न भी हो तो एक अपर्याप्तता तो महसूस होती ही है। दूसरी ओर पुरूषों से घर के बाहर की दुनिया के कामकाज देखने की अपेक्षा की जाती है उनसे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे परिवार का भरण-पोषण करें तथा उसके असन्तोषों तथा संघर्षों की स्थिति में पंच के रूप में काम करें।

असमान महिला-पुरूष संबंधों तथा महिलाओं के प्रति जारी अन्यायों ने समाजसुधारकों का ध्यान आकृष्ट किया। अनेक समाज सुधारक महिलाओं के हित समर्थन में आगे आये। मध्यकाल के कुछ सन्त-कवियों ने महिलाओं के प्रति अधिक मानवीय तथा न्यायपूर्ण व्यवहार करने का उपदेश दिया। सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आन्दोलनों-ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज तथा कुछ मुस्लिम सुधार आन्दोलन - की कार्यसूची में महिलाओं के अधिकारों और स्थिति को सुधारने की बात भी शामिल थी। वे सामान्यत: सामाजिक तथा कानूनी असमानताओं के विरूद्ध थे तथा उन्होंने बाल विवाह, विधवाओं के प्रति व्यवहार, महिला को सम्पत्ति अधिकार से वंचित रखने तथा महिला शिक्षा की समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया।

अपने शासनकाल के दौरान अंग्रेजों ने ऐसे समाजसुधारों से दूर रहने का प्रयास किया जो किसी भी तरह धर्म से संबंधित थे। कट्टरपंथ प्रबल था तथा वह विभिन्न समुदायों के सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रें में किसी भी हस्तक्षेप का विरोध करता था। किन्तु अंग्रेजों को समाज सुधारकों के दबाव में कार्रवाई करनी पड़ी। सती उन्मूलन हुआ (1829), विधवा विवाह को विधिसम्मत बनाया गया (1856), कन्या शिशु हत्या पर प्रतिबन्ध लगाया गया (1870), विशेष विवाह अधिनियम (1872) के अन्तर्गत अन्तर्समुदाय विवाहों की अनुमति दी गयी, सहमति की आयु बढ़ाकर बारह वर्ष की गयी (1891), बाल विवाह के विरूद्ध कानून बनाया गया (1929), मद्रास प्रान्त में महिलाओं को मताधिकार मिला (1921) तथा महिलाओं को सम्पत्ति का सीमित अधिकार मिला (1937)।

सती प्रथा का उन्मूलन एक ऐसा सकारात्मक हस्तक्षेप था जिसने महिलाओं को बहुत यंत्रणा से बचाया किन्तु अपने पति की चिता पर महिलाओं के आत्मदाह का महिमामण्डण कहीं-कहीं अब भी जारी है। राजस्थान में रूपकुंवर प्रकरण (1998) एक भावावेशपूर्ण मुद्दा बन गया था और उसने सती के समर्थकों और विरोधियों की भावनाएँ उद्वेलित की थी। द्विज जातियों में विधवाओं को अब भी नीची निगाह से देखा जाता है यद्यपि उनमें से छोटी संख्या परम्परा की बेडियाँ तोड़कर पुनर्विवाह कर लेती हैं। कन्या शिशु हत्या अब भी जारी है। प्रतिवर्ष बालकों से 300,000 अधिक बालिकाएँ शैशवकाल में मर जाती हैं। अनेक मौतों का कारण उदासीनता अथवा जान बूझकर की गयी लापरवाही को माना जाता है क्योंकि लड़की को 'भार' समझा जाता है। चिकित्सकीय तकनीकी में हाल में हुई एक प्रगति **एम्नियो सिंटेसिस** से अजन्मे शिशु का लिंग निर्धारण सम्भव हो गया है और इससे कन्या भ्रूण की हत्या आसान हो गयी है। मीडिया समाचारों के अनुसार एक वर्ष में केवल मुंबई नगर में ही कन्या भ्रूण हत्या के 40,000 मामले हुए थे। अब यह सुविधा लगभग सभी शहरों तथा

अनेक कस्बों में भी उपलब्ध है। अन्तर्समुदाय विवाहों का प्रतिशत बढ़ रहा है किन्तु कुछ बाल विवाह भी हो रहे हैं जबकि इसके विरूद्ध कानून मौजूद हैं। मूल अधिनियम में विवाह की न्यूनतम आयु लड़की के लिए पन्द्रह वर्ष तथा लड़के के लिए अठारह वर्ष थी। बाद में इसमें संशोधन कर लड़की के लिए अठारह और लड़के के लिए इक्कीस वर्ष की न्युनतम आयु निर्धारित की गयी। लेकिन भारत के कुछ हिस्सों में अब भी सामूहिक विवाह होते हैं जहाँ नवजात शिशुओं का विवाह कर दिया जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाओं को मताधिकार मिला और सम्पत्ति के स्वामित्व के अधिकार में भी कुछ सुधार हुआ। किन्तु अनेक समस्याएँ अब भी बनी हुई हैं: कन्या बाल श्रम का शोषण, यौन शोषण और वेश्यावृत्ति के लिए लड़कियों को जोगन अथवा देवदासी के रूप में मंदिरों को समर्पित करना, परिवार तथा पड़ोस के परिवेश में लड़कियों का यौन उत्पीड़न। सामाजिक जागरूकता और सोद्देश्य सामाजिक सक्रियता के अभाव में सामाजिक कानून खोखले तथा अधूरे वादे रह जाते हैं।

हिन्दू जाति सोपानबद्धता के निचले स्तरों से प्रारम्भ होने वाले आन्दोलन-उदाहरण के लिए ज्योतिबा फुले का सत्यशोधक आन्दोलन भी महिलाओं के समर्थन में आगे आया। महात्मा गाँधी ने महिलाओं को स्वतंत्रता संग्राम के लिए गोलबन्द कर उन्हें उनकी अनेक बेड़ियों से मुक्ति दिलायी। वे महिलाओं के हितों के समर्थक थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाएँ अनेक मोर्चे पर आगे बढ़ी हैं। ऐसे अनेक क्षेत्रों में वे अधिक दिखाई देती हैं जो परम्परागत रूप से महिलाओं के नहीं हैं तथा सामान्यत: वे अधिक स्वाग्रही हैं। लेकिन महिला-पुरूष संबंध सामान्य तौर पर असमान ही बने हुए हैं।

कानून, शिक्षा और अब आर्थिक तथा सामाजिक अवसरों के कारण स्थिति तेजी से बदल सकती थी किन्तु राज्य बहुत सावधानी से आगे बढ़ रहा था। संभवत: वह एक परम्पराबद्ध समाज में समुदायों की सांस्कृतिक संवेदनाओं को आहत नहीं करना चाहता था। सती उन्मूलन के बाद से संविधान ने महिलाओं की प्रस्थिति का अतिक्रमण करने वाले अनेक क्षेत्रों को छूआ है। बहुविवाह कुप्रथा को सुधारने के प्रयास किये गये हैं, विवाह की उम्र बढ़ायी गयी है, दहेज विरोधी कानून बने हैं, विवाह विच्छेद कानूनों का उदारीकरण हुआ है, अभिभावकत्व संबंधी कानूनों में भी कुछ परिवर्तन हुए हैं। भरण-पोषण संबंधी एक नया कानून में हुए इन परिवर्तनों को लागू करने में कठिनाइयाँ हुई हैं। उनमें बचाव के रास्ते छूट गये हैं जिससे इन कानूनों का अभीष्ट पूरा नहीं हो पाता। हिन्दू संहिता को पारम्परिक प्रथाओं के लिए छूट देनी पड़ी लेकिन अभी भी अधिकार नहीं मिलता। पारिवारिक सम्पत्ति में अपना विधिसम्मत अधिकार पाने में उन्हें कठिनाई होती है, यहाँ तक कि स्त्री-धन पर भी उन्हें पूरा अधिकार नहीं मिलता।

यह सही है कि महिलाओं के लिए शिक्षा के अवसर बढ़े हैं। अब अधिक लड़कियाँ शैक्षिक संस्थानों के सिंहद्वार के भीतर प्रविष्ट होती हैं। किन्तु शैक्षिक संस्थानों में भरती होने वाली लड़कियों की संख्या लड़कों के मुकाबले कम है तथा बीच में ही स्कूल छोड़ देने की दर चिन्ताजनक रूप में ऊँची है। हाल के दशकों में नये आर्थिक अवसर खुले हैं और महिलाएँ उनका लाभ उठा रही हैं। उनके विरूद्ध एक अदृश्य भेदभाव अब भी होता है और जनसंख्या में उनके आकार के अनुपात में नियमित रोजगार क्षेत्र में महिलाओं का प्रतिनिधित्व गम्भीर रूप से बहुत कम है। राजनीति के क्षेत्र में भी ऐसा ही है 1989 से संसद और विधान सभाओं में सत्ताधारी दल ने वादा किया था कि वह तीस प्रतिशत टिकट महिलाओं को देगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ और संसद में इस विषय पर

टाल-मटोल जारी है। विपक्ष की स्थिति बेहतर नहीं थी। वर्तमान को संसद में महिलाओं की संख्या पहले की संसद की तुलना में कोई विशेष अच्छी नहीं है।

भारतीय संविधान में एक अन्तर्विरोध के कारण महिला-पुरूष भेदभाव के अनेक रूप सामने आये हैं। संविधान सुनिश्चित करता है कि कानून के समक्ष सभी समान हैं। वह धर्म, प्रजाति, जाति तथा जन्मस्थान के आधार पर किसी भी तरह के भेदभाव का निषेध करता है किन्तु, वह धर्म की स्वतंत्रता-मुक्ति रूप से धर्म स्वीकार करने, उस पर आचरण करने और उसका .प्रचार करने की स्वतंत्रता भी सुनिश्चित करता है। धार्मिक स्वतंत्रता का यह प्रावधान संविधान द्वारा महिला को दी गयी स्वतंत्रता और समानता को काफी हद तक छीन लेता है। परिवार तथा वैयक्तिक कानूनों का मूल धार्मिक संहिताएँ ही हैं, अत: महिलाओं को परिवार के भीतर अथवा सम्पत्ति में समान अधिकार नहीं मिलता है। उनमें से अनेक को यह निर्णय करने की स्वतंत्रता नहीं होती कि विवाह के बाद वे कहाँ रहेंगी। कुछ भरण-पोषण के अधिकार से वंचित हैं, कुछ को विवाह विच्छेद में बहुत कठिनाई होती है और कुछ कानूनी तौर पर कोई बच्चा गोद नहीं ले सकतीं। समान नागरिक संहिता की बड़ी-बड़ी बातें की जाती रही हैं किन्तु कट्टरपंथ तथा मोर्चाबन्द निहित स्वार्थों की ओर से होने वाला विरोध देश के राजनीतिक नेतृत्व को हतोत्साहित कर देता है जो भविष्य में किसी अधिक अनुकूल समय के लिए ऐसी पहलों को टाल देता है। संभावित राजनीतिक परिणाम और इसके परिणामस्वरूप धार्मिक समुदायों के विमुख होने तथा वोट बैंक हाथ से निकल जाने का भय प्रगतिशील विधिनिर्माण की राह में रोड़ा है और इस कारण महिलाओं को समानता नही मिल पाती। स्पष्ट है कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था महिला-पुरूष असमानता को जारी रखने की ओर झुकी है और ऐसा लगता है कि स्त्री-पुरूष समानता के लिए संघर्ष का अभियान लंबा होगा। बिना व्यापक जन संघर्ष के, जिसमें महिला और पुरूष मिलकर लड़ें, महिला सशक्तिकरण का सपना पूरा नहीं होगा और ऐसी स्थिति में महिला के मानवाधिकारों को संरक्षण नहीं मिल पाएगा। हाल के दिनों में देश के विभिन्न भागों में खास कर दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता ऐसे शहरों में हो रही बलात्कार की घटनाएं काफी दुर्भाग्यपूर्ण है। बिहार और झारखण्ड की महिलाओं के सामने दहेज हत्या बलात्कार और पारिवारिक स्तर पर हो रहे शोषण हमें स्वाभाविक रूप से चिंतित करते हैं। मध्य बिहार और झारखण्ड में कुछ हिंसक वामपंथी संगठनों के द्वारा गरीब महिलाओं का यौन शोषण पुलिस हिरासत में महिलाओं की पिटाई और उनके साथ हो रहे बलात्कार सभ्य समाज के लिए कलंक है जिससे मुक्ति पाने के लिए परिवार, समाज नागरिक समाज और राज्य को अपनी मानसिकता बदलनी होगी ताकि स्त्री मानवाधिकार की संकल्पना सार्थक हो सके और वे सही अर्थों में सशक्त हो सकें।

लैंगिक असमानता का वैश्विक और भारतीय संदर्भ

डॉ० अनुपा देवी

उपाचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग, के.बी. महिला महाविद्यालय, हजारीबाग, झारखण्ड

विश्व में 'सभ्यता' के विकास का इतिहास स्त्री के दमन शोषण का इतिहास भी रहा है। परंतु इस लिंग आधारित दमन और शोषण के प्रतिकार का इतिहास अदृश्य ही है। वर्तमान स्वरूप में, स्त्री का अपने अधिकारों के लिए संघर्ष, आधुनिक राष्ट्र राज्य की उपज है। इस संदर्भ में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन राष्ट्र राज्यों में आरंभिक वर्षों में स्त्री की स्थिति सुधारने की दिशा में कई ठोस कदम उठाए गए, परंतु ये सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित रहे। इस दौरान, स्त्रियों को स्थानीय, प्रांतीय तथा राष्ट्रीय सरकारों में कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। उनको मताधिकार भी प्राप्त नहीं था। हालांकि संभ्रांत वर्गों की स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा मिलने से उनका बौद्धिक स्तर सुधरा लेकिन सन् 1700 तक न तो उनको विश्वविद्यालयों में प्रवेश दिया जाता था और न ही समान काम करने पर समान मजदूरी मिलती थी। विवाह के बंधन में ही उनका भविष्य सुरक्षित माना जाता था। विवाहित स्त्री का अपने पति से अलग कोई कानूनी अस्तित्व नहीं था। उसकी सारी संपत्ति पर पति का ही कानूनी अधिकार होता था। शादी के समय स्त्री पिता के घर से दहेज लाती थी। उसी दहेज के बदले पति सारा जीवन उसका भरण-पोषण करता था। मां का बच्चों पर कोई कानूनी अधिकार नहीं होता था जबकि बच्चों के पालन-पोषण में स्त्री की मुख्य भूमिका होती थी। स्त्री को तलाक का अधिकार नहीं था। स्त्री के इस दोयम दर्जे का आधार यह मान्यता थी कि वह पुरूष से कम शक्तिशाली है। स्त्री के दोयम दर्जे के विरूद्ध संघर्ष को प्रारंभ के लिए आवश्यक था कि इस दर्जे को धार्मिक और सामाजिक मान्यता देने वाले इस आधार को तोड़ा जाए। सोलहवीं सदी के प्रारंभिक चरणों में पुरूष लेखक ही स्त्री के सामाजिक दर्जे पर आपस में बहस-मुबाहिसा कर रहे थे। उस समय स्त्रियों को सार्वजनिक रूप से अपनी बात कहने की आजादी नहीं थी।

धीरे-धीरे शिक्षित स्त्रियों ने इस बंधन को तोड़ा सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उन्होंने भी अपने विचार सार्वजनिक तौर पर रखने आरंभ कर दिए। इस समय यह छोटी सी कसरत भी पितृसत्ता के लिए बड़ी चुनौती थी क्योंकि पितृसत्तात्मक परंपरा के अनुसार स्त्रियों को पवित्र, शांति और आज्ञाकारी होना होता था। सन् 1570-1700 के बीच नारीवादी, प्रबुद्ध स्त्रियों के उदाहरण दे-देकर सिद्ध करने की कोशिश कर रहे थे कि यदि स्त्रियों को अनुकूल अवसर मिले तो वे पुरूषों के समान समाज में सकारात्मक योगदान दे सकती हैं। अपने लेखों में इन नारीवादियों ने पुरूषों के स्वयं को श्रेष्ठ बताने वाले तर्कों का सहारा लेकर यह सिद्ध करने की कोशिश की कि इन तर्कों के अनुसार स्त्री ईश्वर की पुरूष से अधिक परिष्कृत, सर्वोत्तम और आखिरी कृति है। 1642-60 के बीच क्वेकरस तथा

अन्य सुधारवादियों ने इस विचार को .प्रचारित किया कि ईश्वर के समक्ष सभी समान हैं। अब स्त्रियां भी धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने लगीं। धर्मग्रंथों से रोल मॉडल और नायिकाएं भी ढूंढी गई। स्त्री की 'पापी' मानसिकता को प्रचारित करने वाली धारणा के विरोध में **ओल्ड टैस्टामेंट** (पूर्व विधान) से साराह, रैबेका आदि तथा **न्यू टैस्टामेंट** (नव विधान) से एलीजाबेथ, वरजिन मेरी के उदाहरण दिए जाने लगे। कैथोलिक मान्यता- पत्नी की पति की आज्ञापालन की भूमिका की जगह, प्रोटेस्टेंट मान्यता- पति-पत्नी में आपसी सहयोग और सौहार्द पर जोर दिया जाने लगा। पति को अधिक मजबूत होने की वजह से गृहस्थी की गाड़ी का अधिक भार वहन करने को कहा गया। सत्रहवीं सदी के अंतिम चरणों में, नारीवादी स्त्री लेखिकाओं ने सार्वजनिक रूप से आपसी सहयोग और सौहार्द का परिचय दिया तथा स्त्री संबंधी विभिन्न मुद्दों पर पुरूषों के साथ बढ़-चढ़ कर बहस में हिस्सा लिया। लेकिन इस काल में नारीवादी लड़ाई सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र तक ही सीमित रही।

राजनीति के क्षेत्र में स्त्रियों के समान अधिकारों को उल्लेख हमें सर्वप्रथम सन् 1792 में मेरी वौलस्टोनक्राफ्ट की पुस्तक **विंडिकेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ वीमेन** में मिलता है। शिक्षा के माध्यम से मेरी स्त्रियों के नैतिक और बौद्धिक चरित्र को ऊपर उठाना चाहती थीं। लड़कियों की स्वतंत्रता और गरिमा को वह महत्वपूर्ण मानती थीं। उन्होंने यह संभावना .प्रस्तुत की कि उच्च शिक्षा ग्रहण कर लड़कियां डॉक्टर और व्यापारी बनने के अतिरिक्त राजनीति में भी प्रवेश कर सकती हैं। उनके बाद हैरियट टेलर और जॉन स्टुअर्ट मिल ने इस लड़ाई को आगे बढ़ाया। सन् 1869 में जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक, **दि सब्जैक्शन ऑफ वीमेन** में स्त्री के ऐतिहासिक दमन के लिए कानूनी व्यवस्था को जिम्मेदार माना। उनके अनुसार पुरूष प्रधान कानूनी-व्यवस्था की वजह से एक लिंग का दूसरे पर वर्चस्व होता रहा है। यह कानूनी वर्चस्व मिल के अनुसार, इंसान को सुधारने में मुख्य बाधा थी। इस कानूनी वर्चस्व का आधार पुरूष का अधिक शक्तिशाली होना था। मिल ने इसको हास्यास्पद तर्क माना। उनका मानना था कि वैधानिक असंतुलन को स्त्री-पुरूष दोनों के लिए समान अधिकारों का प्रावधान कर सुधारा जा सकता है। मिल ने अविवाहित और अकेली स्त्रियों की स्थिति पर विचार नहीं रखे। मिल का मानना था कि अधिकतर स्त्रियां विवाह करेंगी। उनकी स्थिति में सुधार ही मिल का उद्देश्य था। इस बीच विवाहित अंग्रेज स्त्रियों को संपत्ति का अधिकार दिलाने के लिए जनमत तैयार किया गया। सन् 1882 तक 18-19 कानून पास किए गए, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण 1870 का कानून था। इस कानून ने विवाहित स्त्री को स्वयं अर्जित की गई संपत्ति पर स्वामित्व तथा निजी संपत्ति का उत्तराधिकार प्रदान किया। विवाहित स्त्री की अन्य सभी प्रकार की संपत्ति पर अभी भी पति का अधिकार रहता था।

सन् 1848 में अमरीका में सेनेका फाल्स में एक मीटिंग में लगभग तीन सौ लोगों ने मांग की कि लिंग आधारित भेदभाव समाप्त होना चाहिए। यहां उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह मांग करने वाले तीन सौ लोगों में चालीस स्त्रियां भी शामिल थीं। इसमें स्त्री और काले लोगों के अधिकारों के सवाल साथ-साथ उठाए गए। एलोजाबेथ केडी स्टैनटन तथा लूक्रिषिया मोट इसकी मुख्य संगठनकर्ताओं में थीं। इन नारीवादियों ने अमेरीकी स्त्री को संपत्ति का अधिकार, तलाक कानून में सुधार तथा वोट देने का अधिकार की मांग की। तीन दशकों के अंतराल में, विवाह कानून, संपत्ति का अधिकार कानून, बच्चों के संरक्षण का अधिकार, शिक्षा और रोजगार की सुविधाएँ प्राप्त करने में ये नारीवादी सफल हुए, परंतु वोट देने का अधिकार उन्नीसवीं सदीं के अंत तक नहीं मिला। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में ही अमरीका और यूरोप के विभिन्न देशों में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार मिल पाया।

इस दौर के नारीवादी संघर्षों पर जब हम एक नजर डालते हैं तो हमें मध्यवर्गीय स्त्रियों और निम्न वर्ग की स्त्रियों के संघर्षों में एक अंतर स्पष्ट पड़ता है। मध्यवर्गीय स्त्रियों के संघर्षों का दायरा अपने साथ होने वाले भेदभावों को दूर करने तक सीमित था जबकि निम्नवर्गीय मजदूर स्त्री, पुरूष मजदूर के साथ मिलकर मजदूरी की दर सुधारने, काम के घंटे कम करने, अवकाश की सुविधा आवास और स्वास्थ्य सेवाओं का प्रावधान करने काम की परिस्थितियाँ सुधारने आदि के लिए संघर्ष कर रही थीं। स्त्री होने के कारण मिलने वाला दोयम दर्जा अभी तक उसके लिए संघर्ष का मुद्दा नहीं बन पाया था।

नारीवाद की दूसरी लहर सत्तर के दशक में आई। अमरीका में जब समान रोजगार अवसर आयोग ने लिंग आधारित भेदभाव को गंभीरता से नहीं लिया तो सन् 1966 में बैटी फीडन ने राष्ट्रीय महिला संगठन बनाया। साठ के दशक में ही अमरीका में नागरिक अधिकारों के लिए तथा वियतनाम युद्ध के विरोध में विद्यार्थियों के आंदोलन हुए। इन आंदोलनों में भाग लेने वाली छात्राओं ने देखा कि आंदोलनकारियों की मानसिकता में आंदोलन के दौरान भी लिंग आधारित वर्चस्व बरकरार था। स्त्री आंदोलनकारियों को दोयम भूमिका ही दी जाती थी। इस स्थिति से निपटने के लिए पूरे अमरीका में कई छोटे-छोटे स्त्री संगठन उभरे। इनका उद्देश्य स्त्री के दमन के लिए जिम्मेदार संस्थाओं, रीतिरिवाजों, पहनावों आदि के विषय में जनजागरण करना था। सितंबर 1968 में इन संगठनों ने मिलकर अमरीकी सुंदरी प्रतियोगिता के विरोध में प्रदर्शन आयोजित किए।

साठ के दशक में इंगलैंड में मजदूर औरतें समान काम के लिए समान मजदूरी की मांग करते हुए हड़ताल पर चली गईं। ये वामपंथी राजनीति में विश्वास करती थीं। इन्होंने नारीवाद को मार्क्सवादी विचारधारा के फेम में बाँधने की कोशिश की। सन् 1970 में रस्किन कॉलेज, आक्सफोर्ड में स्त्री स्वतंत्रता से संबंधित एक कॉनफ्रेंस हुई जिसमें पांच सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें चार मांगे रखी गईं। ये थीं- समान वेतन, समान शिक्षा तथा समान रोजगार के अवसर, चौबीस घंटे की बालवाड़ी (नर्सरी), मुफ्त गर्भ निरोध सुविधाएं और मांग करने पर गर्भपात की सुविधा। इन नारीवादियों ने स्त्री को एक दमित समूह के रूप में देखा। इस दमन का मुख्य केन्द्र स्त्री का शरीर और उसकी लैंगिकता को माना।

अश्वेत स्त्रियों, पुरूषों के शोषण तथा उनकी पारंपरिक अर्थव्यवस्था के दमन पर श्वेत अर्थव्यवस्था की जड़ें मजबूत हुई थीं। अश्वेत स्त्रियों को उपरोक्त मांगों और आंदोलनों में अपनी आवाज तथा अपनी आजादी की ध्वनि प्रतिध्वनित होती नहीं सुनाई दी। अत: अश्वेत स्त्रियों में भी अपने अलग संगठन बनाए। ये अश्वेत संगठन रंग और लिंग के आधार पर अश्वेत स्त्रियों के शोषण और दमन के प्रश्नों को उठाते रहे हैं। इंगलैंड में स्त्री आंदोलन वर्गों के आधार पर बंटा रहा। मजदूर स्त्रियां नारीवादी संगठनों का हिस्सा नहीं बन सकीं। अश्वेत नारीवादियों की भांति ही समलिंगीय नारीवादी भी बहुत सक्रिय रहे। उन्हें भी आम नारीवादी संगठनों के माध्यम से अपनी समस्याओं के साथ न्याय होने की उम्मीद नहीं दिखाई दी। इन सभी नारीवादी संगठनों ने स्त्री के मुद्दों को सिद्धांतों की परिधि में बांधने की कोशिश की। इस दौरान विकसित हुए सिद्धांतों में मुख्य रेडिकल नारीवाद तथा समाजवादी नारीवाद हैं।

नारीवादी विचारों के प्रचार-प्रसार के साथ श्वेत मध्यवर्गीय नारीवादी विचारधारा की सीमाएं भी आंकी जाने लगी हैं। इसमें गरीब, अश्वेत तथा विकलांग स्त्री की समस्याएं प्रतिबिंबित नहीं होती। पश्चिम में मध्यवर्गीय श्वेत स्त्री पूंजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था से लाभान्वित हुई। वहीं पर

आदिवासी, अश्वेत तथा तीसरी दुनिया की स्त्री इस व्यवस्था से शोषित, विस्थापित और विशृंखलित हुई। श्वेत स्त्री शोषक की भूमिका में रही है तो अन्य शोषित की। आज भी यह वर्गभेद जारी है। पश्चिमी नारीवादी विचारधारा इस अंतर्विरोध को नहीं तोड़ पाई है, और न ही उसने इसके विरोध जोरदार आवाज उठाई है। समाजशास्त्री प्रो० मनोरमा सवूर ने अपने लेख, **'वूमेन लिबरेशन एंड प्रोडक्टिव एक्टिविटी'** में आदिवासी, अश्वेत, तीसरी दुनिया के देशों की स्त्रियों को पितृसत्ता के शिकंजे से आजाद होने के लिए, अपने परिवेश के अनुसार विचारधारा का विकास करने की वकालत की है। उनका कहना है कि पूंजीवादी देशों के पूंजीपति तीसरी दुनिया के मजदूरों तथा स्त्री मजदूरों के शोषण से अर्जित पूंजी का अदना सा हिस्सा अपने देश के सफेद पुरूष मजदूर को बाँटते रहे हैं।

विकसित और विकासशील-दोनों देशों में स्त्री मजदूर को पुरूष मजदूर से कम मजदूरी दी जाती है। दूसरा, स्त्री मजदूर को मुख्य उत्पादक भी नहीं माना जाता। उसे एक संरक्षित मानव संसाधन के रूप में देखा जाता है, जिसका उपयोग या तो उत्पादन बढाने के लिए किया जाता है या युद्ध जैसी असामान्य स्थिति में जब पुरूष लड़ाई के मैदान में तैनात रहते हैं तो स्त्री को आरक्षित संसाधन के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। इस प्रकार श्रम बाजार में स्त्री **सेफ्टी वॉल्व** का काम करती है। शिक्षा व्यवस्था में पक्षपात तथा अन्य उपायों से स्त्री के काम को आर्थिक और तकनीकी दोनों दृष्टियों से मामूली आंका जाता है। लिंग के अनुसार कामों का विभाजन करके भी इस पक्षपातपूर्ण आकलन को बढ़ावा दिया जाता है। साम्राज्यवाद के उत्कर्ष के दौर में पूंजीवदियों ने उपनिवेशों में मजदूरी की दर नीची रखने के लिए स्त्री मजदूरों का इस्तेमाल किया। भारत में पूरे परिवार को ही ठेकेदारों के द्वारा चाय बागानों में काम पर लगाया गया। इस प्रकार स्त्रियों को पुरूष की जगह पूरे परिवार को ही पेट पालने के लिए मजदूरी करने को मजबूर होना पड़ा।

पारंपरिक अफ्रीकी समाजों में स्त्रियाँ खेती करती थीं और पुरूष शिकार किया करते थे। पुरूषों को सस्ती मजदूरी में खान, बागानों या उद्योगों में काम पर लगा दिया गया। चूंकि स्त्रियां खेती की सारी जिम्मदारी स्वयं उठाती थीं और खेती से पूरे परिवार का पेट पाल लेती थीं, इसलिए पुरूषों को पूरे परिवार के भरण-पोषण लायक मजदूरी नही दी गई। विक्टोरिया युग के मूल्यों के विपरीत यहां साम्राज्यवादियों ने परिवार तोड़े और पति-पत्नी को अलग-अलग रहने पर मजबूर किया। कहीं-कहीं पर पुरूषों को बाजार के लिए कृषि करने का प्रशिक्षण दिया गया ताकि पूंजीपतियां को सस्ता कच्चा माल मिलता रहे। चूंकि ये पुरूष मुद्राबाजार में सक्रिय भूमिका निभाने लगे, इनकी आर्थिक हालत झूम खेती करती पत्नी से अच्छी हो गई। इस प्रकार पति-पत्नी के संबंधों में विषमता आने लगी। पारंपरिक अफ्रीकी समाजों में भूमि का उत्तराधिकार मां से मिलता था। पुरूषों का भूमि पर आधिपत्य जमाने के लिए साम्राज्यवादियों ने कानून बनाकर इस प्रकार की भूमि का परिसीमन कर दिया। खेती के काम पर नहीं ली जाने वाली भूमि को कानूनी तौर पर स्त्रियों के कब्जे से बाहर कर दिया। यह परती भूमि, पुरूष पूंजीपतियों को रबर की खेती करने के लिए दे दी गई।

लैंगिक असमानता का भारतीय संदर्भ

भारत में भी स्त्री विमर्श अधिकतर आम मध्यवर्गीय सवर्ण स्त्री के सवालों से ही जूझता रहा है। यह दलित स्त्री के दमन-शोषण के प्रश्नों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक आधार का समर्थन तो नहीं करता, परंतु इस आधार की वजह से, अनरत चल रहे दलित स्त्री की प्रताड़ना का उतना मुखर विरोध भी नहीं होता जितना दलित स्त्री के दमन के आधार को ध्वस्त करने के लिए

आवश्यक है। उतना मुखर विरोध शायद संभव भी नहीं हैं कारण दलित स्त्री के शोषण के आधार को ध्वस्त करने का अर्थ है मध्यवर्गीय सवर्ण नारीवादी की संपन्नता की नींव पर कुठाराघात करना। दलित स्त्री के सवालों को अपनाने के लिए नारी आंदोलनों को अपने कार्यक्षेत्र तथा सैद्धांतिक प्रतिबद्धता में परिवर्तन करना होगा। भारत में यह प्रश्न नारी और दलित दोनों के मुद्दों के संदर्भ में उठा है। क्या दलित स्त्री की स्थिति गैर-दलित स्त्री से भिन्न है? इस प्रश्न के उत्तर में मतांतर हैं। एक मत के अनुसार **मनुस्मृति** के अनुसार स्त्री और दलित की स्थिति एक ही है अत: दोनों को एकजुट होकर अपने शोषण-दमन के विरूद्ध संघर्ष करना चाहिए। इस मत के समर्थकों का कहना है कि सीता, और द्रोपदी को रानी की हैसियत होने के बावजूद पितृसत्तात्मक दमन और प्रताड़ना भुगतनी पड़ी।

इससे भिन्न मतावलंबियों में प्रमुख रूप से एम. प्रभावती, प्रभा मुथल, सुशीला मूले, आशा थोराट, अरूणा लौखाडे, कौशल्या नांडेश्वर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनका तर्क है कि देश के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में दलित और सवर्ण स्त्रियों को अलग-अलग प्रकार की बाधाओं से गुजरना पड़ता है। दलित स्त्री, समाज के आखिरी हाशिए पर है। परिवार के भीतर दोनों के दमन-शोषण में समानता हो सकती है, लेकिन दलित स्त्री को कमजोर सामाजिक और आर्थिक स्थिति की वजह से भी दमित होना पड़ता है। सवर्ण औरतें भी दलित और गरीब होने की वजह से उसको प्रताड़ित करने के साथ-साथ उसका शोषण करती हैं। दूसरा, सवर्ण स्त्री शिक्षा तथा अन्य सामाजिक क्षेत्रों में दलित स्त्री से बहुत आगे है। एम. प्रभावती का आरोप है कि स्त्री स्वतंत्रता, समानता आंदोलन सवर्ण स्त्रियों के नेतृत्व में चले हैं। उन्होंने सवर्ण और मध्यवर्गीय स्त्रियों के मुद्दों को ही प्रमुखता से लिया है। दलित स्त्रियों को अपने साथ जोड़ने की जागरूक कोशिश इन स्त्री आंदोलनकारियों ने नहीं की है। सवर्ण स्त्रियों ने दलित स्त्री के साथ कभी सहानुभूति नहीं रखी है। इनके द्वारा आयोजित आंदोलनों में न तो दलित स्त्री को और न उनके सवालों को शामिल किया गया है। इसलिए, इस मत के समर्थकों का मानना है कि दलित स्त्री के उत्थान के लिए पृथक् आंदोलन होने चाहिए। प्रभावती का प्रश्न है कि यदि सवर्ण स्त्री और दलित स्त्री की स्थिति समान है तो क्यों नहीं सवर्ण स्त्री दलित स्त्री की सामाजिक प्रताड़ना का विरोध करती हैं? इसके विपरीत अकसर सवर्ण स्त्री दलित और दलित स्त्री को प्रताड़ित करती है। महात्मा गाँधी ने भी बार-बार सवर्ण स्त्रियों को घर में छुआछूत न बरतने तथा घर की जूठन दलितों को नहीं देने का अनुरोध किया। परंतु इसका प्रभाव नहीं के बराबर हुआ। यह आज भी बड़े-बड़े शहरों के मध्यवर्गीय घरों में जाकर देखा जा सकता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय या पश्चिमी नारीवादी विमर्श से दलित और शोषित स्त्रियों को कोई प्रेरणा नहीं मिली है। वर्ग आधारित शोषण से जोड़ने की प्रेरणा तथा नारीवादी विमर्श के भीतर अपने अनुकूल नारीवादी विचारधारा खोजने या प्रतिपादित करने की प्रक्रिया की प्रेरणा तो उसे नारीवादी आंदोलन से ही मिला है। आवश्यकता है इस आंदोलन की विचारधाराओं में नए वर्गों, वर्णों, समाजों, क्षेत्रों, धर्मों, संप्रदायों, विकलांगों की विशेष परिस्थितियों के अनुसार नए आयाम जोड़े जाएं।

लैंगिक विभेद में पितृसत्ता की भूमिका

विकास कुमार

शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, विनोबा भावे विश्विद्यालय, हजारीबाग, झारखण्ड

महिला आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण पहलू विश्लेषण के लिए ऐसे उपकरणों और सिद्धान्तों की खोज रहा है जिसके जरिए सामान्य तौर पर जेंडर विभेदीकरण को और विशेषकर महिलाओं के अधीनीकरण को समझा जा सके। चूंकि नारीवादी अध्ययन एक नया क्षेत्र है इसलिए नारीवादी विमर्श का लगभग पहला काम यहीं था कि महिलाओं को अधीन करने वाली जटिल संरचना को पहचाना जाए और उसे एक उचित नाम दिया जाए। इस प्रकार, बीसवीं सदी के आठवें दशक के मध्य से नारीवादी विशेषज्ञों ने पितृसत्ता शब्द का प्रयोग और उसे विशिष्ट अर्थ में परिभाषित करना शुरू किया। अब इस शब्द को समाज विज्ञान में इसी परिभाषा के साथ जाना जाता है और अध्ययन में भी यह इसी रूप में प्रयुक्त हुआ है।

पितृसत्ता, जिसके जरिए अब संस्थाओं के एक खास समूह को पहचाना जाता है, को 'सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में परिभाज़ित किया जाता है जिसमें पुरूषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है, और वे उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं। पितृसत्ता को एक व्यवस्था के रूप में देखना बेहद महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पुरूष और स्त्री के बीच शक्ति एवं हैसियत में असमानता के लिए जैविक निर्धारणवाद के मत को खारिज करने में सहायता मिलती है और साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि स्त्री या पुरूष का वर्चस्व कोई व्यक्तिगत घटना नहीं है बल्कि यह एक व्यापक संरचना का अंग है। पितृसत्ता की सबसे उपयोगी परिभाषा गर्डा लर्नर ने दी है : उनके अनुसार, पितृसत्ता, ''परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरूषों के वर्चस्व की अभिव्यक्ति और संस्थागतकरण तथा सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरूषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है। इसका अभिप्राय है कि पुरूषों का समाज के सभी महत्वपूर्ण सत्ता प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रहता है और महिलाएं ऐसी सत्ता तक पहुंच से वंचित रहती हैं।'' वह यह भी कहती हैं कि इसका यह अर्थ नहीं है कि "महिलाएं या तो पूरी तरह शक्तिहीन है या पूरी तरह अधिकारों, प्रभाव और संसाधनों से वंचित हैं।" इसका यह अर्थ भी नहीं है कि प्रत्येक पुरूष सदा वर्चस्व की, और प्रत्येक स्त्री सदा अधीनता की स्थिति में ही रहती है बल्कि महत्वपूर्ण बात यह है कि इस व्यवस्था, जिसे हमने पितृसत्ता का नाम दिया है, के तहत यह विचारधारा प्रभावी रहती है कि पुरूष स्त्रियों से अधिक श्रेष्ठ हैं, तथा महिलाओं पर पुरूषों का नियंत्रण है और होना चाहिए और महिलाओं को पुरूषों की संपत्ति के रूप में ही देखा जाए।

गर्डा लर्नर के अनुसार, नारीवादी अध्ययन के सामने सबसे बड़ी चुनौती उन विभिन्न रूपों और परिस्थितियों की पहचान करना है जिनमें विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न कालों में पितृसत्ता उभरती है, और वे कौन सी विशिष्टताएं हैं जो पितृसत्तात्मक संरचनाओं को विशिष्ट स्वरूप देती हैं। मिसाल के

तौर पर, पितृसत्ता के अनुभव आदिवासी महिलाओं के मामले में वैसे ही नहीं होते हैं जैसे कि बेहद विभेदीकृत जाति समाज में होते हैं। इस व्यवस्था का स्वरूप आज वैसा ही नहीं है जैसा कि उन्नीसवीं सदी में था और यह असम और मिजोरम में केरल से भिन्न है। इसलिए, अब कुछ विद्वान् पितृसत्ताएं शब्द का प्रयोग करने लगे हैं जिससे पितृसत्तात्मक व्यवहार की विभिन्नताओं और उसके पूरी रेंज को समाहित किया जा सके। पितृसत्ताओं को इस प्रकार परिभाषित करने की पद्धति का एक उल्लेखनीय पहलू यह है कि इसमें हम पितृसत्ता तथा वर्ग, जाति, राज्य तथा विचारधारा (चाहे धार्मिक हों या धर्मनिरपेक्ष) जैसी अन्य संस्थाओं के बीच संबंध को देख सकते हैं। साथ ही हम इस तथ्य को भी समझ सकते हैं कि, क्योंकि पितृसत्ता के निर्माण का इतिहास के साथ गहरा संबंध है और क्योंकि यह स्थिर नहीं रही है बल्कि बदलती रही है, इसलिए समानता पर आधारित एक समतामूलक समाज के निर्माण के प्रति .प्रतिबद्ध स्त्रियों-पुरूषों के आंदोलनों के द्वारा इसका अंत भी किया जा सकता है जो पितृसत्ता को समझने के सिलसिले में महत्वपूर्ण हैं जैसे कि जब हम पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों की पुरूषों द्वारा अधीनता की बात करते हैं तो इसका सही मतलब क्या है? स्त्रियों पर उनका नियंत्रण किस प्रकार संसाधनों पर नियंत्रण से संबंद्ध है, बल्कि उन्हें स्त्रियों पर वर्चस्व की आवश्यकता ही क्यों पड़ती है ?

पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों के जीवन के जिन पहलूओं पर पुरूषों का नियंत्रण रहता है उनमें सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उनकी प्रजनन क्षमता होती है। गर्डा लर्नर के अनुसार, महिलाओं के अधीनीकरण की तह में यह सबसे प्रमुख कारण है। स्त्री की प्रजनन क्षमता को शुरू-शुरू में उस कबीले का संसाधन माना जाता था जिससे वह स्त्री संबद्ध होती थी। बाद में जब अभिजात शासक वर्गों का उदय हुआ तो यह शासक समूह के वंश की संपत्ति बन गई। सघन कृषि के विकास के साथ, मानव श्रम का शोषण और महिलाओं का यौन नियंत्रण एक-दूसरे से नजदीकी से जुड़ गए। इस तरह स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण की आवश्यकता पैदा हुई और यह नियंत्रण निजी संपत्ति के उदय और वर्ग आधारित शोषण के विकास के साथ तीव्रतर होता गया। पितृवंशात्मक उत्तराधिकार में संपत्ति का हस्तांतरण पिता से पुत्र यानी सिर्फ पुरूषों में बीच ही होता है। इस उत्तराधिकार में एक स्त्री की यौन सेवाओं का सिर्फ एक व्यक्ति के लिए उपलब्ध होना आवश्यक होता है। यह सेवा सिर्फ पति के उपभोग तक ही सीमित रहती है ताकि सुनिश्चित किया जा सके कि जिसे संपत्ति सौंपी जानी है वह जीववैज्ञानिक दृष्टि से वाकई उसी पुरूष की संतान है। वर्ग समाज की इस जरूरत की पूर्ति के लिए महिलाओं की यौनिकता को विवाह संबंध के भीतर तक ही सीमित रखने के लिए 'कानूनी एवं नैतिक प्रावधानों' की आवश्यकता होती है। पितृसत्ता मूल रूप से वर्ग और राज्य दोनों से संबंधित है। इतिहास के सबसे प्रारंभिक राज्य भी पितृसत्ता के रूप में ही संगठित थे और पितृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था को बनाए रखने के प्रति वह काफी सजग थे। लर्नर के अनुसार, स्त्री की यौन अधीनता, "सबसे प्रारंभिक कानूनी व्यवस्थाओं में भी मौजूद थी और उसे राज्य की संपूर्ण शक्ति के साथ कार्यान्वित किया जाता था।"

पितृसत्ता के तहत स्त्री की यौनिकता पर नियंत्रण के अलावा उसकी पुरूषों के तहत अधीनता से पुरूषों को उसकी उत्पादक या श्रम शक्ति पर नियंत्रण की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की उत्पादकता पर पुरूषों का नियंत्रण रहता है और यह फैसला भी उन्हीं के हाथ में रहता है कि वे घर के बाहर जाकर काम करेंगी या नहीं। स्त्रियों के श्रम पर नियंत्रण का अर्थ है कि पुरूष स्त्रियों के अधीनीकरण से आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं। दोहरे नियंत्रण, यानि, स्त्री

की यौनिकता और श्रम पर नियंत्रण, के चलते उनकी आने-जाने की आजादी बुरी तरह सीमित हो जाती है। इसके लिए ऐसी परंपराओं और रीति-रिवाजों का सहारा लिया जाता है जो उसे घर की चारदीवारी या अन्य परिभाषित दायरों में बांध देते हैं। नियंत्रणों की पूरी संरचना, महिलाओं को उत्पादक संसाधनों तक सीधी पहुंच से वंचित रखने और उन्हें पुरूषों पर निर्भर बना देने के जरिए सुगम हो जाती है।

पितृसत्ता के समझने और समाज में स्त्रियों पर पुरूषों का वर्चस्व किस प्रकार काम करता है इसको समझने के लिए पैतृकवाद और पैतृकवादी आधिपत्य की महत्वपूर्ण अवधारणाएं भी मदद करती है। एक प्रभुत्वशाली समूह और अधीन समूह (जिसे कमजोर समझा जाता है) के बीच संबंध को पैतृकवाद तक कहा जाता है, जब वर्चस्व को परस्पर दायित्वों और एक-दूसरे के अधिकारों के माध्यम से मंद कर दिया जाता है। अधीन समूह अपनी अधीनता के बदलने में पितृवत् संरक्षण और अवैतनिक श्रम के बदले में भरण पोषण प्राप्त करता है। अपने ऐतिहासिक उद्गम में यह सिद्धांत पितृसत्ता के तहत विकसित हुए पारिवारिक संबंधों से पैदा हुआ है जिसमें पिता का अपने परिवार के सभी सदस्यों पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। बदले में उसका दायित्व होता है कि वह उन्हें आर्थिक सहायता और संरक्षण मुहैया कराए। इसके बाद पैतृकवाद के बने रहने के लिए यह बेहद जरूरी है कि अधीन सदस्यों को यकीन दिलाया जाए कि उनका संरक्षक ही एकमात्र व्यक्ति है जो उसकी जरूरतों की पूर्ति कर सकता है। पैतृकवाद का सबसे उल्लेखनीय पहलू यह है कि जहां एक तरफ यह व्यवस्था पुरूष आधिपत्य के सबसे कठोर बिंदुओं को नर्म बना देता है वहीं अधीनों की इस क्षमता को भी कमजोर कर देता है कि वह अपनी अधीनता को राजनीतिक रूप में देख सकें। इसके साथ ही यह विचारधारा वर्चस्वशाली व्यक्ति को यह संतुष्टि देने लगती है कि वह अपने से निम्न और कमजोर लोगों के हितों को पितृवत् संरक्षण (न कि वर्चस्व) दे रहा है।

महिलाओं की स्थिति को समझने के लिहाज से पैतृकवाद का बहुत अधिक महत्व है क्योंकि उनकी अधीनता मूलत: परिवार की संरचना के भीतर पैतृकवादी वर्चस्व के रूप में ही अभिव्यक्त होती है। जिन महिलाओं पर धर्म, माइथोलॉजी और कानून के सांस्कृतिक मॉडलों का पूरा प्रभाव रहता है उन महिलाओं में पैतृकवाद अत्यंत सफल रहा है और स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद के विचारकों तथा नीति निर्माताओं ने इसे पुनर्स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परिणामस्वरूप स्त्रियों की स्थिति में मामूली सुधार तो हुए लेकिन परिवार और व्यापक समाज में स्त्री-पुरूष के बीच सत्ता संबंधों में कोई बदलाव नहीं हुआ।

पैतृकवाद लिंग आधारित श्रम विभाजन के साथ-साथ लिंग पर आधारित सत्ता संबंधों को भी मजबूत करता है क्योंकि यह मूल रूप से इस विचार पर आधारित है कि धारीरिक असमानताओं के कारण महिलाओं को पुरूषों से भिन्न क्षेत्रों में काम करना चाहिए। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पैतृकवाद के चलते ही हम यह सोचने लगते हैं कि पुरूषों और स्त्रियों की स्थिति में जो फर्क है वह महज जीव वैज्ञानिक है और उसका भौतिक और सामाजिक संरचानाओं की ऐसी किसी व्यवस्था से कोई संबंध नहीं है जिसके आधार पर पुरूषों को स्त्रियों पर आधिपत्य स्थापित करने का अवसर मिलता है, यानी यह व्यवस्था बेहद कुशलतापूर्वक, पितृसत्ता को दृश्य से ओझल कर देती है और स्त्री-पुरूष कोई भी अपने जीवन में उसके प्रभाव को पहचान पाने में अक्षम हो जाते हैं। जब स्त्री और पुरूष स्त्रियों की अधीनता की अवस्था को 'प्राकृतिक' मानने लगते हैं और परिणामरूवरूप

अधीनता की स्थिति दिखना बंद कर देती है तभी पितृसत्ता की जड़ें पैठ जाती हैं और वह एक वास्तविकता और एक विचारधारा के रूप में स्थापित हो जाती है।

पितृसत्ता एक व्यवस्था के रूप में किस प्रकार से काम करती है इस बात को समझने के लिए विचारधारा को ठीक से समझना होगा। विचारधारा की यह अहमियत हमें गर्डा लर्नर द्वारा उठाए गए एक केंद्रीय मुद्दे की ओर ले जाती है : पितृसत्ता की व्यवस्था को सदियों तक अक्षुण्ण बनाए रखने में महिलाओं का सहयोग आवश्यक है। विचारधारा के तौर पर पितृसत्ता की व्यवस्था के दो पहलू है (एक, यह सहमति उत्पन्न करती है : महिलाएं पितृसत्ता के बने रहने में 'सहायता' देती हैं, क्योंकि वह पुरूष वर्चस्व की विचारधाराओं को आत्मसात करने के माध्यम से उसके प्रति अपनी सहमति प्रदान करती हैं। 'सहयोग' या 'मिलीभगत' को सहमति के रूप में कई तरीकों से प्राप्त किया जाता रहा है : उत्पादक संसाधनों तक पहुंच का न होना और परिवार के पुरूष मुखिया पर आर्थिक निर्भरता, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है (उच्च वर्गों की अनुकरणशील और निर्भर महिलाओं को मिलने वाले विशेषाधिकार और सम्मान (पुरूष श्रेष्ठता या भिन्न कार्यक्षेत्रों की विचारधाराएं (और पितृसत्ताओं और रीति-रिवाजों के विरोध की स्थिति में बल प्रयोग का भय वगैरह। इस प्रकार सहयोग या सहमति एक तरह से उगलवा ली जाती थी, न कि स्वेच्छा से दी जाती थी क्योंकि भौतिक संरचनाओं में महिलाओं को पराश्रित पात्र के रूप में बाहर निकाल दिया जाता था। इसलिए यह अवश्य समझा जाना चाहिए कि पितृसत्ता महज एक वैचारिक व्यवस्था नहीं है बल्कि उसका एक भौतिक आधार भी है। इस प्रकार, एक बार महिलाओं को वंचित कर देने से उनका सहयोग प्राप्त करना आसान हो जाता है क्योंकि जो व्यवस्था का अनुकरण करने लगती है उन्हें न केवल वर्गीय सुविधाएं मिलने लगती हैं बल्कि मान-सम्मान के तमगों से भी नवाजा जाता है। इस प्रकार जो स्त्रियां पितृसत्ता के कायदे-कानूनों और तौर-तरीकों को अपना सहयोग या सहमति नहीं देती हैं उन्हें पथभ्रष्ट करार दे दिया जाता है और उन्हें उनके पुरूषों के भौतिक संसाधनों के उपभोग से बेदखल किया जा सकता है। इस तरह सम्मानित और पथभ्रष्ट के बीच विभाजन महिलाओं को एक-दूसरे से काट देता है जबकि वह पहले से ही वर्गों के स्तर पर बंटी हुई भी हो सकती हैं। संपत्तिशाली वर्गों के स्त्री-पुरुषों के समूह में स्त्रियों को एक और तरीके से भी पुरस्कृत किया जाता है। पैतृकवादी वर्चस्व के तहत स्त्री और पुरूषों के परस्पर दायित्व इस प्रकार काम करते है कि स्त्री की यौन, आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक अधीनता के बदले में उन्हें निचले वर्गों के स्त्री और पुरूषों का शोषण करने की शक्ति में पुरूषों के साथ हिस्सेदारी मिल जाती है। एक विशेष वर्ग के स्त्री-पुरूषों का शोषण करने की शक्ति में पुरूषों के साथ हिस्सेदारी मिल जाती है। एक विशेष वर्ग के स्त्री-पुरूषों के साझा पहलुओं और उनके बीच मूलभूत असमानताओं को एक जेंडर वर्कशॉप में सरल लेकिन बेहद सटीक बिंबों के जरिए एक ग्रामीण महिला ने बड़े अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया था : ''हमारे परिवारों में पुरूष सूर्य की तरह हैं, उनका प्रकाश उनका अपना होता है क्योंकि वह संसाधनों के मालिक हैं, उनके पास आय है, घूमने-फिरने और अपने निर्णय लेने की आजादी है। महिलाएं उपग्रहों की तरह हैं जिनके पास अपना कोई प्रकाश नहीं होता। वह केवल तभी प्रकाशित होती हैं, जब सूर्य की रोशनी उन तक पहुंचती हैं।''

सार्क और भारत स्थापना एवं उद्देश्य

डॉ० अनुजा रानी गर्ग

एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, शहीद मंगल पाण्डे राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मेरठ

प्रस्तावना

विश्व के पटल पर अनेक प्रकार के क्षेत्रीय संगठन अमेरिकी और एशिया के देशों में हैं जो विभिन्न प्रकार की भूमिका का निर्वहन करते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त निर्मित क्षेत्रीय संगठनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वे संगठन जो सैनिक संधि की भांति हैं जैसे नोटो सीटो सेन्टो और वरसापैक्ट। द्वितीय वे संगठन जिनका उद्देश्य आर्थिक क्षेत्र में कार्य करना है ऐसे संगठनों में आसियान, सार्क, अरबलीग आदि प्रमुख हैं।

सार्क दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय सहयोग के लिए एक अनूठा संगठन माना जाता है। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दक्षिण एशिया का अत्यधिक महत्व है इसलिए सार्क एक ऐसे संगठन के रूप में स्वीकार किया जाता है जिसके द्वारा कृषि, स्वास्थ्य तथा सांस्कृतिक सहयोग और वर्तमान समय में आतंकवाद की समस्या मादक द्रव्यों की तस्करी तथा क्षेत्रीय विकास में महिलाओं की भूमिका जैसे मुद्दों के लिए एक वडा मंच बन गया है। इसे एक 'युगान्तकारी घटना' के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। दक्षिण एशियाई संघ के सदस्य देशों में लगभग 1.70 करोड लोग रहते हैं और यह विश्व का सबसे अधिक जनसंख्या वाला संघ है। ''अनेक सामान्य निर्धारक तत्वों, जो प्रायः क्षेत्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देते हैं भूगोल, जाति, भाषा, धर्म, सभ्यता, ऐतिहासिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक आर्थिक समानताएं विभिन्न देशों में जितना अधिक पारस्परिक मेलजोल और आदान-प्रदान होगा सामूहिक प्रयासों की सफलता की सम्भावनायें उतनी ही अधिक होंगी।''[1]

सार्क संगठन में भारत, बांग्लादेश, भूटान, नेपाल, मालद्वीप, श्रीलंका, पाकिस्तान, अफगानिस्तान विश्व की लगभग 22 प्रतिशत जनसंख्या को समेटने वाला सबसे बडा क्षेत्रीय संगठन है। भारत सार्क का एक महत्वपूर्ण सदस्य है।

भारत सदैव से अपने पडोसी देशों के साथ सहयोग पूर्ण सम्बन्ध चाहता रहा है। भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त एक ऐसी विदेशी नीति का अनुसरण करता रहा है जिसमें गुट निरपेक्षता, पंचशील, मैत्रीपूर्ण सह अस्तित्व की नीति, संयुक्त राष्ट्र संघ के समर्थन की नीति शामिल रही है। अपने इन्हीं उद्देश्यों को पूरा करने के लिए भारत ने अन्य 6 देशों के साथ मिलकर एक ऐसे संगठन के निर्माण के लिए प्रतिबद्धता जाहिर की जिससे पडोसी देशों के साथ क्षेत्रीय सहयोग को वढा सके तथा क्षेत्रीय समस्याओं से मिलकर लड सके।

क्षेत्रीय सहयोग के इन निर्धारक तत्वों का प्रयोग सभी काल में होता रहा है। लेकिन सार्क का विकास 80 के दशक में प्रारम्भ हुआ। सार्क की स्थापना का विचार बांग्लादेश के पूर्व राष्ट्रपति जिया

उर रहमान ने दिया। उन्होंने 1977 से 1980 के बीच भारत, पाकिस्तान, पेनाल और श्रीलंका की यात्रा की। इन्होंने सार्क का एक प्रारुप तैयार करवाया जिसमें सहयोग के लिए विभिन्न मुद्दे तय किये। सार्क देशों के विदेश मंत्रियों की वैठक 1983 में दिल्ली में हुई इसी बैठक में दक्षिण एशियाई क्षेत्रीय सहयोग की पहली औपचारिक घोषणा हुई। 7 दिसम्बर 1985 को बांग्लादेश की राजधानी ढाका में सात दक्षिण एशियाई देशों भारत, मालद्वीव, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान व बांग्लादेश ने सार्क के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किये। अप्रैल 2007 के 14 वें नई दिल्ली शिखर सम्मेलन में अफगानिस्तान आठवें सदस्य के रूप में शामिल हुआ।

सहयोग क्षेत्रों का निर्धारण

वदलते विश्व परिदृश्य में दक्षिण एशिया के राष्ट्र प्रमुखों ने विश्व के क्षेत्रीय संगठनों आसियान और यूरोपीय संघ की सफलता से कुछ सीखा। ''आज सार्क यदि आसियान, नाफ्टा से कुछ ग्रहण करने की इच्छा शक्ति दिखा सके तो क्षेत्र में भयंकर गरीबी, अशिक्षा, बीमारी के साथ-2 प्राकृतिक आपदा बाढ, अकाल, भूकम्प को साझी चुनौती मानकर साझा समाधान निकाला जा सकता है क्योंकि भूकम्प का ऐपीसेन्टर यदि पाकिस्तान में होता है भौतिक जान-माल की क्षति भारत में भी होती है। बारिस नेपाल में होती है तो वाढ उत्तरी बिहार में आती है। आतंकवाद से पाकिस्तान पीडित है तो उसका दुष्परिणाम भारत भोग रहा है। इसी प्रकार संसाधनों का भी पारस्परिक लाभ उठाया जा सकता है। जल विद्युत की अपार क्षमता नेपाल भूटान में है तो भारत बिजली का खरीददार हो सकता है। चाय पत्ती और कॉफी का अन्तराष्ट्रीय स्तर पर उचित कीमत भारत, श्रीलंका आपसी सहयोग से प्राप्त कर सकते हैं।''

सार्क बैठकों की उपलब्धियां

सार्क के शिखर सम्मेलन की बैठक प्रत्येक वर्ष वर्णानुक्रम में बारी-बारी से आयोजित की जाती है। इन्हीं बैठकों के माध्यम से सार्क देश आपसी सहयोग की नीतियां और कार्यक्रम बनाते हैं। इसकी उपयोगिता इसकी स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में ही नजर आने लगी। जब 1986 में बंग्लोर में भारत, पाक के शीर्ष नेताओं की औपचारिक मुलाकात में उस तनाव को कम किया जा सका जो दोनों देशों की सीमाओं पर था।

सार्क की बैठकों में कुछ देश प्र्यवेक्षक के रूप में भी भाग लेते हैं। जिनमें अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, चीन, यूरोपीय संघ, ईरान, जापान, मारीशस, म्यांमार, दक्षिण कोरिया हैं।

काठमांडू में आयोजित शिखर सम्मेलन में पाकिस्तान ने चीन को सार्क का पूर्ण सदस्य बनाने का प्रस्ताव किया किन्तु भारत की आपत्तियों के बाद इस प्रस्ताव को नकार दिया गया। सार्क राष्ट्रों ने एक पृथक संस्था के अधीन एक विकास कोष के साथ-साथ एक स्थाई सचिवालय के गठन पर भी सहमति जताई।

साफ्टा (SAFTA):- एक सीमा शुल्क संघ, साझा बाजार और आर्थिक संघ बनाने के प्रति पहले कदम के रूप में मुख्यतया साफ्टा की परिकल्पना की गई थी। पाकिस्तान स्थित इस्लामाबाद में आयोजित 12 वें शिखर सम्मेलन के दौरान 6 जनवरी 2004 को साफ्टा समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। यह 1 जनवरी 2006 को लागू हुआ। इस समझौते के तहत सार्क देशों को वर्ष 2009 तक अपने शुल्क को 20 प्रतिशत तक कम करना था। समझौता लागू होने के बाद साफ्टा मंत्रि परिषद की स्थापना की गई जिसमें सदस्य देशों के वाणिज्य मंत्री शामिल होते हैं।[2]

सार्क बीजा छूट योजनाः- ''इस योजना को 1992 में शुरू किया गया था चौथे शिखर सम्मेलन में नेताओं ने सार्क देशों के बीच परस्पर जन सम्पर्कों के महत्व को समझते हुए यह निर्णय लिया गया कि गणमान्य व्यक्तियों की कुछ श्रेणियां विशेष यात्रा दस्तावेज की पात्र हैं जो उन्हें क्षेत्र के भीतर बीजा की छूट देती हैं। वर्तमान में इस सूची में पात्र व्यक्तियों की 24 श्रेणियां हैं जिनमें शामिल हैं- उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, सांसद, वरिष्ठ अधिकारी, करोबारी, पत्रकार, खिलाडी आदि।''[3]

साउथ ईस्ट यूनिवर्सिटीः- भारत की पहल पर सार्क सरकारों के विचार जानने के लिए साउथ ईस्ट यूनिवर्सिटी हेतु एक संकल्प पत्र प्रस्तुत किया गया। सभी सदस्य देश नई दिल्ली में आयोजित 14 वें शिखर सम्मेलन में इस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किये। इस यूनिवर्सिटी को स्थापित करने की पूंजीगत लागत भारत सरकार प्रदान कर रही है। जबकि सभी सार्क सदस्य देश इसके संचालन में ध न मुहैया करायेंगे।

सार्क के उद्देश्यः-

1. दक्षिण एशियाई क्षेत्र की जनता के कल्याण एवं उनके जीवन स्तर में सुधार करना।
2. दक्षिण एशियाई देशों की सामूहिक आत्म निर्भरता में वृद्धि करना।
3. क्षेत्र के आर्थिक सामाजिक विकास में तेजी लाना।
4. आपसी विश्वास एवं सूझ-बूझ तथा एक दूसरे की समस्याओं का मूल्यांकन कराना।
5. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकि वैज्ञानिक क्षेत्र में सक्रिय सहयोग एवं पारस्परिक सहायता में वृद्धि करना।
6. अन्य विकास शील देशों के साथ सहयोग में वृद्धि करना।
7. सामान्य हित के मामलों पर अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर आपसी सहयोग मजबूत करना।

सार्क देशों में भारत द्वारा वैक्सीन कूटनीतिः- वैक्सीन कूटनीति वैश्विक स्वास्थ्य कूटनीति का हिस्सा है जिसमें भारत अपने पडोसी देशों के साथ सम्बन्धों को मजबूत करने के लिए उनको मुफ्त में कोरोना वैक्सीन दे रहा है। मालदीव, भूटान, बांग्लादेश और नेपाल में वैक्सीन पहुंचनी शुरु हो गई है। श्रीलंका और अफगानिस्तान में भी कोरोना वैक्सीन भेजने की प्रक्रिया शुरु की जा रही है।

भारत का क्षेत्रीय वैक्सीन कूटनीति का एकमात्र अपवाद पाकिस्तान होगा, जिसने एस्ट्रोजेनेका वैक्सीन के उपयोग को मंजूरी दे दी है किन्तु अभी तक न तो उसने इस सम्बन्ध में भारत से अनुरोध किया है और न ही चर्चा की है।

रणनीति विचारक व लेखक ब्रहमचेलानी लिखते हैं कि ''दुनिया के अधिकांश इलाके अभी भी कोरोना के चुंगल में फंसे हैं उससे बचने के लिए कई जगहों पर नये सिरे से लाक डाउन लगाये जा रहे हैं। इसके अलावा हर देश कोविड-19 आपदा से निपटने पर ध्यान केन्द्रित किये हुए है। ऐसे में कोरोना वैक्सीन की मांग आसमान छू रही है। इन हालात में इसकी गुंजाइस कम ही हो जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारी मात्रा में वैक्सीन उपलब्ध कराई जा सके। इस स्थिति के वावजूद भारत ने हाल में हिन्द महासागरीय देशों को लाखों की तादात में कोविड-19 वैक्सीन उपलब्ध कराई तो उसने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ध्यान आकर्षित किया। बीते हफ्ते म्यांमार से लेकर बांग्लादेश और मारीशस से लेकर सेशेल्स तक लाखों की तादात में भारत में निर्मित वैक्सीन पहुंचाई गई। पांच लाख वैक्सीन की खेप श्रीलंका भी पहुंची है। अन्य देशों को भी वैक्सीन भेजने की तैयारी है।''[5]

भारत पाकिस्तान तनाव और सार्क की भूमिकाः- सार्क एक ऐसा संगठन है जिसके सदस्य भारत और पाकिस्तान दोनों ही हैं। भारत और पाकिस्तान के बीच बढते हुए तनाव पर पडोसी देश

नेपाल ने कहा कि दोनों पक्ष संयम वरतें। ऐसे समय में नेपाल का यह कहना महत्वपूर्ण हो जाता है जब संघर्ष का शान्तिपूर्ण हल निकालने में सार्क बहुत सकारात्मक भूमिका नही निभा पा रहा है। आमतौर पर इसे क्षेत्रीय सहयोग को बढावा देने की दृष्टि से नाकाम साबित हो रहा है। जिसका कारण भारत और पाकिस्तान के हितों का आपसी टकराव है।

लम्बे समय से चले आ रहे भारत पाकिस्तान के बीच संघर्षों ने दक्षिण एशिया के सुरक्षा तन्त्र को प्रभावित किया है। सदस्य देशों के मध्य संघर्षों के निपटारे में किसी तरह की कोई भूमिका निभाने से कोसों दूर यह संगठन उनके बीच संकट के समय दूरी बनाता रहा है, इतना ही नही सार्क चार्टर द्विपक्षीय मामलों पर चर्चा किये जाने पर रोक लगाता है। श्रीलंका के प्रधानमंत्री रनिल बिक्रमसिंघे, मालद्वीव के विदेश मंत्री अब्दुल्ला साहिद, बांग्लादेश की प्रधानमंत्री शेख हसीना, और भूटान के विदेश मंत्रालय ने भी पुलवामा हमले की घोर निन्दा की। इन देशों के द्वारा इस कुकृत्य के खिलाफ दिये गये निंदनीय वयानों में एक सशक्त क्षेत्रीय पहलू मौजूद है। जो पूरे दक्षिण एशिया क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान संघर्ष के निहितार्थ पर जोर देते हुए बातचीत और कूटनीति के जरिये शान्तिपूर्ण समाध ान की जरूरत पर बल दिया गया है।

क्षेत्रीय शांति और सुरक्षा के लिए खतरा वन सकने बाले राष्ट्रों के संघर्षों पर व्यापक क्षेत्रीय भूमिका के बारे में सार्क द्वारा चेतावनी भरा वयान देने के अलावा और कोई भूमिका नही निभा पाना इस बात को काफी हद तक जाहिर कर देता है कि शांति को बढावा देने और संघर्ष को रोकने में लम्बा फासला तय करना होगा।

निष्कर्ष

आठ दक्षिण एशियाई देशों के संगठन सार्क की स्थापना से लेकर अब तक इसकी गतिबिधियों और क्षेत्रीय सहयोग में अभिबृद्धि करने की दिशा में भारत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस क्षेत्र के सर्वाधिक विशाल और शक्तिशाली देश भारत की भूमिका दक्षिण एशिया में सदैव सकारात्मक रही है। बहुत से विवादास्पद मुद्दों के बावजूद भारत ने दक्षेस के लगभग सभी देशों की मांग पर शान्ति व्यवस्था स्थापित करने के लिए वहां अपनी सेनायें तक भेजीं।

हम कह सकते हैं कि सार्क की ताकत इसकी क्षमता और इसका विकास इसके सदस्य देशों पर निर्भर है। यह 35 वर्ष पुराना संगठन दुर्भाग्यवश अभी भी लडखडा रहा है जबकि इसके समकालीन अधिकांश संगठन विकास की दौड में बने हुए हैं। सार्क में कई समस्यायें हैं और यह समस्यायें सदस्य देशों के दृष्टिकोण में अंतर से उत्पन्न हुई हैं। किन्तु हर समस्या का हल होता है जो सदस्यों द्वारा छोटे-छोटे मुद्दों पर लडने से बचते हुए आगे बढने के प्रति दृढ इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति में निहित है और इसके लिए प्रत्येक सदस्य की समान जिम्मेदारी बनती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. SAARC : Origin Growth, Patenteal and Achivement, Muhammad Jashad Iqbal. Page 128
2. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति भारत और सार्क, पृष्ठ 395, बी.एल.फाडिया ।
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तपन विरवाल, पृष्ठ 244 ।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, यू0आर0घई, पृष्ठ 171 ।
5. दैनिक जागरण, ब्रहमचेलानी।

झारखण्ड के सिमडेगा जिलान्तर्गत कंवर जनजाति के बीच समस्या एवं समाधान का एक क्षेत्र अध्ययन

(बड़कीविउरा गाँव के संदर्भ में)

स्मृति अनु

शोधछात्रा, स्नातकोत्तर मनोविज्ञान विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

सारांश

प्रस्तुत शोध **झारखण्ड के सिमडेगा जिलान्तर्गत कंवर जनजाति के बीच समस्या एवं समाधान का एक क्षेत्र अध्ययन बड़कीविउरा गाँव के संदर्भ में** है।

इस विषय के अध्ययन के लिए कुरडेग प्रखण्ड स्थित बड़की बिउरा पंचायत के अंतर्गत बड़की बिउरा गाँव का चयन किया गया है। इस क्षेत्र कार्य में 30 परिवारों का चयन सूचना संकलन करने के लिए किया गया है। प्रस्तुत शोध कार्य के लिए **साक्षात्कार, अनुसूची, अवलोकन तकनीकों** का उपयोग किया गया है।

इसके अलावा शोध कार्य के दौरान कभी-कभी अर्द्धसहभागी अवलोकन तथा समूह साक्षात्कार का भी प्रयोग किया गया है।

मैंने अपने शोध कार्य के अंतर्गत यह पाया कि कंवर जनजाति के लोगों के बीच अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं ये समस्याएँ आर्थिक क्षेत्र, धर्मिक क्षेत्र सामाजिक क्षेत्र, शैक्षणिक क्षेत्र, स्वास्थ्य क्षेत्र इत्यादि से संबंधित हैं। इन जनजातीय लोगों में जागरूकता की बहुत अधिक कमी हैं, इन लोगों में भूतप्रेत, अंधाविश्वास बहुत अधिक व्याप्त हैं, जिसके कारण इन्हें कई सामाजिक, स्वास्थ्य समस्याओं का सामना करना पड़ रहा हैं, मैंने अपने शोध अध्ययन के दौरान यह पाया कि जब व्यक्ति की स्थिति बहुत अधिक खराब हो जाती तब जाकर ये आधुनिक चिकित्सा सुविधाओं का उपयोग करते हैं, यही कारण हैं, कि शिशुमृत्यू दर, बाल मृत्यूदर, महिला मृत्यु-दर अधिक पायी जाती हैं।

अत: यह कहा जा सकता हैं, कि इन लोगों को समस्याओं से निजात दिलाने के लिए केन्द्र सरकार द्वारा तथा राज्य सरकार द्वारा कारगर कदम उठाने का प्रयास किया गया हैं, इसके बावजूद भी वर्तमान समय में कंवर जनजाति के बीच अनेक समस्याएँ विद्यमान है।

झारखण्ड के सिमडेगा जिलान्तर्गत कंवर जनजाति के बीच समस्या एवं समाधान का एक क्षेत्र अध्ययन (बड़कीविउरा गाँव के संदर्भ में)

जिस प्रकार भारत देश अनेक समस्याओं से घिरा हुआ हैं, यहाँ की जनता अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करती आ रही हैं, उसी प्रकार हमारे शोध क्षेत्र, सिमडेगा जिला अंतर्गत बड़कीविउरा गाँव के, कंवर जनजाति के लोग भी समस्याओं से अछूते नहीं हैं इन लोगों को भी अनेक प्रकार के समस्याओं का सामना करना पड़ रहा हैं। अतः मैंने अपने शोध कार्य के अंतर्गत यह पाया कि, कंवर जनजाति के लोगों के बीच अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं ये समस्याएँ आर्थिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र सामाजिक क्षेत्र, शैक्षणिक क्षेत्र, स्वास्थ्य क्षेत्र इत्यादि से संबंधित हैं। ये जनजाति विकास की मुख्य धारा से अभी भी बहुत पीछे हैं, अर्थात कंवर जनजाति में विकास की गति बहुत धीमी हैं। इन जनजातिय लोगों में जागरूकता की बहुत अधिक कमी हैं, इन लोगों में भूतप्रेत, अंधविश्वास बहुत अधिक व्याप्त हैं, जिसके कारण इन्हें कई सामाजिक, स्वास्थ्य समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। मैंने अपने शोध अध्ययन के दौरान यह पाया कि परिवार के किसी भी सदस्य की तबियत खराब होने पर सबसे पहले यह इलाज के लिए मति-ओझा के पास जाते हैं, और जब व्यक्ति की स्थिति बहुत अधिक खराब हो जाती तब जाकर ये आधुनिक चिकित्सा सुविधाओं का उपयोग करते हैं, उस समय तक व्यक्ति की स्थिति बहुत अधिक खराब हो चुकी होती हैं, यही कारण हैं कि शिशु मृत्युदर, बाल मृत्युदर, महिला मृत्यूदर अधिक पाई जाती हैं, उसके अलावा, यहाँ की कंवर जनजातियों को अनेक प्रकार की आर्थिक धार्मिक, शैक्षणिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ रहा हैं।

शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए जागरूकता लाने के लिए केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाएँ जा रहे हैं, लेकिन फिर भी इसका समुचित प्रभाव इन लोगों पर अभी तक नही पड़ा हैं, ये लोग अभी भी अंधविश्वास में जीते हैं, इसके अलावा सरकार द्वारा कई प्रकार आर्थिक योजनाएँ, रोजगार कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं, फिर भी इनलोगों के बीच बेरोजगारी की समस्या व्याप्त हैं। अतः यह कहा जा सकता हैं, कि इन लोगों को समस्याओं से निजात दिलाने के लिए केन्द्र-सरकार द्वारा तथा राज्य सरकार द्वारा कारगर कदम उठाने का प्रयास किया गया हैं, इसके बावजूद भी वर्तमान समय में कंवर जनजाति के बीच अनेक समस्याएँ विद्यमान है। जो मुख्य रूप से निम्न हैं-

आर्थिक समस्याएँ

किसी भी समुदाय का आर्थिक उत्थान या पतन बहुत हद तक उसकी आर्थिक अर्थव्यवस्था पर निर्भर करता हैं इसी संदर्भ में मैंने भी अपने शोध में कंवर जनजाति की आर्थिक स्थिति, समस्याओं को जानने का प्रयास किया हैं, अतः सूचनादाताओं के सूचना के आधार पर हमें यह ज्ञात हुआ कि कंवर जनजाति की आर्थिक स्थिति किस प्रकार की हैं, तथा इससे संबंधित इन्हें किन किन समस्याएँ का सामना करना पड़ रहा है।

कृषि का पिछड़ापन- कंवर जनजाति के लोग जीविकोपार्जन के लिए मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर हैं मैंने अपने शोध कार्य करते हुए पाया कि कंवर जनजाति के अधिकांश परिवार कृषि कार्य

में संलग्न हैं। लेकिन यहाँ के कंवर जनजाति के लोग कृषि परंपरागत ढँग से करते हैं, अधिकतर लोग रासायनिक खाद का उपयोग नहीं करते हैं। यहाँ आधुनिक कृषि उपकरणों का अभाव पाया जाता हैं, अभी भी अधिकतर लोग हल-बैल की मदद से ही खेतों की जुताई करते हैं। उन्नत किस्म की बीजों का उपयोग भी नहीं करते हैं। यहाँ पर कृषि के लिए सिंचाई के लिए भी कोई समुचित व्यवस्था नहीं हैं, यहाँ की कृषि पूरी तरह से मानसून पर भी निर्भर करती है।

इन सभी कारणों के कारण कृषि पिछड़ी हुई हैं, अत: इसका प्रभाव उत्पादन क्षमता पर पड़ता है, कृषि के पिछड़ापन के कारण कृषि उत्पादकता कम हैं, जिससे इन्हें आय भी कम प्राप्त होता हैं। यहाँ के लोगों द्वारा कृषि से सलाना आय एवं सलाना व्यय की जानकारी हेतू चार्ट बनाया गए हैं, जिससे उनके उत्पादन क्षमता का आसानी से पता लगाया जा सकता है।

d"kd	Hkfe ,dM+ esa	Qly mRiknu	Lkykuk vk; #Œ esa	Lkykuk 0;; #Œ esa
NkVk fdlku	1–2 एकड़	800 से 1500 कि०	12000 से 20000	5000 से 7000
e/;e fdlku	2–4 एकड़	1500 से 3100 कि०	22000 से 45000	7000 से 10000
cM+k fdlku	4–6 एकड़	3100 से 4500 कि०	46000 से 70000	10000 से 12000

कृषि योग्य भूमि की कमी- कंवर जनजातियो के बीच कृषि कार्य के लिए कृषि योग्य भूमि भी सीमित मात्राा में उपलब्ध हैं कुछ कंवर जमींदारों को छोड़कर अधिकतर लोगों के पास कृषि योग्य भूमि की कमी पाई जाती है, यहाँ अधिकतर के पास **2-3 एकड़** तक ही जमीन है। इस कारण अनेक कंवर लोग दूसरे के खेतों में मजदूरी का कार्य करते हैं या अन्य स्थानों पर मजदूरी का कार्य भी करते है। मनरेगा के अतंर्गत होनेवाले कामों में भी निम्न आर्थिक स्थिति वाले कंवर महिलाएँ एवं पुरूष रोजगार के लिए एंव आर्थिक आय के लिए मजदूरी का कार्य कर रहे हैं।

पलायन की समस्या- कंवर जनजाति के लोगों के समक्ष सबसे बड़ी समस्या भूमि के स्वामित्व की हैं, जनसंख्या अधिक होने तथा भूमि पर स्वामित्व न के बराबर होने के कारण, कई लोग, रोजगार

के लिए शहरों की ओर पलायन कर रहे हैं। जिन कंवर परिवारों के पास कृषि योग्य भूमि है भी, वह लोग भी, कुछ महीनों के लिए रोजगार करने के लिए शहरों की ओर पलायन कर रहें हैं, क्योकि इन लोगों को अपने खेतों में सालोभर काम नहीं मिलता हैं, यह लोग धान उपजाने के बाद नवम्बर से मार्च तक खाली बैठे रहते हैं। अत: मौसमी बेरोजगारी, गरीबी, एवं कृषि योग्य भूमि की कमी के कारण कंवर जनजातियों में पलायन की समस्या गंभीर हैं। यहाँ तक कि यहाँ कि महिलाएँ विशेष तौर पर कंवर जनजाति की लड़कियाँ भी काम की खोज में शहर की ओर पलायन कर रही हैं। विशेष तौर पर यहाँ की लड़कियाँ पलायन करके रोजगार के लिए उडीसा, दिल्ली जाती हैं, और वहाँ ज्यादातर धारेलू दाई के रूप में कार्य कर रही है। इसके अलावा पुरूष पलायन करके, रोजगार के लिए, मुम्बई, मद्रास, केरल बंगलौर, अंडमान, गोवा, दिल्ली, पश्चिम बंगाल, कलकत्ता, राउरकेला, रायगढ़, उत्तराचंल, पंजाब हिमाचल प्रदेश, मणिपुर इत्यादि स्थान पर जाकर कार्य कर रहे है। पलायन करनेवाले लोग मुख्य रूप से, पुल निर्माण, ग्रह निर्माण, रोड निर्माण, बिजली पोल गाड़ने का कार्य, फैक्ट्री में मजदूरी का कार्य, इत्यादि कामों में लगे हूएँ हैं। इस प्रकार कंवर जनजाति में पलायन की समस्या गंभीर रूप से पाई जाती है।

ऋण की समस्या- ऋण की समस्या भी कंवर जनजाति के बीच पाई जाती हैं ऋण की समस्या का मुख्य कारण मदिरा एवं तंबाकु का सेवन, गरीबी, सामाजिक, धार्मिक रीति-रिवाजों, उत्सवों में अनावश्यक खर्च हैं। कंवर जनजाति के लोग धार्मिक उत्सवों, एव सामाजिक रीति-रिवाजों, शादी-विवाह में अपने सामर्थ्य से अधिक खर्च करते हैं। इससे इसका विपरीत प्रभाव इनके आर्थिक अर्थव्यवस्था पर पड़ता हैं, अर्थात इनकी आय प्रभावित होती हैं इस कारण इन्हें ऋण का सहारा लेना पड़ता है। अत: कई कंवर परिवार ऐसे हैं, जिनके पास पैसे की अत्यंत कमी हैं, फिर भी यह लोग ऋण लेकर सामाजिक और धार्मिक पर्व-त्योहारों, रीति-रिवाजों में अनावश्यक खर्च करने से नहीं चुकते हैं।जागरूकता की कमी तथा बैंको द्वारा ऋण देने की जटिल प्रक्रियाओं के कारण जनजातीय लोग बैंको से ऋण लेना कम पंसन करते हैं। जबकि अन्य लोगों के द्वारा इन्हें आसान शर्तो पर ऋण मिल जाता है। इस प्रकार कंवर जनजाति के बीच ऋण की समस्या भी पाई जाती है।

रोजगार की समस्या- कंवर जनजाति के लोगों को भी बेरोजगारी की समस्याओं का समना करना पड़ता हैं अधिकांश कंवर जनजातीय अबादी कृषि पर आश्रित है, कृषि का समुचित ढंग से विकास नहीं होने के कारण तथा कृषि भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए दबाव के कारण बेरोजगारी की समस्या पाई जाती हैं अंधिकाश लोगों को ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार नहीं मिलने के कारण दूसरे राज्यों, शहरों में पलायन कर रहे है। नौकरी नहीं मिलने का एक कारण अशिक्षा भी हैं शिक्षा की कमी के कारण बहुत ही कम लोग नौकरी करते हुए पाए गए है।

व्यापार की समस्या- बड़कीविउरा में व्यापार की भी समस्या पाई जाती है। यहाँ के लोग जंगलों से कूसुम, लाह, पलाश, जड़ी-बूटी, महुआ, लकड़ी, डोरी, इत्यादि संग्रह कर स्थानीय बाजार में बेचते हैं, लेकिन यहाँ के व्यापारी बहुत ही कम दामों में वस्तुओं को खरीदते हैं, जिससे इन्हें कम आय प्राप्त होता हैं, जबकि व्यापारी अपने द्वारा लाये गए सामानों को अधिक दामों में ग्रामीणों को बेचते हैं, इसके कारण कम समानों की खरीदारी करने पर भी अधिक पैसे खर्च हो जाते हैं, अत: यहाँ व्यापार की उचित व्यवस्था का अभाव पाया जाता है।

सामाजिक समस्याएँ- बड़कीविउरा गाँव के कंवर जनजाति में अनेक सामाजिक समस्याएँ भी पाई जाती हैं यहाँ की महिलाओं को पुरूषों के समान अधिकार प्राप्त नहीं हैं, उच्च आर्थिक स्थिति वाले कंवर परिवार की महिलाओं को घर से बाहर निकलना मना हैं, ये अपनी आवश्यकताओं के लिए पुरूषों के अधीन रहती हैं, कुछ निम्नवर्गीय कंवर महिलाएँ अपनी आर्थिक आवश्यकता की पूर्त्ति हेतु घर से बाहर, जंगल में वन उत्पाद संकलन करने, इत्यादि के लिए घर से बाहर जाती हैं, लेकिन उच्च आर्थिक स्थिति वाले परिवार की महिलाएँ घर से बाहर काम करने लिए बाहर नहीं निकलती हैं। कंवर जनजाति में अंधाविश्वास प्रमुख सामाजिक समस्या हैं, अगर किसी का स्वास्थ्य किसी कारण खराब हो जाता हैं तो इसका कारण ये लोग देवी-देवता का प्रकोप, या भूत-प्रेत को मानते हैं, यहीं कारण हैं, कि ये कंवर परिवार के लोग सबसे पहले इलाज के लिए मति-ओझा के पास ही जाते हैं। कंवर, सामाजिक रीति-रिवाज, त्योहारो एवं विवाह में भी अपने सामर्थ्य से अधिक खर्च करते हैं। विवाह में अनावश्यक खर्च एक समस्या का रूप धारण कर चुका हैं, इसके कारण कई लोगों को ऋण का सहारा लेना पड़ता हैं। अत: मैंने अपने अध्ययन के आधार पर पाया कि यहाँ अनेक सामाजिक समस्याएँ विद्यमान हैं।

स्वास्थ्य समस्याएँ- कंवर जनजाति में स्वास्थ्य से संबंधित अनेक समस्याएँ पाई जाती हैं। कंवर जनजाति के अधिकतर लोग इलाज के लिए परंपरागत चिकित्सा पद्धति का ही उपयोग करते हैं, इन लोगों के बीच इलाज के लिए आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था का अभाव पाया जाता हैं । इस कारण यहाँ महिला मृत्यूदर, एवं शिशु-मृत्यूदर, अधिक पाई जाती हैं। कंवर जनजाति के परिवार के लोग स्वास्थ्य खराब होने पर सबसे पहले ओझा-गुणी के पास जाते हैं और जब व्यक्ति की स्थिति ज्यादा खराब होने लगती हैं, तब यह प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र कुरडेग या अन्य हॉस्पीटल ले जाते हैं, तबतक इनकी स्थिति बहुत नाजुक हो चुकी होती हैं, और इस कारण कभी-कभी बीमार व्यक्ति को बचा पाना भी मुश्किल हो जाता है।

मैंने साक्षात्कार के दौरान यह पाया कि कंवर जनजाति के लोग अधिक, बीमार व्यक्ति को इलाज के लिए सुन्दरगढ हॉस्पीटल उड़ीसा एवं कुनकुरी हॉस्पीटल छतीसगढ़ ले जाते हैं। इसके अलावा इन लोगों में पोषण संबंधी भी अनेक समस्याएँ पाई जाती हैं, इनलोगों के खाने में पोषण भोजन का अभाव पाया जाता हैं। ज्यादातर ये लोग चावल सब्जी का सेवन करते हैं, रोटी, दूधा, दाल, फल, इत्यादि का सेवन कम करते हैं। पौष्टिक भोजन के अभाव के कारण, कई कंवर महिलाएँ अनीमिया तथा अन्य रोगों से पीड़ित हैं। अत: जागरूकता की कमी के एवं शिक्षा के प्रसार की कमी के कारण भी इनका स्वास्थ्य का स्तर निम्न है।

धार्मिक समस्याएँ- कंवर जनजाति के लोग बहुत ही धार्मिक प्रवृति के होते हैं तथा किसी भी विपत्ति, दुख, परिवार के किसी सदस्य का तबियत खराब होना, वर्षा कम होना, सुखा पड़ना, इत्यादि सभी का कारण देवी-देवताओं को मानते हैं, इनका मानना हैं, कि इनके देवी-देवता रूष्ट हो गए हैं इसलिए इनलोगों को विभिन्न प्रकार की विपत्तियों का सामना करना पड़ रहा हैं, अत: इन सभी कारणों के कारण ये लोग अपने ग्राम देवी-देवता, गृहदेवता की पूजा समय-समय पर करते रहते हैं, जिसमें पैसे बहुत खर्च होते हैं। इसके अलावा इनके द्वारा मनाएँ जाने वाले धार्मिक पर्व-त्योहार में भी काफी खर्च होता हैं, ये लोग धार्मिक क्रियाकलापों में अपने सार्मथ्य से ज्यादा खर्च करते हैं।

बिजली की समस्याएँ- आज 20वीं शदी के इस वर्त्तमान युग में भी, बड़कीविउरा गाँव में बिजली की व्यवस्था नहीं है, लोगों को अंधेरा का सामना करना पड़ता है। सरकार द्वारा सौर ऊर्जा की 54 प्लेट बस्ती एवं गली के लिए रोशनी हेतु दी गई थी लेकिन ग्रामीण लोगों ने उसे गली से हटाकर अपने निजी उपयोग हेतु निकाल लिए गए हैं। यहाँ बिजली के पोल गाड़े गएँ है लेकिन बिजली का तार अभी तक नहीं लगाया गया है। अत: इस गाँव के अधिकतर, लोग अंधेरे में रहने के लिए, विवश एवं लाचार है।

पानी की समस्या- कंवर जनजाति के लोगों को बड़कीविउरा गाँव के अंतर्गत पानी की समस्या का भी सामना करना पड़ता है। अधिकतर जगहों पर पानी के लिए कुँआ की व्यवस्था है, तथा कहीं कहीं चापाकल दिखाई देते हैं। यहाँ का कुँआ का पानी स्वच्छ नहीं हैं, बहुत लोग कुएँ के पानी को पीने के लिए भी इस्तेमाल करते हैं जिससे अनेक पेट संबंधी बीमारियों से ग्रसित हो जाते हैं। गर्मी के मौसम में कुँआ में पानी का स्तर बहुत नीचे चला जाता हैं तथा कई चापाकल रूग्न अवस्था में पाए गए हैं, अत: इस कारण इन्हें पानी की समस्या का सामना करना पड़ता है।

यातायात एवं संचार की समस्याएँ- बड़कीविउरा में कुल 19 टोले हैं और एक टोले से दूसरे टोले जाने वाली गली, टेढ़ी-मेढ़ी एवं उबड़-खाबड़ हैं, यह कच्ची मिट्टी से बनी हैं, जिसके कारण बरसात में तो लोगों को आने-जाने में और अधिक परेशानियों का सामना करना पड़ता हैं तथा बड़कीविउरा गाँव की मुख्य सड़क की हालत तो और भी अधिक खराब है। मुख्य सड़क ऊबड़-खाबड़, बीच-बीच में टूटी-फूटी हैं। इस कारण कई विकास योजनाएँ यहाँ तक नहीं पहुंच पाई है। अत: यहां के ग्रामवासियों एवं यहाँ आने-जाने वाले अन्य लोगों को भी, समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं यहाँ लोगों के समानों को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने, ले जाने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यातायात की समस्या के साथ-साथ यहाँ संचार की भी समस्या पाई जाती हैं, बिजली नहीं रहने के कारण TV लोग नहीं देख पाते हैं, तथा आवागमन का रास्ता खराब होने के कारण Newspaper मिलने में परेशानी होती हैं। यहाँ कुछ लोगों के पास संचार के लिए रेडियो मोबाइल हैं- लेकिन टॉवर दूर रहने के कारण बातचीत करने में कठिनाई होती है।

शिक्षा की समस्या- शिक्षा एक अमुल्य सम्पदा हैं, इसके बगैर किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व विकास समुचित ढँग से नहीं हो सकता हैं। वर्त्तमान समय में जितने भी लोग विकसित की श्रेणी में आते हैं, वो सभी शिक्षित हैं। अगर हम कुरडेग प्रखण्ड के बड़कीविउरा गाँव पर दृष्टि डालते हैं तो यह पता चलता हैं कि यहाँ शिक्षा की अनेकों समस्याएँ विद्यमान है। यहाँ पर प्राथमिक एंव माध्यमिक शिक्षा के लिए उत्क्रमित मध्य विद्यालय हैं, परन्तु उचित संख्या में शिक्षक नहीं है।

अगर माध्यमिक शिक्षा की बात करे तो बच्चे किसी प्रकार गाँव के मध्य विधालय में पढकर निकल तो जाते हैं, किन्तु उच्च शिक्षा के लिए अर्थात् high school के लिए इन्हें कुरडेग जाना पड़ता हैं इसके चलते यहाँ के विद्यार्थीयों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं दूर जाने के डर से कई बच्चे, बीच में ही अपनी पढ़ाई छोड़ने को विवश हो जाते हैं, क्योंकि यह स्कूल के साथ गृहकार्य में भी, अपने माता-पिता का हाथ बटाँते हैं छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए आँगनबाड़ी केन्द्र तो हैं, लेकिन यहाँ पर भी शिक्षा समुचित ढ़ँग से नहीं दी जाती हैं।

चिकित्सा की समस्या- गाँवो में अस्वच्छता, पीने और स्नान करने के पानी का स्वच्छ न होना, खाने में पौष्टिक आहार की कमी इत्यादि कारणों के कारण यह के कंवर जनजाति के लोग अनेक बीमारियों से पीड़ित रहते हैं, जैसे- मलेरिया, डायरिया, जोन्डीक्स, हैजा, इत्यादि। इसके अतिरिक्त इनमें अन्य छूत बीमारी भी पाई जाती हैं, जैसे - यक्ष्मा, दमा, यौन रोग इत्यादि। कंवर जनजाति के खाद्य पदार्थो में आवश्यक पोषक तत्वों की कमी होना, अस्वस्थता का प्रमुख कारण है इसके अलावा, रहन-सहन के पुराने तरीके, पीने और स्नान, करने के पानी की असुविधा, दवाओं की अपेक्षा जादू-टोना भूत प्रेत में अधिक विश्वास इत्यादि ने मिलकर स्वास्थ्य संबंधी गंभीर समस्याएँ पैदा कर दी हैं। बड़कीविउरा गाँव में चिकित्सा की समुचित व्यवस्था नहीं हैं, यहाँ पर एक उपस्वास्थ्य केन्द्र हैं जहाँ प्राथमिक उपचार विशेष रूप से किया जाता हैं, लेकिन किसी व्यक्ति तबीयत अधिक खराब हो जाने पर यहाँ इलाज संभव नहीं हैं, इसके लिए लोग पहले प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र कुरडेग जाते हैं, और वहाँ भी ठीक नहीं होने पर अन्य शहरों में इलाजों के लिए ले जाते हैं। अत: यहाँ चिकित्सा की समस्या भी विशेष रूप से पाई जाती है।

मद्यपान की समस्या- नशे की वस्तुओं का उपयोग कंवर जनजाति के लोगों के जीवन का प्रमुख अंग बन गया हैं ये लोग तंबाकु, बीड़ी खैनी का उपयोग प्रतिदिन अपने दैनिक जीवन में करते है, तथा ये लोग सभी पर्व-त्योहारों एवं धार्मिक उत्सवों में आवश्यक रूप से हड़िया का सेवन करते है। अत: नशीली चीजों के प्रति इनके गहन विश्वास के कारण ये मद्यपान की आदत को ये लोग छोड़ना नहीं चाहते हैं। अत: इसके कारण इनकी नाममात्र की आय भी, इनके सामाजिक उत्थान के बजाय नशे में खर्च हो जाती हैं जिससे इन्हें आर्थिक तंगी का सामना करना पड़ता है। नशामुक्ति के लिए कंवर महिलाओं द्वारा गाँव में अभियान चलाया गया हैं, लेकिन इसका सार्थक परिणाम नहीं मिल पाया है।

कंवर जनजाति की समस्याओं के समाधान के उपाय

निम्न उपायों द्वारा, कंवर जनजाति की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है-

कुटीर उद्योगों की स्थापना- इन जनजातीय क्षेत्रों में सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा उचित मात्रा में कुटीर उद्योग स्थापित करके, कंवर जनजाति के अंतर्गत पाई जाने वाली बेरोजगारी की समस्या, पलायन की समस्या, गरीबी की समस्या को दूर किया जा सकता है। कुटीर-उद्योगों की स्थापना से स्थानीय ग्रामवासियों को स्थानीय क्षेत्र में रोजगार के अवसर सुलभ होगें, जिसके कारण इन्हें रोजगार करने के लिए अन्य स्थानों पर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, अत: इसके कारण पलायन में कमी आएगी, तथा रोजगार सुलभ होनं के कारण, लोगों की निर्धनता की समस्या का भी समाधान करना संभव हो पायेगा। कुटीर-उद्योगों के अंतर्गत जनजातीय दस्तकारी तथा हस्तकला को प्रोत्साहित करने के लिए, समुचित प्रशिक्षण, उत्पादन एवं राशि उपलब्ध कराने का सार्थक प्रयास किया जाना चाहिए।

इसमें महिलाओं की भी भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए। अत: इस संदर्भ में सरकारी प्रयासों के साथ-साथ गैर-सरकारी संगठनों का भी सहयोग प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार कुटीर उद्योगों की स्थापना करके, बेरोजगारी, निर्धनता, पलायन की समस्या का समाधान किया जा सकता है।

व्यावसायिक प्रशिक्षण द्वारा- जनजातीय क्षेत्रों में प्रखंड स्तर पर व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र संचालित किया जाना चाहिए। इसके अंतर्गत कंवर जनजाति के युवक-युवतियों को व्यापार, विपणन, कम्पयूटर इत्यादि से संबंधित प्रतिशक्षण प्रदान करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

वन संरक्षण एंव वृक्षारोपण द्वारा- उजड़ते वनों को रोकने के लिए सामाजिक वानिकी कार्यक्रम तथा संयुक्त वन प्रबंधान समितियों के माध्यम से वन संरक्षण तथा वृक्षारोपण हेतु कृषि वानिकी शोध कार्यक्रम से सहायता लेनी चाहिए, ताकि वन आधारित जनजातीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाया जा सके।

आधुनिक कृषि तकनीकों का उपयोग करके- बड़कीविउरा गाँव में कृषि उत्पादकता बढाने हेतु, कृषि को प्रोत्साहित किये जाने हेतु, सार्थक प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए कृषकों को उत्तम खाद, उन्नत किस्म के बीज भंडारण, सिंचाई की उचित व्यवस्था, नये कृषि उपकरणों एवं कृषि से संबंधित सभी समुचित सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए। कंवर किसानों के लिए कृषि से संबंधित प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे कृषि उत्पादकता में वृद्धि हो फलस्वरूप निर्धनता में कमी आए।

योजनाओं का उचित क्रियान्वयन के द्वारा- केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकार द्वारा चलाये जा रहे योजनाओं का उचित ढंग से क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है। अत: योजना कर्मचारियों द्वारा, योजनाओं और कार्यक्रमों का उचित क्रियान्वयन करके समस्याओं को कम किया जा सकता है।

शिक्षा के स्तर में वृद्धि लाकर- कंवर जनजातियों के बीच शिक्षा का प्रसार के द्वारा जागरूक बनाकर अंधविश्वास की समस्या को दूर किया जा सकता है।

नाटक, कठपुतली एवं भाषण के द्वारा- जनमाध्यम के द्वारा, स्थानीय जनजातियों को जागरूक बनाया जा सकता है। अनेक आवश्यक बातें नाटक के द्वारा बताई जा सकती है। जिससे कई अंधविश्वासों का अंत हो सकता है और व्यक्ति जागरूक बन सकते हैं।

स्वास्थ्य चेतना एवं उचित चिकित्सा व्यवस्था द्वारा- कंवर जनजाति के परिवार के सदस्यों को उचित पोषाहार लेने हेतु जागरूक बनाना आवश्यक है। कंवर जनजातिय स्वास्थ्य समस्या के निराकरण के लिए आँगनबाड़ी केन्द्रों द्वारा और अधिक प्रयास किये जाने की आवश्यकता हैं तथा प्राथमिक उपस्वास्थ्य केन्द्रों, प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों (कुरडेगा) तथा रेफरल अस्पताल को भी इस दिशा में सार्थक भूमिका निभाना आवश्यक है। अत: कंवर जनजाति के बीच पौष्टिक आहार के प्रति जागरूकता लाने की आवश्यकता है। आहार संबंधी अंधविश्वासों तथा भ्रांतियों को दूर करने के लिए अभियान चलाए जाने की आवश्यकता है।

आधुनिक जीवनशैली की शिक्षा देकर- जनजातीय लोगों को आधुनिक जीवनशैली की शिक्षा देकर, इन लोगों को आधुनिकता से परिचित कराकर, इनके अंधविश्वास तथा जादू-टोना पर आधारित अंधविश्वासों को कम किया जा सकता हैं।

मद्यपान की समस्या का समाधान द्वारा- कंवर जनजाति के बीच मद्यपान की विकट समस्या पाई जाती हैं जिसके कारण, युवक-युवतियों को बेरोजगारी की समस्या, निर्धनता, की समस्या, इत्यादि समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं। अत: बड़कीविउरा के कंवर जनजाति के बीच व्याप्त मद्यपान की समस्या के समाधान के लिए सार्थक प्रयास करने की आवश्यकता है।

अत: इन समाधानों के द्वारा कंवर जनजाति की उर्पयुक्त समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

संन्दर्भ-सूची

1. पाण्डेय गया, 2007 - भारतीय जनजातीय संस्कृति, कंसैप्ट कम्पनी, नई दिल्ली
2. तिवारी राम कुमार, 2004 - झारखंड की रूपरेखा, शिवांगन पब्लिकेशन
3. उपाध्याय विजय शंकर 2004 और गया पाण्डेय- सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्र, क्राउन पब्लिकेशन्स
4. पाण्डेय गणेश, 2003 - सामाजिक मानवशास्त्र, राधा पब्लिकेशन्स, आगरा
5. डा० वर्मा चन्द्रकान्त 2004 - झारखंण्ड के आदिवासी के० के० पब्लिकेशन्स
6. डा० वर्मा उमेश कुमार 2009 - झारखंड का जनजातीय समाज सुबोध ग्रन्थमाला पब्लिकेशन्स
7. शर्मा विमलाचरण और 2006 - झारखंड की जनजातियाँ क्राउन पब्लिकेशन्स, राँची

मनोविज्ञान

आवासीय पृष्ठभूमि में आदिवासी, ग्रामवासी एवं नगरवासियों की सामाजिक परिवर्तन के प्रति मनोवृत्ति का एक अध्ययन

डॉ० आशा कुमारी

एम०ए०, पीएच० डी०, मनोविज्ञान, मुजफ्फरपुर

भारत में प्राचीन काल से विभिन्न प्रजातियों का समावेश हुआ है। यातायात के साधनों का विकास न होने के कारण इसमें विभिन्न भाग एक दूसरे से पृथक् रहे हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर विभिन्न प्रजातीय तत्वों का अस्तित्व है, वहीं दूसरी ओर प्रत्येक भाग की अपनी सभ्यता एवं संस्कृति है। भारत के इन विभिन्न भौगोलिक क्षेत्र में अनेक प्रजातीय स्कन्धों के लोग विकास करते है। लेकिन विभिन्न क्षेत्र में कुछ मानव समूह ऐसे हैं, जो आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से आदिम स्तर पर है। इन्हें वन्य जाति, जन-जाति तथा आदिवासि आदि नामों से संबोधित किया जाता है। ये आधुनिक बस्तियों से दूर रहते हैं। इस कारण इन्हें वनवासी भी कहा जाता है। जन-जाति शब्द या आदिवासी शब्द की व्याख्या विभिन्न समाज शास्त्रियों ने अपने-अपने ढ़ंग से किया है:-

"स्थानीय समूहों का कोई भी आदिम समूह जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता है एक सामान्य भाशा बोलता है और एक सामान्य संस्कृति का प्रयोग करता है, उसे जन-जाति कहते हैं।"
-(गिलिन और गिलिन, 1962)।

"एक जन-जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम है, जिसके सदस्य एक समान भू-भाग में निवास करते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं और विवाह, पेशा या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का पालन करते हैं और पारस्परिक व्यवहार के बारे में एक निश्चित व्यवस्था का विकास करते हैं।" -मजूमदार।

आदिवासियों के संबंध में अनेकानेक समाजशास्त्रियों ने अपना विचार व्यक्त किया है।

नागरिक क्षेत्र या नगर क्या है? इस शब्द का प्रयोग दो अर्थो में होता है- जननांकीय रूप में और समाजशास्त्रीय रूप में। जर्मन समाजशास्त्री टोनीज 1957 ने नगरीय गैसिल शैप्ट् समाज में अवैयक्तिक और द्वितीयक संबंध प्रधान होते है। और व्यक्तियों में विचारों का आदान-प्रदान औपचारिक अनुबंधित और विशेष कार्य या नौकरी जो वे करते हैं उन पर आधारित होते हैं। गैलिस शेफ्ट समाज में उपयोगितावादी लक्ष्यों और सामाजिक संबंधों के प्रतियोगी प्रवृत्ति पर बल दिया जाता है।

मेक्स बेवर 1961 : 381 और जॉर्ज सिमल 1950 जैसे अन्य समाजशास्त्रियों ने नगरीय वातावरण में सघन आवासीय परिस्थतियों पर परिवर्त्तन में तेजी और अवैयक्तिक अन्य क्रिया पर बल दिया है। लुई वर्थ 1938-81 ने कहा है कि समाजशास्त्रीय उद्देश्यों के लिए एक नगर की यह कहकर परिभाषा की जा सकती है कि वह सामाजिक रूप से विषम रूप, व्यक्तियों की अपेक्षाकृत बड़ी, सघन और अस्थायी बस्ती है। रूथ ग्लास (1956) जैसे विद्वानों ने नगर को जिन कारकों द्वारा परिभाषित किया है, वे हैं- जनसंख्या का आकार, जनसंख्या की सघनता, प्रमुख आर्थिक व्यवस्था, प्रशासन की सामान्य रचना और कुछ सामाजिक विशेषताएँ।

1961, 1971, 1981, 1991 की जनगणनाओं के आधार पर जिनकी जनसंख्या 50,000 और एक लाख के बीच है, शहर कहा जाता है। जिनकी एक लाख और 10 लाख के बीच है उन्हें बड़ा शहर कहा जाता है। जिन क्षेत्रों में 10 और 50 लाख के बीच व्यक्ति होते हैं, विशाल नगर कहा जाता है और जिनमें 50 लाख से अधिक व्यक्ति होते है, उन्हें महानगर कहा जाता है।

ग्रामवासी के संदर्भ में इतिहास साक्षी है कि हमारे पूर्वज गाँवों में ही वास करते थे। उस समय सभ्यता का भी पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ था। ग्राम का प्रधान ही ग्राम संगठन का विधान बनाता था। आज भी हमारे यहाँ 65 प्रतिशत लोग गांवों में ही निवास कर रहे है। भारत गांवों का देश है। भारत वर्ष में आज भी गांवों की संख्या अधिक है। महात्मा गाँधी का कथन है कि भारत की आत्मा गांवों में वास करती है। गांवों में प्रकृति रानी का साम्राज्य है। शस्य श्यामल धरती हरित परिधान धारण किये दिखाई पड़ती है। पक्षियों का मधुर स्वर सबको मोहता है, मधुर नृत्य करते दिखाई पड़ते है। कोयल के मधुर गान को सुनकर हृदय झंकृत हो उठता है। प्रकृति का कण-कण जीवन को उन्माद से भर देता है। ग्रामीण सरलता के प्रतीक होते हैं। उनका जीवन सादा होता है। उनकी गृहदेवियां लक्ष्मी की प्रतिमूर्ति होती है। ग्रामीण अपने सामर्थ्य से बढ़कर आतिथ्य सत्कार करता है। वे लोग अतिथि को देवतुल्य समझते हैं, ग्रामीण लोग दुराचार की गंध से दूर रहता है। ग्रामीणों में परस्पर भाईचारा अधिक पाया जाता है। शिक्षित-अशिक्षित सभी लोगों के हृदय में अपार श्रद्धा पायी जाती है। ग्रामीण एक दूसरे की सहायता के लिए सदा तत्पर रहते हैं। वर्तमान समय में रंगीन वातावरण ने ग्रामीणों को भी अपनी लपट में ले लिया है। यदि गाँवों में शिक्षा, प्रकाश, स्वच्छता, चिकित्सा, यातायात और मनोरंजन आदि का प्रबन्ध हो जाय तो ग्राम्य जीवन वास्तव में स्वर्गिक आनन्द दे सकता है। गाँवों में अधिकांश लोग कृषि पर निर्भर करते हैं। साथ ही फल-फूल, सब्जी, दूध, घी, मक्खन इत्यादि बहुतायत में पाये जाते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ग्रामीण और नगरीय समुदायों में निकला सामाजिक सम्बधों एवं मूल्यों के द्वारा स्पष्ट होती है। -दोनीज 1957

ग्रामीण गेमिन सेफ्ट समुदाय वह है जिसमें सामाजिक बन्धन कुटुम्ब और मित्रता के निकट के व्यक्तिगत बन्धनों पर आधारित होते हैं और परम्परा, सामंजस्य और अनौपचारिकता पर बल दिया जाता है। -टोनीग 1957

सामाजिक परिवर्त्तन एक सामान्य सरल प्रक्रिया है। बढ़ती जनसंख्या, बदलते हुए परिवेश, नित्य नये होने वाले वैज्ञानिक अनुसंधान ये सभी कुछ ऐसे तत्व हैं जो सामाजिक परिवर्त्तन को प्रेरित करते रहते हैं। जिस समाज में परिवर्त्तन नहीं होगा, वह समाज प्रगति नहीं कर सकता है। पविर्त्तन का अर्थ होता है, नये तथा आधुनिक परिवेश के अनुकूल अपने समाज को भी ढ़ालना। आज अतिवैज्ञानिक

अनुसंधानों के कारण विश्व की दूरी सिमट गयी है। दुनियां के किसी भी कोने में होने वाले परिवर्त्तन से प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह कितनी दूरी पर क्यों न हो, प्रभावित होता रहता है। जो प्रभावित नहीं होता है वह पिछड़ा बनकर रह जाता है। आवासीय क्षेत्रों के सम्बन्ध में यह वर्णन किया जा चुका है कि अपने तीनों ही क्षेत्रों की प्रगतिशीलता में अन्तर है। नगरों के लोग अधिक तेजी से भाग रहे हैं, लेकिन ग्राम तथा आदिवासी बन्धुओं की प्रगति धीमी है। इस संदर्भ में निन्न प्राक्कल्पना की गयी है–

(क) यह प्राक्कल्पना की जाती है कि तीनों ही समुहों में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति सार्थक अन्तर पाया जायेगा।

(ख) नगरवासियों में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति अपेक्षाकृत उच्च अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

विधिः–आवासीय पृष्ठभूमि में आदिवासी, ग्रामवासी एवं नगरवासियों की सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति मनोवृत्ति का मापन करने के लिए हिन्दी में उपलब्ध ए.पी.आर.सी. मनोवृत्ति मापनी (1986) (आगरा मनोवैज्ञानिक शोध संस्थान) का चालन किया गया।

क्षेत्रः–बिहार के ग्रामीण, नगरीय एवं आदिवासी क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों के अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया।

प्रतिदर्शः– बिहार के ग्रामीण, नगरीय एवं आदिवासी क्षेत्रों में निवास करने वालों मे से 100 ग्रामवासी, 100 नगरवासी एवं 100 आदिवासी क्षेत्र के नागरिक को अध्ययन हेतु चुना गया तीनों ही समूहों की कुल संख्या तीन सौ है। तीनों ही समूहों के आधार पर सामाजिक परिवर्त्तन का अध्ययन किया गया।

संयग एवं मापनीः– ए.पी.आर.सी. मनोवृत्ति मापनी, 1986 (आगरा मनोवैज्ञानिक शोध संस्थान)

आवासीय पृष्ठभूमि एवं सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति मनोवृति– तीन सौ प्रतिदर्श में आवासीय स्थिति के आधार पर एक-एक सौ नगरवासी, ग्रामवासी एवं आदिवासी प्रतिदर्श का चयन कर अध्ययन किया गया जिसकी शिक्षा कम से कम मैट्रिक पास थी। इन तीनों ही समूहों के पृथक्-पृथक् सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति मनोवृति प्राप्तांकों का वितरण तथा उसके मध्यमान प्रमाणित विचलन तथा टी. अनुपात का तुलनात्मक विवेचन किया गया।

दूसरी प्राक्कल्पना में नगरवासियों में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति उच्च अनुकूल मनोवृति पायी जायेगी। इससे सम्बन्धित प्राप्तांकों का वितरण तथा उसके मध्यमान प्रमाणिक विचलन तथा टी. अनुपात सारिणी संख्या एक में वर्णित है।

	संख्या	*मध्यमान विचलन*	*प्राथमिक की त्रुटि*	*प्रामाणिक विचलन*	*टी अनुपात*	*सार्थकता स्तर*
नगरवासी	100	15.58	2.16	.432	क ख 6.386	.01
ग्रामवासी	100	10.26	3.586	.713	ख ग 3.393	.01
आदिवासी	10/0	6.14	4.915	.983	क ग 8.589	.01

सारिणी संख्या एक में वर्णित तीनों ही समूहों- नगरवासी, ग्रामवासी एवं आदिवासियों का तुलनात्मक विवेचन किया गया। सांख्यिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि नगरवासियों के सामाजिक परिवर्त्तन मनोवृति प्राप्तांको का मध्यमान 15.58, ग्रामवासियों का सामाजिक परिवर्त्तन मनोवृति प्राप्तांकों का मध्यमान 10.26 तथा आदिवासियों का सामाजिक परिवर्त्तन मनोवृति प्राप्तांको का मध्यमान 6.14 पाया गया है। तीनों ही समूहों का प्रामाणिक विचलन क्रमशः 2.16, 3.586 एवं 4.915 है तथा तीनों समूहों का टी अनुपात क्रमशः 6.386, 3.393 एवं 8.589 है जो 98 डी.एफ. के लिए .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। अतः यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि उपर्युक्त प्राक्कल्पना सत्य प्रमाणित हुई।

दूसरी प्राक्कल्पना के आधार पर सारिणी संख्या एक में वर्णित तीनों ही समूहों के प्राप्तांक का तुलनात्मक विवेचन से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि नगरवासियों का मध्यमान 15.58, ग्रामवासियों का मध्यमान 10.26 आदिवासियों का 6.14 है। मध्यमानों के आधार पर अन्य दो समूहों से नगरवासियों का 5.32 का अन्तर आता है जो यह स्पष्ट करता है कि नगरवासियों में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति उच्च अनुकूल मनोवृत्ति पायी गयी है।

उपर्युक्त तीनों ही आवासीय स्थिति एवं सामाजिक परिवर्त्तन के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त है :-

(क) प्राक्कल्पना संख्या एक में यह प्राक्कल्पना किया गया था कि तीनों ही समूहों का सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति सार्थक अन्तर पाया जायेगा जो सत्यापित हो रहा है।

(ख) यह प्राक्कल्पना किया गया कि नगरवासियों में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति अपेक्षाकृत उच्च अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी। यह भी सत्यापित हो रहा है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष- आदिवासी नगरवासी एवं ग्रामवासियों के मनोवृत्ति मापने के लिए आवासीय पृष्ठभूमि एवं सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति मनोवृत्ति के अन्तर्सम्बन्ध की समीक्षा की गई। अध्ययन परिणाम से यह प्रमाणित हुआ कि नगरवासियों में सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति उच्च अनुकूल तथा अन्य दो समूहों में उतनी अधिक अनुकूल मनोवृत्ति नहीं पायी जाती है। इस चर से सम्बन्धित परिकल्पना जो किया गया है, परिणाम उसके अनुकूल है। नगरवासियों का सामाजिक परिवर्त्तन के प्रति मनोवृत्ति प्राप्तांक मध्यमान 15.58 है, ग्रामवासियों का प्राप्तांक मध्यमान 10.26 है तथा आदिवासियों का प्राप्तांक मध्यमान 6.14 है।

नगरवासियों एवं ग्रामवासियों के बीच मध्यमान प्राप्तांकों का अन्तर 5.32, नगरवासियों एवं आदिवासियों के बीच 9.44 तथा ग्रामवासियों एवं आदिवासियों के बीच 4.12 प्राप्त हुआ है। तीनों ही समूहों का प्रामाणिक विचलन क्रमशः नगरवासी 2.16, ग्रामवासी 3.586 एवं आदिवासी 4.915 प्राप्त हुआ है। तीनों ही समूहों का टी अनुपात क ख 6.386, ख ग 3.393 एवं क ग 8.589 प्राप्त हुआ है। मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता .01 स्तर पर प्रमाणित हो रहा है। तीनों ही समूहों के बीच सामाजिक परिवर्त्तन मनोवृत्ति का मापन के सम्बन्ध में ए.पी.आर.सी. मनोवृत्ति मापनी, 1986 का उपयोग किया गया है। यह मापनी सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित सभी पहलुओं का अध्ययन करने में सहायक है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. Gillin & Gillin; 1962: CuIturaI Anthropology
2. Majumdar and Madan; 1962: An Introduction to Social Anthropology, P. 76.
3. Toennies, F.; 1957: Theories of Society, Vol. I, the free press of Glencoe, New York.
4. Goode, W.J. and Hatt; U.K. (1952): Methods in Social Research, MC.Grow Hill., New York
5. Edwards, A.L.; 1968: Experimental Desihn in Psychological research (3rd) (End), NewYork, Holt, Rinchert and Winston INC.(Indian edition)
6. Garrette J.P.; 1956: Fundamental statistics in psychology and education, third edition, M.C. Grow- Hill book company, INC, New York
7. Max Weber; 1961: The Urban Cmmunity in Thesis of society (Vol.1), Op . Cit., The Free Pess of Glencoc, New York
8. Garrette H.E.; 1955: Satisfaction in Psychlogy and education (Fourth edition) Longman Green and Co., New York
9. The Hindustan Times; 1988: The Hindustan Times 9th May.

वर्तमान समय में युवावर्ग की मूल्य पद्धति एवं समाज पर इसका प्रभाव

डॉ० अनामिका

बी०एस०एम० डिग्री कॉलेज, मसरख, सारण

परंपरागत हिंदू पद्धति में जीवन को सामाजिक दायित्वों सहित चार स्पष्टत: निर्देशित अवस्थाओं में देखा जाता है। इसमें युवा अवस्था को कोई सत्ता प्राप्त नहीं थी। परंतु दूसरी अवस्था अर्थात् गृहस्थ में कुछ कार्य दिए हुए होते थे। इस पद्धति में वयोवृद्धों को सम्मान दिया जाता था, और 'युवावस्था' अलाभकर होती थी। यह भी नोट किया जाना चाहिए कि हिंदू समाज (स्तरीकृत) में शिक्षा कुछ निश्चित जातियों (स्तर) तक ही सीमित थी। इसलिए सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक गतिशीलता भी लगभग संकुचित थी। आज इस मूल्य को विपरीत देखा गया, विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह पद्धति धर्म और क्षेत्र को ध्यान में रखे बिना परिवर्तित हो गई है। मूल्य पद्धति में परिवर्तन लाने वाला महत्त्वपूर्ण कारक जन शिक्षा पद्धति का विकास था। नई विचारधाराओं और मूल्यों का संचार शिक्षा के माध्यम से किया गया। यह युवा विद्यार्थियों को परिवर्तन के लिए सुग्राही बनाती है। कई समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इस विचारधारा का समर्थन किया गया है कि युवा विद्यार्थी परिवार, जाति पदक्रमित प्रस्थिति की धारणाओं (अस्पृश्यता सहित) तर्कसंगति, धर्मनिरपेक्षता, समानता, सामाजिक न्याय, महिलाओं की स्थिति एवं इसी तरह के अन्य क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन के लिए बहुत उत्सुक हैं (डामले 1977, पृष्ठ 203)। इस पर बल दिया जाना चाहिए क्योंकि ग्रामीण और शहरी युवाओं में अंतर के बावजूद उनकी परंपरागत मूल्य पद्धति लगभग समान है।

अलगाव

अलगाव शब्द अन्य लोगों से विमुखता और स्थापित प्रतिमानों के बारे में भ्रम की भावना को दर्शाता है। बहुत से लेखक अलगाव की संकल्पनाओं में शक्ति का अभाव, निरर्थकता, अकेलेपन की भावना और विमुखता जैसी धारणाओं को शामिल करते हैं। अलगाव के कई कारण हैं। विद्यमान परिप्रेक्ष्य में कुछ कारक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं-

पीढ़ी दर पीढ़ी अंतर

उनमें एक है, युवा वृद्ध पीढ़ी में मतभेद। युवा विशेषकर शहरी क्षेत्रों में अपने माता-पिता पर अधिक आश्रित रहते हैं। एक तरफ तो उनकी आकांक्षाओं और अपेक्षाओं में वृद्धि हुई है। दूसरी ओर वे परंपराओं की शक्तियों का विरोध करते हैं। आधुनिक भारतीय युवा बहुमत से परंपरागत मूल्यों और प्रतिमानों से बंधे नहीं रहना चाहते थे। वे धर्मनिरपेक्ष और बाद में यही अलगाव को जन्म देता है।

बेरोजगारी

अलगाव को उत्पन्न करने वाला दूसरा महत्त्वपूर्ण कारक घोर रूप से व्याप्त बेरोजगारी की स्थिति है। एक आयु स्तर पूरा करने के तुरंत बाद युवा आर्थिक सुरक्षा चाहते हैं। परंतु जब वे कोई काम पाने में असफल होते हैं, तो वे अकेलापन महसूस करते हैं। यह एक निर्णायक स्थिति होती है। यहां पर वे किसी भी बुराई के शिकार हो जाते हैं, जैसे– मानसिक रुग्णता, आपराधिक कार्यकलाप, नशीली दवाओं का सेवन। यहां ग्रामीण और शहरी दोनों युवा वर्ग करीब-करीब समान स्थिति में होते हैं। सच्चिदानंद (1988) के अनुसार, ''वे (ग्रामीण) बालक जो अपना अध्ययन जारी रखने के लिए शहरों में नहीं जा सकते हैं और गांव में रह जाते हैं, वे अपना समय गप-शप में ही बिताते हैं और कभी-कभी असामाजिक कृत्यों में लग जाते हैं। यह भी पाया गया है कि ऐसे बहुत से शिक्षित युवक राहजनों व डकैतियों में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। ऐसी स्थिति भारत के बहुत से भागों में आम है।'' उत्तर-पूर्वी और मध्यवर्ती भारत के भागों में कुछ अध्ययन किए गए थे। इनसे विश्वविद्यालय और कॉलेज परिसरों में ''नशीली दवाओं के व्यसन'' की व्यापक घटनाओं का पता चला है। यह पूरी तरह से तय नहीं किया जा सकता है कि अलगावित युवा नशीली दवाओं के शिकार हुए हैं अथवा नशीली दवाओं के व्यसन के कारण ही वे अलगावित हुए हैं। ये दोनों कारक एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। और साथ-साथ कार्य करते हैं।

पहचान का संकट

पहचान जागरूकता की ऐसी भावना को दिखाती है जिसमें व्यक्ति जाने अथवा अनजाने में विद्यमान सामाजिक ढांचे में अस्तित्व, मान्यता और प्रतिफल के लिए प्रयत्न करता है। अपने अस्तित्व के लिए संसाधन प्राप्त करने तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में स्थान पाने के लिए आजकल युवा वर्ग अपनी पहचान को परिभाषित करने की कोशिश करता है। यह महसूस किया जा रहा है कि शिक्षा और व्यवसाय के मामले में युवाओं को संतोषजनक स्थिति में नहीं रखा गया है। अपने व्यक्तित्व की पहचान की खोज करने के बदले युवा पहचान संकट के विक्षोभ से गुजर रहे हैं। इसके फलस्वरूप वे अपर्याप्तता के निराकरण के रूप में पुनर्जागरण की ताकतों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इस उभरते हुए पहचान संकट से निपटने के लिए समुचित आदर्श के अभाव में युवा वर्ग विशेषकर शिक्षित बेरोजगार युवा गलत कार्यों में लग जाते हैं।

छात्र असंतोष

युवा छात्रों में असंतोष की घटना छात्रों और प्राधिकारियों दोनों स्तरों की भावनाओं का महत्त्वपूर्ण सूचक है। हाल के दशकों में शैक्षणिक संस्थाओं में असंतोष की काफी घटनाएं हुई हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि युवा असंतोष और शैक्षणिक संस्थाओं का आपस में गहरा संबंध है। देश में शैक्षणिक संस्थाओं के परिसरों में असंतोष पर किए गए एक समाजशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार यह देखा गया था कि 1968 से 1971 की अवधि के दौरान देश के लगभग सभी राज्य छात्रों की हिंसात्मक कार्रवाइयों से प्रभावित हुए थे (विनायक, 1972)। छात्र असंतोष के 744 मामलों में से 80 प्रतिशत मामले हिंसात्मक थे और लगभग 20 प्रतिशत शांतिपूर्ण थे। हिंसात्मक और शांतिपूर्ण

आंदोलनों का अखिल भारतीय अनुपात 4: 5 से लेकर 1: 0 था और बिहार तथा मद्रास में 2: 3 से लेकर 1: 0 के बीच था। मध्य प्रदेश में 31: 0 से 0: 0 था। दक्षिणी राज्यों के विश्वविद्यालयों में अपेक्षाकृत अधिक शांति थी अथवा कम हिंसा हुई। छात्रों की हिंसात्मक कार्रवाइयों की सबसे अधिक संख्या दिल्ली में थी, इसके बाद उत्तर प्रदेश और पश्चिम बंगाल में। सबसे कम असंतोष वाले राज्य गुजरात, हिमाचल प्रदेश, जम्मू और कश्मीर, हरियाणा, तमिलनाडु और राजस्थान थे।

छात्र असंतोष के कारण

असंतोष और हिंसा के कारणों की मोटे तौर पर दो श्रेणियां बनाई जा सकती हैं, 'परिसर के अंदर' और 'परिसर के बाहर'। परिसर के अंदर के मुद्दों में शैक्षणिक और गैर-शैक्षणिक दोनों प्रकार के मुद्दे होते हैं। परिसर के अंदर के मुद्दे सहानुभूतिक हड़ताल (बंदर) और छात्रों तथा गैर, छात्रों के बीच विवाद से जुड़े होते हैं।

विनायक ने अपने अध्ययन में पाया है कि 1968-71 की अवधि के दौरान असंतोष के 65 प्रतिशत से अधिक मामले परिसर से बाहर के मुद्दों पर थे। लगभग 24 प्रतिशत मामले शैक्षणिक मुद्दों के कारण थे और लगभग 11 प्रतिशत मामले अन्य कारणों से थे। राज्यवार विश्लेषण से पता चला है कि आंध्र प्रदेश में 66 मामले, असम में 25, बिहार में 44, दिल्ली में 128, गुजरात में 7, हरियाणा में 6, हिमाचल प्रदेश में 7, जम्मू कश्मीर में 15, तमिलनाडु में 51, महाराष्ट्र में 14, उड़ीसा में 22, पंजाब में 50, राजस्थान में 18, उत्तर प्रदेश में 109 और पश्चिम बंगाल में 101 मामले घटित हुए। इस अध्ययन ने दर्शाया की 1968-71 के दौरान लगभग सभी राज्य हिंसा से प्रभावित थे। इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता है कि पिछले दशक के दौरान परिसरों में आंदोलनों के कई मामले दर्ज किए गए।

असंतोष के कारणों को समाप्त करने के लिए, कुछ विशिष्ट अध्ययन किए गए थे।

i) एक स्रोत के अनुसार असंतोष का अंतर्निहित कारण युवाओं में निराशा की सामान्य भावना है। शिक्षित छात्रों में यह विश्वास घर करता जा रहा है कि वर्तमान व्यवस्था की सरारी नीतियों में गुण और योग्यता की उपेक्षा की जाती है।

ii) छात्र असंतोष का अन्य महत्त्वपूर्ण कारण छात्र यूनियन संगठन के साथ राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप रहा है। कई अध्ययनों ने इन विचारों का समर्थन किया है कि छात्र शाखा जैसे युवा कांग्रेस, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, एस॰ एफ॰ आई॰ आदि के माध्यम से छात्रों को विभिन्न राजनीतिक दलों का सहयोग मिलता है। ये कई तरीकों में हिंसा भड़काने के लिए उत्तरदायी रहे हैं। राष्ट्रीय राजनीतिक दल और उनके स्थानीय निकायों में आने वाले चुनावों के लिए अपनी शक्ति परीक्षण के क्षेत्र के रूप में छात्रों का उपयोग करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

iii) असंतोष को प्रोत्साहित करने वाला तीसरा कारण बेरोजगारी है। यह सुपरिचित तथ्य है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली उपयुक्त रोजगार की गारंटी नहीं देती है। इसके बहुत से कारण हैं। उचित मार्गदर्शन, प्रशिक्षण, आजीविकोन्मुखी कार्यक्रम की कमी और रोजगार की अनुपलब्धता।

हाल ही में प्रवीण विसारिया (1985) द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार यह सुस्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में प्रयासों के बावजूद जनसंख्या में वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारी की मात्रा भी लगातार बढ़ती जा रही है। विसारिया ने यह निष्कर्ष निकाला है कि शहरी क्षेत्रों में बेरोजगार महिलाओं से बेरोजगार पुरुषों की संख्या अधिक है।

इस अध्ययन ने ग्रामीण पुरुषों की बेरोजगारी दर में सीमांत वृद्धि का संकेत दिया है परंतु ग्रामीण महिलाओं की बेरोजगारी दर में तेजी से कमी का उल्लेख किया है। युवा जनसंख्या (15-24 आयु-वर्ग) के लिए यह प्रवृत्ति समान है। शहरी युवकों और युवतियों दोनों में बेरोजगारी की दर में वृद्धि हुई है और ऐसा ही ग्रामीण युवकों में भी देखा गया है।

छात्र असंतोष के निहितार्थ

भारत में कुल बेरोजगार जनसंख्या में युवा अपेक्षाकृत काफी अधिक है। बेरोजगारी के कई कारण हैं और वे जनसंख्या वृद्धि, आर्थिक विकास और शिक्षा प्रसार से बहुत समय से जुड़े हुए हैं। युवाओं में बेरोजगारी वृद्धि के परिणाम स्वयं युवाओं के लिए और उनके परिवारों के लिए होते हैं। यह संकेत दिया गया है कि शिक्षित युवाओं की संख्या में वृद्धि और शिक्षा की गुणवत्ता की तटस्थता ने इसको और भी बिगाड़ दिया है, खासतौर पर छात्र असंतोष के लिए यह जिम्मेदार है।

युवा समस्या के कुछ संभावित दृष्टिकोण

सच्चिदानंद (1988) के अनुसार युवाओं के प्रश्न पर चर्चा के लिए दो संभव और संपूरक दृष्टिकोणों पर विचार किया जा सकता है। यह या तो व्यक्ति विशिष्ट अथवा सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य जिसमें वह रहता है, पर आधारित हो सकता है। विभिन्न प्रदेशों में युवाओं की विशेषताओं में विद्यमान अंतर के बावजूद और समान समस्याओं की पहचान की जा सकती है। पहला, जनसंख्या में ग्रामीण युवाओं का प्रतिशत काफी ऊंचा है।

इस क्षेत्र को अपनी भूमिका अदा करने के अवसर दिए जाने चाहिए। इस संबंध में शिक्षा का अभाव एक बड़ी बाधा है जबकि शिक्षा स्वयं से ही सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लाने में सक्षम नहीं है। फिर भी, यदि परिवर्तन लाना है तो यह अपेक्षा की जाती है कि शैक्षिक अवसरों की पूर्ति के जाए। इसलिए भावी कार्यक्रम शिक्षा नीतियां विद्यमान क्षेत्रीय और स्थानीय परंपराओं की तुलना में लचीली और अधिक सुग्राह्य होनी चाहिए। इसके अलावा, विकास की गलत प्रक्रिया द्वारा युवा सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं। इसलिए भावी शैक्षणिक नियोजन में अध्ययन से कार्य को जोड़ने की स्थिति तथा रोजगार की संभावना पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए।

दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा देश की सामान्य जनसंख्या संरचना में युवाओं की स्थिति से संबंधित है। भारत में पिछले पांच दशकों में जीवन संभाव्यता में काफी वृद्धि हुई है। अगले बीस वर्ष में इसके और अधिक बढ़ने की आशा है। इसलिए युवाओं और पीढ़ी के बीच स्पष्ट विभाजन आवश्यक होगा। समाजशास्त्रीय शब्दों में इसका अभिप्राय है–दो व्यापक परंतु स्पष्ट समूह: वृद्ध और युवा। चूंकि भूमिका और उत्तरदायित्व व्यक्तियों से जुड़े होते हैं, इसमें एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में सत्ता का हस्तांतरण होता है अर्थात् बुजुर्गों से युवाओं में। इसलिए दो पीढ़ियों के बीच विचारों और कार्यों में

संघर्ष और विरोध की संभावना रहती है। इस प्रकार का विरोध भावी वर्षों में सामने आ सकता है। फिर भी, संघर्ष की समस्या को हल करने के तरीके हैं। एक तो परिवार की विचारधारा में यथासंभव परिवर्तन संघर्ष का समाधान कर सकता है। लोकतांत्रिक स्वरूप के पारिवारिक वातावरण से यह संघर्ष टल सकता है।

इसी प्रकार, अन्य सामाजिक संस्थाओं जैसे– नातेदारी और जाति प्रथा में भी आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।

संदर्भ-सूची

- Sachidananda Satapathy: Youth Vision 2020 Towards Building : An India of Our Choice, Serials Pub, 2007
- S.P. Ruhela: Sociology of the Youth Culture in India, Indian, 2001
- S. Narayanasamy: Youth Development in the New Millennium, Discovery, 2003.

वेद पर आधारित भारतीय मनोविज्ञानः एक मनोवैज्ञानिक विवेचन

डॉ० राहुल प्रकाश

मुबारकपुर, मांझी, सारण

भारतीय मनोविज्ञान का मुलाधार वेदों में है। इसका सम्बन्ध अन्य चिन्तनधाराओं में भी है। अतः यह अपेक्षित है कि हम भारतीय मनोविज्ञान को विभिन्न भारतीय चिन्तनधाराओं के परिप्रेक्ष्य में देखें। मनोविज्ञान, जिसे कि भारत में अध्यात्म-विद्या भी कहा जाता है, आध्यात्मिक विकास तथा दिव्य जीवन व्यतीत करने का सशक्त साधन हैं। इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि दर्शन 'क्या' और 'क्यों' आदि प्रश्न का उत्तर देता है। मानव क्या है?, जीवन क्या है? जगत् क्यों है?, आत्मा क्या है? आदि प्रश्नों का समाधान दर्शन में मिलता है। दूरे शब्दों में, दर्शन साध्य पर प्रकाश डालता है और मनोविज्ञान साधन पर। 'आत्मा' की उपलब्धि कैसे हो, यह मनोविज्ञान का विषय है। भारतीय मनोविज्ञान के विशेषकर याग आधारित मनोविज्ञान में उन उपायों की चर्चा है जो 'पुरूष', 'शिव' तथा 'जीव' का याग कराते हैं। इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान का दार्शनिक आधार साध्य-साधन को स्पष्ट करता है।

अब हम भारतीय मनोविज्ञान के वैदिक आधार को लें। वेदों में 'आत्मा' शब्द के प्रायः दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ शरीर की जीवन-शक्ति का सूचक है और दूसरे अर्थ में सम्पूर्ण शक्ति तथा उसके शरीर, इन्द्रियां, मन, अवयव तथा वाणी ग्रहण किया जाता है। आत्मा शब्द वैदिक भाषा में 'अहं' के वाचक के रूप में रूढ़ है। ऋग्वेद में वायु और प्राणतत्व को एक ही माना है और इसलिये वायु द्वारा आत्मा का निर्देश दिया गया है। ऋग्वेद में 'आत्मन्' या 'तमन्' शब्द 'स्वयं' या 'खुद' जैसे निजवाचक सर्वनाम बार-बार आया है। यह आत्मा का तीसरा अर्थ है। कहना न होगा कि आत्मा कि अमरता तथा पुनर्जन्म में विश्वास वैदिक दार्शनिक चिन्तन की एक महत्वपूर्ण देन है। मनोविज्ञान के विकास में जिस 'आत्मा' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये प्रयास किया गया, वह अपने मूल में जीवन-शक्ति प्राण (श्वास) का द्योतक है। फ्रेजर के 'गोल्डन बाऊ' मे भी ऐसे आदिम विश्वासों का उल्लेख है जिसमें आत्मा को एक ऐसा तत्व मानते हैं जो जन्म के पूर्व और मृत्यु के पश्चात् उपस्थित रहता है और श्वास के रूप में नवजात के शरीर में प्रवेश करता है और मृत्यु के पश्चात् उस शरीर को छोड़ देता है। इस प्रकार भारतीय मनोविज्ञान जिस 'आत्मा' की उपलब्धि अथवा 'आत्मसिद्धि' का साधन है, उसका प्रथम उल्लेख हमें इसके वैदिक आधार पर मिलाता है। उपनिषदों मे 'आत्मा' के स्वरूप पर गहराई से विचार किया गया है। फिर भी हमें यह मानना होगा कि भारतीय मनोविज्ञान में वे तत्व हैं, जिसका वेदों से सम्बन्ध है।

भारतीय मनोविज्ञान का उपनिषदीय आधार

उपनिषदों में आत्मा सम्बधी विचारों से यह ज्ञात होता है कि आत्मा ही सब कुछ है। जगत् तथा मानव उसी आत्मा से उत्पन्न हुए है तथा वे उसी के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार का जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण मानव व्यवहार को प्रभावित करता था और उसके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में वह प्रौढ़ता तथा एकता होती थी, जो आजकल प्राय: दिखाई नहीं देती। औपनिषद् मन विराट् का अंश था और इसी के फलस्वरूप व्यक्ति की मनोविज्ञानिक रचना में भी समता और एकता की प्रधानता थी।

संक्षेप में उपनिषदों में मनोविज्ञान के तत्व निम्नलिखित है:

1. सब शक्तियों के मूल में एक ही सत् अक्षर तत्व है। विश्व सबसे भिन्न नहीं है। विश्व उसी में विलीन होता है। नाम, रूप (आकार) तथा कर्म यही विश्व का स्वरूप है। इसकी एकता ही वास्तव में आत्मा है।
2. आत्मा वह है, जिससे सब कर्मों का उत्थान होता है। आत्मा ही सबको प्ररित करने वाली शक्ति है। मानव के मन तथा इन्द्रियों को वही प्रेरणा देती है।
3. विश्व के वैचित्र्य में भी एक सुसंगति दिखाई देती है। उसमें वस्तुएं एक दुसरे पर निर्भर रहती है। इसका कारण सबका नियंत्रण करने वाली शक्ति की एकता में ही मिल सकता है।
4. सूर्य, चन्द्रा, तारे, पर्जन्य, वायु आदि अचेतन वस्तुएं अथवा वनस्पति, प्राणी, पशु तथा मनुष्य चेतन वस्तुओं में उसी एक अन्तर्यामी का निवास है, वही प्रत्येक वस्तुओं को नियन्त्रित करता है।
5. भोक्ता तथा भोग्य का भेद स्वयं निर्मित है।
6. जनक शक्ति मिथुनात्मक है। स्त्री तथा पुरूष का मिथुन ही जनक आत्मा है। आत्मा का जनन करने वाला स्वरूप मिथुन रूप ही है।
7. विश्वात्मा ही मनुष्य से विकसित हुआ है। मनुष्य ही धर्म तथा नैतिक कर्त्तव्यों का अधिष्ठान है। सब कर्त्तव्य उसके लिये ही निर्मित किये गये है।
8. ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, प्राण, मन तथा समुचा शरीर उसी प्राज्ञ आत्मा के आविष्कार है। वही जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का रूप धारण करता है।
9. वह आत्मा अवस्थात्रय से अलिप्त एवं असंग है। वह अज, अमर तथा अजर है। वह विश्वातीत है। सम्पूर्णता ही उसका लक्षण है।
10. आत्मा द्वैत और स्वयंसिद्ध द्रष्टा है। यही स्वरूप मोक्ष का सहायक है। आत्मा का स्वभाव है। स्वतंत्र सर्वतन्त्र तथा पुणता।

भगवद्गीता में मनोविज्ञान के तत्व

गीता में इन्द्रियों, मन बुद्धि आदि का वर्णन हैं। स्थित प्रज्ञ के बारे में गीता में सुन्दर विवरण है।

व्यक्तित्व के प्रकार

व्यक्तित्व के तीन गुण: सत्त्व, रजस् तथा तमस् स्थितप्रज्ञ व्यक्तित्व: व्यक्ति जो भी कुछ करता है। वह सत्व, रजस्, और तमस् गुणों से प्रभावित होता है। किसी कार्य में तत्व गुण की, किसी में रजोगुण की तथा किसी में तमोगुण की प्रधानता होती हे। सत्व गुण प्रधान कार्य तथा व्यवहार की विशेषता यह है कि इसमें स्वार्थ का अभाव तथा दूसरों की भलाई की भावना निहित होती है। लेकिन सात्विक व्यक्ति सुख और ज्ञापन मे आसक्त रखता है। दूसरे शब्दों में, सत्वगुण नि:स्वार्थ तथा निर्मल होते हुए भी सुख और ज्ञान के प्रति उन्मुख होता है।

रजोगुण की प्रधानता जिस व्यक्ति में होती है, उसके कार्य तथा व्यवहार स्वार्थपूर्ण होते हैं। उसकी चेष्ठाएं चंचल होती हैं और वह विषय भोग का इच्छुक होता है। तमोगुण की प्रवृत्ति वाला रहता है। इस प्रकार गुणों के आधार पर तीन तरह के व्यक्तित्व का वर्णन किया गया है। लेकिन गीता उसे श्रेष्ठ व्यक्तित्व वाला वर्णन मानती है जो गुणातीत है। दूसरे शब्दों में इन तीन गुणों के प्रभावो से युक्त होकर जो व्यक्ति, "मान और अपमान में सम है एवं मित्र और बैरी के पक्ष में भी सम है और जिसमें कर्तापन का भाव नहीं है, वह गुणातीत है।"

भग्नाश तथा अग्रधर्षण

आधुनिक, पश्चिमी मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि जब किसी व्यक्ति कि आशाएं भग्न होती है, तब वह अग्रधर्षी होता है। दूसरे शब्दों में, अग्रधर्षण के मूल मे भग्नाशा हाती है। भग्नाशा (Frustration) ही अग्रधर्षण (Aggression) का कारण है। लेकिन भग्नाशा के क्या कारण हैं, इसका उत्तर आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार यह है कि जब व्यक्ति की आवश्यकताएं और आशाएं पूरी नहीं होती, तब वह भग्नाश होता है। उसका यह मत भी है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं, आकांक्षाओं आदि से प्ररित होकर कार्य करता है। इसके अभाव में व्यवहार की सम्भावना नहीं है। लेकिन गीता में आशारहित, निष्काम भाव से कार्य करने की बात कही गई है। जब व्यक्ति किसी आशा से कार्य करता है, तब भग्नाशा की सम्भावना नहीं होती और भग्नाशा के अभाव मे अग्रधर्षण का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार गीता मनोविज्ञान में भग्नाशा के मूल कारणों को दूर करने के लिये निष्काम भाव के निष्काम का प्रतिपादन किया गया है।

संदर्भ-सूची

- William McDougall: A Text Book of Psychology, Discovery Publishing, 1999
- Edwin G. Boring: A History of Experimental Psychology, Cosmo for Genesis Pub, 2008
- Ram Nath Sharma and Rachana Sharma: Advanced Applied Psychology, Atlantic, 2004
- Neelam Yadav: A Handbook of Educational Psychology, Anmol, 2003

मादा भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण

जितेन्द्र कुमार सिंह

डी०बी०एस०डी० डिग्री कॉलेज, कदना, गड़खा, सारण

भारतीय समाज वर्तामान में एक अजीब कशमकश के दौर से गुजर रहा है। एक तरफ हमारा समाज आधुनिकता का चादर ओढ़े बडी तेजी के साथ विकसित देशों की सस्कृति को छू रहा है तो दूसरी तरफ हमारी सोंच में आज रूढ़ीवादी और परम्परावादी विचार पल रहे हैं। इस कारण भारतीय समाज एक मनोसामाजिक दुविधा का शिकार होता जा रहा है, जिससे कई तरह की समस्याएं हमारे सामने पैदा हो रही हैं। मादा भ्रूण हत्या भी उनमें से एक गंभीर समस्या है।

आज जब देश में महिलाओं की आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक भूमिका के निरंतर सशक्त होने के संकेत मिल रहे हैं ऐसे में लड़कियों के गिरते लिंग अनुपात को कैसे समझा जाय। 1991-2000 के दशक में केरल को छोड़कर देश के सभी राज्यों में लिंग अनुपात में गिरावट यह प्रदर्शित करता हैं कि यह स्थानीय घटक का परिणाम न दो कर देशव्यापी घटकों का परिणाम है। आखिर वह कौन से घटक है जो इस समस्या को बढ़ाते है। इसे जानने के लिए भारतीय समाज में मनो सामाजिक दशा को समझने की जरूरत है। मादा भ्रूण हत्या के पीछे कई प्रकार की सोचें काम करती है। अर्थात् इसके सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, सास्कृतिक एवं आर्थिक कारण हैं। हमारे समाज के एक हिस्से में फैशन विक का आयोजन होता है जिसमें लड़किया नाम मात्र का कपड़ा पहने रैंप पर इठलाती नजर आती है तो दूसरी तरफ समाज का ऐसा हिस्सा भी है जो लड़कियों को जन्म से पहले इसलिए मार देता है कि बड़ी होकर वे कभी कभी परिवारों के लिए कलंक बन जाती है। उनसे बड़े अपराध पुरूष करते हैं मगर पंचायत से लेकर उपर अदालत तक माता पिता जो शर्मीन्दगी लड़कियों के मामले में करता है वह लड़कों के मामले में नहीं करता।

इस प्रकार यह विरोधाभासी नजरिया हमारे समाज में एक गंभीर समस्या पैदा कर रहा है। धार्मिक दृष्टिकोण से कर्म-कांडीय व्यवस्था, परम्परागत रूढ़ियां तथा जनरीतियां, पुत्र द्वारा वंश आगे बढ़ाने की अवधारणा, मरने के बाद मुखाग्नि देने तथा क्रिया क्रम यादि में पुत्र के हाथों सम्पन्न कराने की प्रथा इत्यादि इस समस्या को बढ़ावा देता है। तुलनात्मक अध्ययन में पाया गया है कि वैसे धार्मिक समुदाय के लोग जो कर्म-कांडीय व्यवस्था पर ज्यादा बल देते है। उन समुदायों में मादा भ्रूण हत्या की दर अधिक होती है। अत: धार्मिक मान्यताएं भी इस समस्या में अहम रोल अदा करती है। आर्थिक दृष्टिकोण से जो परिवार अपने को सम्पन्न नही पाता उसके लिए लड़की की शादी एक गंभीर चुनौती होती है। और लड़की को अपने लिए अभिशाप मान लेते है। इसका भरपुर फायदा

चिकित्सकों का एक बड़ा वर्ग धन कमाने के रूप में उठाता है। आधुनिक तकनीक अल्ट्रा सोनोग्राफी एम्निसेटिसिस तथा अन्य तकनिकों के जरिए गर्भ में पल रहे शिशु के लिंग का पता करके कन्या भ्रूण पाये जाने पर उसकी हत्या किये जाने का गैर कानुनी सिलसिला भारत में बड़ी तेजी के साथ फैला है। जिसकी परिणति विकराल समस्या के रूप में उभरी है। जिसमें पुरूषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या में भारी कमी आयी है। वर्ष 1981 की जनगणना में यह अनुपात 1000:972 था, जो 1991 में घटकर 1000:927 रह गया। वर्ष 2001 की जनगणना में महिलाओं की स्थिति में तो कुछ सुधार हुआ।

परन्तु छः साल तक के शिशुओं के लिंग अनुपात के बारे में जो जानकारी मिली उसके मुताबिक कन्या भ्रूण हत्या के दुष्परिणाम में और वृद्धि हुई। इस मामले में पंजाब, हरियाणा, चंडीगढ़ को बरमुडा त्रिकोण कहा जाता है जहां लाखों मादा भ्रूणों का सफाया कर दिया जाता है। पंजाब में 1991 में 1000 लड़कों में सिर्फ 875 लड़कियां थी जो अब 793 रह गयी है।

भारत में मादा भ्रूण हत्या की समस्या से निजात पाने के लिए कोई गंभीर कदम नहीं उठाये गए न तो लोगों में मनो-समाजिक चेतना पैदा करने की कोशिश की गयी और न ही सख्त कानून का प्रावधान किया गया। वैसे जनवरी 1996 से प्रसव पूर्व परिधण तकनीक अधिनियम 1993 तथा संशोधित 2002 के अन्तर्गत गर्भस्य शिशु के लिंग निर्धारण पर पाबंदी है। परन्तु सन् 1971 में एम. टी.पी. (चिकित्सकीय गर्भपात अधिनियम) पारित कर भारत महिलाओं को सुरक्षित और वैध तरीकों से गर्भ समाप्त करने की सुविधा देने वाले अग्रणी देशों की कतार में शामिल तो हो गया लेकिन आधुनिक सोच और मनोदशा बदलने में असफल रहा।

अपनी ही होने वाली बेटी से पीछा छुड़ाने वाले दम्पति में माताएं भी शामिल होती हैं, वे लड़कियों को भार मानती है और उससे कोई अप्रिय बात जुड़ने पर परिवार की बदनामी और आंशकित ग्लानि से बचने का उन्हें यही मार्ग दिखायी देता है। दूसरा पक्ष ये है कि परिवार में पति या सास-ससुर के दबाव में आकर उन्हे गर्भपात कराने पर मजबूर होना पड़ता है, जिसका दुष्परिणाम भी महिलाओं को ही उठाना पड़ता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक बार-बार गर्भपात कराने के कारण भारत में हर साल 15-20 हजार महिलाओं की मौत होती है। दुनिया भर में होने वाले 15 करोड़ अवैध गर्भपातों में से सबसे ज्यादा 40 लाख भारत में होते है। भारत में स्वास्थ्य संबंधी मामलों में सर्वाधिक अनदेखी गर्भपात की होती है। अर्थात् भ्रूण हत्या में गर्भ में शिशु की हत्या होती है और माँ भी असमय मृत्यु को प्राप्त होती है। महिलायें दोनों तरफ से मारी जा रही है। अगर समय रहते इस पर ध्यान नही दिया गया तो मानव जाति के लाले पर जायेंगे। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इस गंभीर समस्या के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा की जाये। महिलाओं और पुरूषों में समानता लाने के लिए मानसिक चिंतन में बदलाव लाने पर बल दिया जाये। लड़कियों को आर्थिक और सामाजिक तौर पर सुदृढ़ करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिए समाज के मध्यम वर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा। यह वर्ग सुनिश्चित और निर्भय होकर यह मान लें कि कन्या न तो आर्थिक बोझ है और न ही सामाजिक। तभी कन्या भ्रूण हत्या रोकी जा सकती है।

भारतीय समाज मुख्यत: तीन हिस्सों में बंटा हुआ है- उच्च वर्ण, मध्यम वर्ण एवं निम्न वर्ण। तीनों ही वर्गों की रहन सहन, रीति-रिवाज, शिक्षा-दीक्षा, तौर-तरीके और मान्यताएं अलग-अलग है। इनकी सुविधाएं भी अलग-अलग है। प्राय: देखा जाता है कि उच्च वर्ग के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा रहन-सहन अपेक्षाकृत निम्न वर्ग एंव मध्यम वर्ग से अलग होता है।

इस पृष्ठभूमि में तीनों ही वर्गों के सामाजिक समस्याओं के प्रति भी अलग-अलग दृष्टिकोण देखे गये हैं। मादा भ्रूण हत्या एक सामाजिक समस्या है, जिसके ऊपर वर्णित तीनों ही वर्ग समान रूप से न तो प्रभावित होता है और न समान दृष्टिकोण ही रखता है।

अत: यह प्राक्कल्पना की जाती है कि उच्च वर्ण के नागरिकों में निम्न एवं मध्यम वर्ण के नागरिकों की अपेक्षा मादा भूर्ण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

विधि- जनसंख्या में मनो-सामाजिक स्थिति का भ्रूण हत्या के प्रति मनोवृति मापन हेतु भ्रूण हत्या मनोवृत्ति मापनी ठाकुर एवं सिंहा 2007 द्वारा निर्गत अन्वेषिका का चालन किया गया।

क्षेत्र- मुजफ्फरपुर एंव वैशाली के शहरों एवं ग्रामीण इलाकों के नागरिकों पर अध्ययन किया गया।

प्रतिदर्श- मुजफ्फरपुर एवं वैशाली के शहरी एंव ग्रामीणवासी 300 नागरिकों को अध्ययन क्षेत्र में शामिल किया गया और यह देखा गया कि मनो-सामाजिक स्थिति का प्रभाव मादा भ्रूण हत्या पर समाज के तीनों वर्गों पर एक सा है या अलग-अलग है।

यंत्र एवं मापनी वर्तमान अध्ययन में किए गये प्रयोजनों की सामाजिक स्थिति को मापने के लिए व्यक्तिगत सूचनापत्र प्रेषित किया गया, जिसमें प्रयोजनों से वर्ण संबंधित प्रश्न पूछे गये। वर्ण का निर्धारण निम्न प्रकार से किया गया : -

(1) उच्च वर्ण:- ब्राह्मण, भूमिहार, क्षत्रिय, कायस्थ, सैयद, शेख आदि।

(2) मध्यम वर्ण:- यादव, वैश्य, कुर्मी, अंसारी, जोलहा, धुनिया

(3) निम्न वर्ण:- हरिजन, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति

उपर्युक्त जो भी लागू हो, आप उसके सामने टिक चिह्न लगा दें। इस प्रक्रिया से प्रयोज्यों की सामाजिक स्थिति का मापन किया गया।

प्रयोज्यों के सामाजिक स्थिति मापन के पीछे उद्देश्य यह था कि किसी सामाजिक समस्या के प्रति उच्च वर्गों में आधुनिक सोच एवं निम्न वर्गों में परम्परागत सोच पायी जाती है। ऐसी धारणा अकसर ही पायी जाती है। इस बात की पुष्टि करना भी उद्देश्य था।

सामाजिक वर्ण तथा मादा भ्रूण हत्या मनोवृत्ति

विभिन्न वर्णों को निर्धारित करने के लिए तीन सौ नागरिकों के प्रतिदर्श पर व्यक्तिगत सूचना पत्र में एक प्रश्नावली दी गयी। इस प्रश्नावली के आधार पर प्रतिदर्श तीन भागों मे बंट गया। उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग।

इन तीनों वर्गों के नागरिकों से संबंधित प्राक्कल्पना में निम्न वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा उच्च वर्ग के नागरिकों में मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जाएगी।

उच्च मध्यम एवं निम्न सामाजिक वर्गों के मादा भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का तुलनात्मक विवेचन

प्रतिदर्श में वर्णित तीन सौ नागरिकों को तीन समुह उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग में बांटा गया। तीनों ही समूह में प्रयोज्यों की संख्या क्रमशः 110, 84 एवं 106 प्राप्त हुई (कुल संख्या 300) इन तीनों ही समूह के अलग-अलग मादा भ्रूण हत्या मनोवृत्ति मापनी प्राप्तांकों का विवरण तथा उनके मध्यमान प्रामाणिक विचलन तथा अनुमति का तुलनात्मक विवेचन सारणी संख्या-1 में नीचे दिये तालिका में वर्णित है।

सारणी-1

वर्ण समूह	संख्या	मध्यमान	प्र.वि.	मध्यमानों की प्र. त्रुटि	मध्यमानों का अन्तर	मध्यमानों के अन्तर की प्रमाणिक त्रुटि	टी. अनुपात	सार्थकता
क उच्च वर्ण	110	198.71	15.83	1.49	9.57	2.48	3.87	.01
ख मध्यम वर्ण	84	192.18	17.49	1.94	8.56	2.45	3.87	.01
ग निम्न वर्ण	106	190.12	20.47	1.99	1.06	2.78	.399	असार्थक

भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांक

ऊपर दिये तालिका से तीनों ही सामाजिक समूह की सांख्यिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि उच्च वर्ग के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 198.71, मध्यम वर्ग के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति का मध्यमान 192.18 तथा निम्न वर्ग का मध्यमान 190.12 है। तीनों ही समूह के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उच्च एवं निम्न समूहों के पृथक् तुलना से ज्ञात होता है कि उच्च एवं निम्न वर्ग के नागरिकों के मध्यमानों का अन्तर 8.69 है यह अन्तर बहुत अधिक है इन दोनों से मध्यमानों के अन्तर का अनुपात जांच मूल्य 3.50 है जो अब DF के लिए .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित है। नागरिकों के उच्च एवं मध्यम वर्ग समुह के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति के प्राप्तांकों के मध्यमानों का अन्तर 6.53 है।

स्पष्ट है कि मध्यम वर्ग के नागरिकों में उच्च वर्ग समूह की अपेक्षा भ्रूणहत्या मनोवृत्ति कुछ कम पायी जाती है। दोनों ही समूह के मध्यमानों की सार्थकता की जांच के अनुसार ही अनुपात मूल्य 3.87 प्राप्त हुआ दोनों 192 DF के लिए 0.01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है।

अतः यह निर्विवाद सत्य प्रमाणित हुआ कि उच्च वर्गसमूह के नागरिकों में भ्रूण हत्या के पक्ष में दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। जहां तक निम्न वर्ग समूह एंव मध्यम वर्ग समूह के सांख्यकी तुलनात्मक विवेचन का प्रश्न है यह स्पष्ट होता है कि दोनों वर्ग समुदायों के मध्यमानों का अन्तर 2.06 है यह अन्तर कम है। इन दोनों की समूहों का मध्यमानों का अनुपात जांच मूल्य 0.339 प्राप्त हुआ जो DF 188 के लिए विश्वसनीयता के किसी भी स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। अतः यह मध्यमान अन्तर असार्थक है। अर्थात् इन दोनों ही समूह की भ्रूण हत्या मनोवृत्ति में अधिक अन्तर नहीं है।

वर्ण के आधार पर नागरिकों के जो तीन समूह निर्धारित किये गये उनके अलग-अलग भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांको के मध्यमानों के अन्तरों को सार्थकता एवं प्राप्तांकों की अन्तर्क्रिया को जांचने के लिए प्रसरण विश्लेषण विधि को चालित किया गया, जिसका परिणाम निम्न सारणी-2 में वर्णित है।

सारणी-2

प्रसरण श्रोत	डी. एफ.	वर्गों का योग	प्रसरण	एफ. अनुपात	सार्थकता स्तर
प्रसरण	2	186.05	93.53	4.104	0.5
डी. एफ.	297	104558.89	353.05		

उपरोक्त तीनों ही वर्ग समूह के नागरिकों के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति के सबन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुए:-

(1) प्राक्कल्पना किया गया था कि उच्च वर्ण के नागरिकों में निम्न एवं मध्यम वर्ण के नागरिकों की उपेक्षा मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जाएगी। जो सही साबित हुआ।

(2) यह भी प्रमाणित हुआ कि मध्यम एवं निम्न वर्ग के नागरिकों में मादा भ्रूणहत्या मनोवृत्ति में अधिक विचलन नहीं पाया जाता है।

विश्लेषणात्मक निष्कर्ष

समाज में तीनों वर्ग समूह के नागरिकों का मादा भ्रूण हत्या के प्रति उनकी मनोवृत्ति का अध्ययन करना इस पत्र का विषय रहा है। तीनों वर्ग के तीन सौ नागरिकों के समुह को क्रमश: उच्च वर्ण, मध्यम वर्ण एवं निम्न वर्ण समूह की संज्ञा दी गयी।

तीनों ही समूह में प्रयोज्यों की संख्या क्रमश: 110,84,106 दी। वर्ण समूहों को मनोवृत्ति निर्धारक तत्व के रूप में अध्ययन करने का उद्देश्य यह था कि समान्यत: ऐसा माना जाता है कि उच्च वर्ण के लोग अधिक सुविधा भोगी होते है। उन्हे परम्परागत सामाजिक त्रुटियों या मान्यतायें ग्रसित नहीं कर पाती। वे समाज को अपनी इच्छा अनुसार प्रभावित करते हैं। ठीक इसके विपरीत निम्न वर्ण के लोग समाज के उपेक्षित वर्ग होते हैं। जिसकी समाज में मान्यता नहीं रहती, उसकी बात को कोई नहीं सुनता। ऐसा व्यक्ति न तो समाज को प्रभावित करता है और न परम्परागत मान्यताओं का खुलकर विरोध ही कर सकता है।

इस सामाजिक समस्या के प्रति दोनों समूह के दृष्टिकोण में भारी अन्तर पाया जाता है। प्राप्त परिणाम जो परिकल्पना से परिलक्षित है कि उच्च वर्ण समूह के नागरिकों में भ्रूण हत्या की मनोवृत्ति के प्राप्तांको का मध्यमान 198.71 है तथा निम्न वर्ण समूह के नागरिकों के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति का मध्यमान 190.12 है। इस प्रकार दोनों समूह के मध्यमानों में काफी अन्तर है जिसका टी अनुपात 3.50 है। जो 0.01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है। अत: उपरोक्त सारी विवेचणाओं से यह निष्कर्ष प्रमाणित हुआ कि निम्न एवं मध्यम वर्ण के नागरिकों की अपेक्षा उच्च वर्ण समूह के नागरिकों में मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण पाया जाता है।

संदर्भ-सूची

1. Eysenck J. H. (1959)- The Mannual of the Maudsby Personality inventory London: University of London Press.
2. Eysenck H. S. Eysenck S. B. G. (1975) - Mannual of the Eysenck Personality Questionnaire, Hodder and Stoughton.
3. Gareffe. H. E. (1955) - Satisfaction in Psychology and Education (fourth edition), Longman, Green and Co., New York.
4. Thakur & Sinha Asha (2007)- Foeticide Attitude Scale, B. R. A. B.U., Muzaffarpur.
5. Goode, W. J. & Hatt. P. K. (1952) - Methods in Social research, New York, Mc Craw Hill.
6. Murphy, G. & Likert R (1938)-Public opinion and the individual New York, Harper.
7. Dr. Kumar Sanjeev (2007) - Female Focticide : A Blot on Society.

शिक्षा मनोविज्ञान का शैक्षिक विवेचन

डॉ० भगवानजी उपाध्याय

अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा

डेविस (Davis) ने शिक्षा मनोविज्ञान के शिक्षा में योगदान को इस प्रकार दर्शाया है- "अनेक मनोविज्ञान परीक्षणों की सहायता से छात्रों की क्षमताओं तथा व्यक्तिगत भेदों की समीक्षा मे योगदान दिया है। शिक्षा मनोविज्ञान मे छात्रों के प्रारम्भिक विकास तथा परिपक्वता (Maturation) को समझने में योगदान दिया है।"

ड्रिवर (Drever) ने शिक्षा मनोविज्ञान को शिक्षा का आवश्यक तत्त्व बताया है। शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों निम्न प्रकार से योगदान दिया है।

छात्रों का व्यवहार तथा शिक्षा मनोविज्ञान (Educational Psychology and behaviour of the Students): शिक्षा को माटे अर्थो में वांछित परिवर्तन लाने होते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा मे लगें व्यक्तियों की सहायता करता हैं। कि किस प्रकार व्यवहार मे किस प्रकार के परिवर्तन लाए जा सकते हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा के उद्देश्य (Educational Psychology and Aims of Education): शिक्षा के उद्देश्य निर्माण करने में दर्शनशास्त्र की विशेष भूमिका रहती है। परन्तु इन उद्देश्यों को शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए कैसे निर्धारित किया जाए, इस कार्य मे शिक्षा मनोविज्ञान सहायक होता है। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति में भी सहायता प्रदान करता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा के व्यक्तिगत भेदों पर बल *(Educational Psychology and Emphasis on Individual Defferencces)* छात्रों में अनेक प्रकार की व्यक्तिगत विभिन्नताएँ होती हैं। शिक्षा मनोविज्ञान शिक्षा प्रक्रिया में इन भेदों को जानने तथा इसके सन्दर्भ में उचित विधियाँ अपनाने में सहायता देना हैं।

छात्र केन्द्रित शिक्षा (Child Centred Education): शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षण विधियों को छात्र केन्द्रित करने का बल दिया है। आज शिक्षा में कार्यरत सभी वर्ग इस तथ्य की महत्ता पर ध्यान देते हैं।

मनोविज्ञान तथा पाठ्यक्रम (Educational Psychology and Curriculum): पाठ्यक्रम निर्माण में शिक्षा दर्शन तथा सामाजिक दर्शन का विशेष महत्त्व है, परन्तु विभिन्न स्तरों पर अध्ययन सामग्री पर स्तर किस प्रकार का हो, इसमे शिक्षा मनोविज्ञान मार्गदर्शन करता है।

शिक्षा मनोविज्ञान पाठ्यक्रम में पाठान्तर क्रियाएँ (Educational Psychology and Co-curricular Activities): शिक्षा में पहले विषयों के अध्ययन पर जोर दिया जाता था। परन्तु शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव से अनेक प्रकार के शैक्षिक कार्यक्रमों की स्कूलों में व्यवस्था की जाती है।

शिक्षा मनोविज्ञान, पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य शिक्षण-अधिगम सामग्री Educational Psychology, Textbooks and other Teaching Learning Material): शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण पाठ्य पुस्तकों तथा अन्य सामग्री को रोचक तथा बोधगम्य बनाया जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा समय-सारणी *(Educational Psychology and time Tabel):* शिक्षा मनोविज्ञान के प्रभाव के परिणामस्वरूप समय सारणी बनाते समय थकान तथा विविधता आदि पक्षों को ध्यान में रखा जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अनुशासन (Educational Psychology and Discipline): शिक्षा मनोविज्ञान दर्शाता है कि किस प्रकार अनुशासन को आत्मानुशासन तथा रचनात्मक बनाया जा सकता है। अनुशासन के विभिन्न पक्षों पर अलग से चर्चा की गई है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अन्य विधियाँ (Educational Psychology and Teaching Methods): सम्भवत: शिक्षा मनोविज्ञान का शिक्षा प्रक्रिया में सबसे अधिक प्रभाव शिक्षण विधियों पर पड़ा है। अब अनेक प्रकार के शिक्षण विधियों को प्रयोग में लाया जा रहा है ताकि शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया रोचक तथा प्रभावशाली हो सके। छात्र इस प्रक्रिया को बोझ के रूप में न ले तथा छात्रों की अधिक से अधिक इसमें भागेदारी हो।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा श्रव्य-दृश्य साधन Educational Psychology and Audio-visual Aids): परम्परागत शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया में 'बोलने तथा चाक' *(Talk and Chalk)* प्रणाली का प्रभाव था। परन्तु अब सभी इन्द्रियों के प्रभावी प्रयोग पर बल दिया जाता है तथा अनेक प्रकार के श्रव्य-दृश्य सहायक साधनों का प्रयाग किया जाता है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा स्कूल-व्यवस्था (Educational Psychology and School Management): शिक्षा मनोविज्ञान तथा शिक्षा व्यवस्था में प्रभावी मानवीय सम्बन्धों पर बल देता है। स्कूल का मुख्य अध्यापक निरंकुश न होकर अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों को सहयोगी जानकर स्कूल व्यवस्था में उनको उचित स्थान देता है। 'डर' के स्थान पर 'मानवता' के मूल्य को प्राथमिकता दी जाती है।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अनुसंधान (Educational Psychology and Research): शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा किए जा रहे अनेक प्रकार के परिणामस्वरूप शिक्षा अधिगम प्रक्रिया तथा मुल्यांकन में प्रभावी सुधार लाए जा रहे हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान तथा अध्यापक Educational Psychology and the teacher): इस प्रकरण पर अलग से प्रकाश डाला गया है।

अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का महत्त्व

अध्यापक के लिये शिक्षा मनोविज्ञान की अवश्यकता तथा महत्त्व पर विद्वानों के विचार: शिक्षा मनोविज्ञान के ज्ञान के द्वारा अध्यापक बालकों का उचित मार्गदर्शन करने तथा निर्देश देने में दक्षता प्राप्त करता है। शिक्षा मनोविज्ञान एक अध्यापक को सफल बनाने और शिक्षा सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्वों को भली-भाँति निभाने मे बहुत मदद करता है। शिक्षा मनोविज्ञान एक ऐसा उपयोगी विषय है जो अध्यापक की पग-पग पर सहायता करता है। अध्यापक शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन

से बालकों का अनेक प्रकार की परिस्थितियों में उचित सामंजस्य स्थपित करने में मार्गदर्शन कर सकता है। कुछ विद्वानों के विचार नीचे दिये जा रहे हैं:

क्युनटिलीयन (Quintilian): क्युनटिलीयन, जो कि प्रथम शताब्दी (First Century A.D.) में इटली के प्रसिद्ध विचारक थे, ने लिखा है, "अच्छे वक्ता प्रशिक्षित करने के लिए अध्यापक को बच्चों की प्रकृति से परिचित होना चाहिए।

थोमस फुलर (Thomas Fuller 1608-1661) जो कि इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध लेखक पादरी थे, ने कहा है, "एक प्रभावी अध्यापक को बच्चों के स्वभाव का उतना ही अधिक अध्ययन करना चाहिए जितना की पुस्तकों का।

पस्तालोजी, जे. एच. (Pestslozzi, J.H.-1746-1827) ने कहा है "में शिक्षा को मनोवैज्ञानिक रूप देना चाहता हूँ।"

जॉन एडमस *(Johan Adams- 1857-1934)* जो की लन्दन विश्वविद्यालय में शिक्षा-विषय के प्रोफेसर थे, ने इस बात पर बल दिया है।"अध्यापक को जॉन (अर्थात् छात्र) तथा लेटिन (Latin) भाषा दोनों को जानना चाहिए।"

स्किनर (Skinner) के अनुसार, "अध्यापकों के प्रशिक्षण में शिक्षा मनोविज्ञान आधारशिला है।"

ब्लेयर *(Blair)* ने लिखा है, "आधुनिक अध्यापक यदि अपने कार्य मे सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसे ऐसा विशेषज्ञ होना चाहिए जो बालकों को समझें, वे कैसे विकसित होते हैं, सीखते है, तथा कैसे समायोजन करते हैं। मनोवैज्ञानिक विद्वानों (Diagnosis) में प्रशिक्षित व्यक्ति शायद ही अध्यापकों के दायित्वों तथा कार्यो को निभा सकें।"

हेनरी पी. स्मिथ (Henry P. Smith) ने शिक्षा मनोविज्ञान को अध्यापक के लिए आवश्यक निम्न कारणों से बताया है:

अध्यापक को अपने छात्र-छात्रों की प्रकृति, स्वभाव तथा आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त होती है।

अध्यापक को छात्र-छात्राओं की अवस्थाओं, उनसे सम्बन्धित विभिन्न समस्याऔं एवं उपचार का ज्ञान होता है।

अध्यापक को शिक्षा के व्यापक अर्थो एवं उधार उद्देश्यों का बोध होता है।

अध्यापक को छात्रों के व्यवहार में वांछित परिवर्तन लाने के लिए प्रत्येक स्तर पर छात्र की क्षमताओं तथा योग्यताओं आदि का बोध होता है।

अध्यापक की व्यावसायिक क्षमताओं तथा उनकी कुशलता में वृद्धि करने में कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी शिक्षा मनोविज्ञान से होती है।

स्वामी विवेकान्नद ने इस प्रकार कहा है- "सच्चा अध्यापक अपने छात्र के मन की वास्तविक्ता जान लेता है।

श्री अरविन्द ने इस बात पर बल दिया- "बालक की शिक्षा उसकी अपनी प्रकृति के अनुसार हो।

मुख्य तौर पर अध्यापक के लिए शिक्षा मनोविज्ञान का महत्त्व नीचे दिया जा रहा है:

शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा अध्यापक का अधिगमकर्त्ताओं अथवा छात्रों को ठीक प्रकार से समझने मे सहायता प्रदान करता (Assisting the teacher to understand his students properly): बालकों की रूचियों, अभिरुचियों, दृष्टिकोणों तथा क्षमताओं को समझने में शिक्षा मनोविज्ञान द्वारा अध्यापक को पर्याप्त मात्रा में मिलती है। छात्रों की जन्मजात योग्यताओं और अर्जित क्षमताओं के स्तर के ज्ञान से अध्यापक परिचित होकर छात्रों के सम्पूर्ण विकास के लिए कार्य करने में समर्थ होते हैं। *सर जॉन एडम* ने लिखा है कि पढ़ाने की क्रिया के दो क्रम होते हैं- एक 'छात्र' और दूसरा पढ़ाए जाने वाला 'विषय'। जैसे- "अध्यापक राम को इतिहास पढ़ाता है।" इसलिये यदि अध्यापक ने राम को सफलता से पढ़ाया है तो उसे इस क्रिया के दोनों क्रम को अच्छी तरह समझाना होगा, 'इतिहास' को भी और 'राम' को भी। इन दोनों का ज्ञान होना अध्यापक के लिए बहुत जरूरी है।

उचित शिक्षण विधियों एंव तकनीकों के अपनाने में सहायक होना (Assisting the teacher to use Proper Teaching Aids): शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन से अध्यापक यह जान सकता है कि किस प्रकार के शिक्षण विधि किस परिस्थिति में उपयुक्त रहती है। छात्रों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को देख कर किस प्रकार से उन्हें कौन-कौन सी पद्धति से पढ़ाना ठीक रहता है।

सारांश

अधिगमकर्त्ता-मनोविज्ञान अथवा शिक्षा मनोविज्ञान निम्नलिखित कार्यो में शिक्षक को विशेष सहायता देता है:

1. अधिगमकर्त्ता को पहचान-उसकी क्षमताओं का जानना।
2. कक्षा में विभिन्न अधिगमकर्त्ताओं की विभिन्नताओं को जानना तथा तद्नुसार उपयुक्त शैक्षिक वातावरण निर्माण करना।
3. शिक्षण विधियों की उचित जानकारी प्राप्त करना तथा उसका उपयोग करना।
4. अधिगमकर्त्ता का सर्वांगीण विकास करना।

मादा भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

(आर्थिक स्थिति के संदर्भ में)

प्रो० गीता कुमारी

मनोविज्ञान विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा

विभिन्न श्रोतों के अवलोकन एवं अनेक व्यक्तियों के साक्षात्कार के फलस्वरूप यह पाया गया कि मादा भ्रूण हत्या के सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारण हैं। मादा भ्रूण हत्या की पहचान एवं उसके गर्भपात की सस्ती एवं सुलभ व्यवस्था, चिकित्सकों में सामाजिक जिम्मेदारियों का अभाव तथा ज्यादा से ज्यादा धनोपार्जन की लालसा आदि इसके कारण है।

कर्मकांडीय व्यवस्था एवं परंपरागत रूढ़ियां एवं जनरीतियां तथा पुत्र के द्वारा वंश को आगे बढ़ाने की अवधारणा, मुखाग्नि देने तथा क्रिया कर्म आदि में पुत्र के हाथों संपन्न कराने की प्रथा इत्यादि इस समस्या को बढ़ावा देते हैं। विभिन्न धर्मों में मादा भ्रूण पर तुलनात्मक अध्ययन में पाया गया है कि वैसे धार्मिक समुदाय के लोग जो कर्मकांडीय व्यवस्था पर अधिक जोर देते हैं उन समुदायों में भ्रूण हत्या की दर अधिक होती है। अतः धार्मिक मान्यताएं भी इस समस्या में भूमिका अदा करती हैं।

राष्ट्रीय स्तर पर प्राप्त आंकड़े बताते हैं कि पारंपरिक पुत्र मोह और आधुनिक तकनीक के सुविधा के कारण भारतवर्ष में कम से कम पांच लाख कन्या भ्रूणों की हत्या प्रति वर्ष होती है। अल्ट्रासोनोग्राफी, एग्निऑसेटिसिस तथा अन्य तकनीकों के जरिए गर्भस्थ शिशु के लिंग का पता करके कन्या भ्रूण पाए जाने पर गर्भपात के जरिए उसकी हत्या किए जाने का गैर कानूनी सिलसिला भारत में बड़ी तेजी से फैला है और जिसकी परिस्थिति एक विकराल समस्या के रूप में उभरी है, जिसमें पुरुषों के अनुपात में महिलाओं की संख्या में भारी कमी आयी। वर्ष 1981 की जनगणना में यह अनुपात 1000:972 था जो 1991 में घटकर 1000:927 रह गया। वर्ष 2001 की जनगणना में छः साल तक के शिशुओं के लिंग अनुपात के बारे में जो जानकारी मिली, उसके मुताबिक कन्या भ्रूण हत्या के दुष्परिणाम में और वृद्धि हुई। इस मामले में अग्रणी पंजाब में 1991 में 1000 लड़कों की तुलना में 875 लड़कियां थी जबकि यह अनुपात सिर्फ 793 का रह गया है। हरियाणा का अनुपात 906, गुजरात 921, महाराष्ट्र 927 और बिहार 921 है। उल्लेखनीय है कि कन्या भ्रूण हत्या के सबसे ज्यादा मामले क्रमशः महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान एवं पंजाब में हैं।

यहां यह स्थिति इसलिए भी बरकरार है क्योंकि जन्म से पूर्व लिंग पता लगाने वाले बहुतायत क्लिनिक खुल गये हैं। विडंबना यह है कि ये क्लिनिक पंजीकृत तक नहीं हैं। इस स्थिति से उबरने के लिए भारत में कानून भी बनाए गए जिसमें जनवरी 1996 से प्रसव पूर्व परीक्षण तकनीक अधिनियम 1993 यथा संशोधित 2002 के अंतर्गत गर्भस्थ शिशु के लिंग निर्धरण पर पाबंदी है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि आर्थिक, सामाजिक और मानसिक चिंतन में स्त्री को पुरुषों की समानता मिले और मध्यम वर्ग सुनिश्चित और निर्भय होकर यह मान ले कि कन्या न तो आर्थिक बोझ है और न ही सामाजिक तभी कन्या भ्रूण हत्या रोकी जा सकती है।

भारतीय समाज आर्थिक दृष्टिकोण से तीन हिस्सों में बंटा हुआ है। उच्च आय वर्ग, मध्यम आय वर्ग एवं निम्न आय वर्ग। तीनों ही आय वर्गों की मान्यताएं पृथक् हैं। तीनों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, तौर-तरीके, शिक्षा-दीक्षा ये सभी स्पष्टतया पृथक्-पृथक् हैं। तीनों ही वर्गों की सुविधाएं भी अलग-अलग हैं, उच्च आय वर्ग के बच्चों की पढ़ाई-लिखाई और उनके तौर-तरीके उन्नत हैं जबकि दूसरी ओर निम्न आय वर्ग के तौर-तरीके, शिक्षा-दीक्षा एवं भरण-पोषण की सुविधाएं अपेक्षाकृत अत्यल्प हैं। यह वर्ग सामाजिक वंचना की स्थिति से गुजरता है। इस पृष्ठभूमि में तीनों ही वर्गों के सामाजिक समस्याओं के प्रति भी पृथक-पृथक दृष्टिकोण रहते आये हैं। ''भ्रूण हत्या'' एक सामाजिक समस्या है जिसमें ऊपर वर्णित तीनों ही वर्ग समान रूप से न प्रभावित ही होता है और न समान दृष्टिकोण ही रखता है।

यह प्राक्कल्पना की जाती है कि उच्च आय वर्ग के नागरिकों में निम्न आय वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

विधि: जनसंख्या में आर्थिक स्थिति का भ्रूण हत्या के प्रति मनोवृत्ति मापन हेतु (भ्रूण मनोवृत्ति मापनी ठाकुर एवं सिन्हा 2007 द्वारा निर्मित) अन्वेषिका का चालन किया गया।

क्षेत्र: मुजफ्फरपुर के शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्र के नागरिकों पर अध्ययन किया गया।

प्रतिदर्श: मुजफ्फरपुर शहर एवं ग्रामीणवासी 200 नागरिकों को अध्ययन क्षेत्र में सम्मिलित किया गया तथा तीनों ही आय वर्गों के आधार पर तीन समूहों का निर्माण किया गया और यह देखा गया कि आर्थिक स्थिति का मादा भ्रूण हत्या पर प्रभाव पड़ता है या नहीं।

संयंत्र या मापनी: वर्तमान अध्ययन में लिए गए प्रयोज्यों की आर्थिक स्थिति में मापने के लिए व्यक्तिगत सूचना पत्र प्रेषित किया गया जिसमें प्रयोज्यों से निम्नलिखित प्रश्न पूछा गया;

आपके परिवार की मासिक आय क्या है?

(क) पांच हजार प्रतिमाह से कम।

(ख) पांच हजार से दस हजार प्रतिमाह के बीच।

(ग) दस हजार से अधिक।

उपर्युक्त 'क' से 'ग' तक जो भी आप पर लागू हो उसके सामने टिक चिह्न लगा दें। इस प्रक्रिया से प्रयोजनों की आर्थिक स्थिति का मापन किया गया।

प्रयोज्यों के आर्थिक स्थिति मापन के पीछे यह उद्देश्य था कि समाज में संपन्न परिवारों के सदस्यों का दृष्टिकोण किसी भी सामाजिक समस्या के प्रति अत्याधुनिक हुआ करता है। धनी परिवार को रेडियो, टेलीविजन, पत्र-पत्रिकाओं इत्यादि के माध्यम से सामाजिक समस्याओं की अद्यतन जानकारी रहती है, इसलिए हर सामाजिक समस्याओं के प्रति उनकी अपनी निजी मनोवृत्ति के सुदृढ़ होने की संभावना है। दूसरी ओर निर्धन परिवार के सदस्य भले ही उन्हें आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया, फिर भी चूंकि वे बचपन से ही निर्धनता के परिवेश में पले एवं बढ़े होते हैं, अत: ऐसी संभावना की जाती है कि सामाजिक समस्याओं के प्रति उनकी निजी मनोवृत्ति भी परंपरागत, दकियानुसी एवं रूढ़िवादिता से ग्रस्त रहती है। अत: वर्तमान समस्या के प्रति भी इस तत्व का स्पष्ट प्रभाव होने की संभावना है।

आय वर्ग तथा मादा हत्या– विभिन्न आय वर्गों को निर्धरित करने के लिए तीन सौ नागरिकों के प्रतिदर्श पर व्यक्तिगत सूचना पत्र में एक प्रश्नावली दी गई। इस प्रश्नावली के आधार पर प्रतिदर्श तीन भागों में बंट गया। उच्च, आय वर्ग, मध्यम आय वर्ग एवं निम्न आय वर्ग जिसकी विभाजक सीमाएं क्रमश: पांच हजार से कम, पांच हजार से दस हजार के बीच तथा दस हजार से ऊपर प्रतिमाह से कम निर्धारित की गई। इन तीनों ही आय वर्गों के नागरिकों से संबंधित प्राक्कल्पना में निम्न आय वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा उच्च वर्ग के नागरिकों में मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी। प्रतिदर्श में वर्णित तीन सौ नागरिकों से संबंधित प्राक्कल्पना में निम्न आय वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा उच्च आय वर्ग के नागरिकों में मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

प्रतिदर्श में वर्णित तीन सौ नागरिकों के तीनों ही आय वर्गों को क्रमश: उच्च आय समूह, मध्यम आय समूह तथा निम्न आय समूह माना गया। तीनों ही समूहों में प्रयोजनों की संख्या क्रमश: 81, 113, 106 प्राप्त हुई। (कुल संख्या तीन सौ) इन तीनों ही समूहों के पृथक-पृथक मादा भ्रूण हत्या मनोवृत्ति मापनी प्राप्तांकों का वितरण तथा उनके मध्यमान, प्रामाणिक विचलन तथा अनुकूल मनोवृत्ति पायी जाती है। मध्यम एवं निम्न आय समूहों के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के मध्यमानों का अंतर 8.54 है तथा इन दोनों ही समूहों का टी अनुपात 3.50 है जो 192 डी.एफ. के लिए 0. 01 स्तर पर सार्थिक प्रमाणित है।

आय के आधार पर नागरिकों के जो तीन आय समूह निर्धारित किये गया। उनके पृथक्-पृथक् भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के मध्यमानों के अंतरों की सार्थकता एवं प्राप्तांकों की अंत:क्रिया को जांचने के लिए प्रसरण विश्लेषण विधि को चालित किया गया, जिसका परिणाम निम्नलिखित सारिणी में वर्णित है-

प्रसरण श्रोत	डी.एफ.	वर्गों का योग	प्रसरण	एफ अनुपात	सार्थकता स्तर
प्रसरण	2	186.05	93.53	3.904	0.05
डी.एफ.	297	104558.05	353.05		

उपर्युक्त तीनों ही आय समूहों के नागरिकों की भ्रूण हत्या मनोवृत्ति के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हैं–

(क) प्राक्कल्पना के अंतर्गत प्राक्कल्पना की गई कि उच्च वर्ग के नागरिकों में निम्न वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी, जो सत्यापित नहीं हो सकी।

(ख) यह प्रमाणित हुआ कि मध्यम आय वर्ग के नागरिकों में मादा भ्रूण हत्या मनोवृत्ति उच्च वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा अनुकूल पायी जाती है।

(ग) यह भी प्रमाणित हुआ कि मध्यम आय वर्ग के नागरिकों में निम्न आय वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा मादा भ्रूण हत्या के प्रति अनुकूल मनोवृत्ति पायी जाती है।

विश्लेषण एवं निष्कर्ष

नागरिकों के आय समूह का भी उनकी मादा भ्रूण हत्या मनोवृत्ति के निर्धारक तत्व के रूप में अध्ययन करना इस पत्र का विषय रहा है। तीन सौ नागरिकों के प्रतिदर्श को उनकी पारिवारिक आय के आधार पर तीन भागों में विभक्त किया गया है। तीनों ही समूहों को क्रमशः उच्च आय, मध्यम आय समूह तथा निम्न आय समूह की संज्ञा दी गई। तीनों ही समूहों में प्रयोज्यों की संख्या क्रमशः 81, 113, 106 थी। आय समूहों को मनोवृत्ति निर्धारक तत्व के रूप में अध्ययन करने का उद्देश्य निम्न सारिणी में वर्णित है।

समूह	संख्या	मध्यमान	प्र.वि.	मध्यमानों की प्राथमिक त्रुटि	मध्यमानों का अंतर की प्राथमिकता त्रुटि	मध्यमानों के अंतर की	टी अनुपात	सार्थकता स्तर
उ. आय समूह	81	191.18	17.49	1.94	ख-ग 8.54	ख-ग 2.45	ख-ग 3.50	0.01
म. आय समूह	113	199.71	15.83	1.49	ख-ग 9.59	ख-ग 2.48	ख-ग 3.87	0.01
नि. आय समूह	106	190.12	20.47	1.99	क-ग 1.06	क-ग 2.78	क-ग 0.399	असार्थक

सारिणी में वर्णित तीनों ही आय समूहों की सांख्यिकी परिणामों के तुलनात्मक विवेचना से यह स्पष्ट हो रहा है कि उच्च आय समूह की भ्रूण मनोवृत्ति का मध्यमान 191.18, मध्यमान आय समूह की भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 199.71 तथा निम्न आय समूहों के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांक का मध्यमान 190.12 है तीनों ही समूहों के पृथक तुलना से यह स्पष्ट होता है कि उच्च एवं निम्न आय समूह के नागरिकों के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के मध्यमानों का अन्तर 1.06 है। यह अंतर नगण्य है। इन दोनों ही समूहों के मध्यमानों के अंतर का टी अनुपात जो मूल्य .399 प्राप्त हुआ है। जो 185 डी.एफ. के लिए विश्वसनीयता के किसी भी स्तर पर सार्थक प्रमाणित नहीं होता है। अतः यह मध्यमान अंतर असार्थक है। यानि दोनों ही समूहों की भ्रूण हत्या मनोवृत्ति में कोई अंतर नहीं है।

नागरिकों के उच्च आय समूह एवं मध्यम आय समूह के भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के मध्यमानों का अंतर 9.59 है। स्पष्टत: है कि मध्यम आय समूह के नागरिक उच्च वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा भ्रूण हत्या के प्रति अधिक अनुकूल मनोवृत्ति रखता है। दोनों ही समूहों के मध्यमानों के अंतर की सार्थकता की जांच के आधार पर ही टी अनुपात मूल्य 3.87 प्राप्त हुआ है जो 217 डी. एफ. के लिए 0.01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित है।

अत: यह सत्य प्रमाणित हुआ है कि उच्च वर्ग के नागरिकों की अपेक्षा मध्यम वर्ग के नागरिकों में भ्रूण हत्या के पक्ष में दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। जहां तक नागरिकों के निम्न आय समूह तथा मध्यम आय समूह की सांख्यिकी तुलनात्मक विवेचन का प्रश्न है, यह स्पष्ट हो रहा है कि उच्च एवं मध्यम आय समूहों जैसा ही निम्न एवं मध्यम वर्ग के नागरिकों के समूहों में, मध्य आय वर्ग के नागरिकों में भ्रूण हत्या के पक्ष में मनोवृत्ति पायी जाती है।

अपेक्षाकृत इस समूह के लोग अधिक सुविधाभोगी होते हैं, उन्हें परंपरागत सामाजिक त्रुटियों या मान्यताएं ग्रसित नहीं कर पातीं। वे समाज को अपनी इच्छा के अनुसार प्रभावित करते हैं। ठीक इसके विपरीत निम्न आय समूह समाज का एक उपेक्षित वर्ग होता है, जिसकी समाज में मान्यता नहीं रहती, उसकी बात को कोई नहीं सुनता। ऐसा व्यक्ति न तो समाज को प्रभावित करता है और न परंपरागत मान्यताओं का खुलकर विरोध ही कर सकता है।

इस सामाजिक समस्या के प्रति उच्च आय समूह तथा निम्न आय समूह के नागरिकों के दृष्टिकोण में कोई अंतर नहीं पाया गया है। उच्च आय समूह तथा निम्न आय समूह के प्राप्तांकों में 191.18 तथा 190.12 के आधार पर प्राप्त अंतर 1.06 आया है जो नगण्य है। साथ ही प्राप्त टी अनुपात विश्वसनीयता के किसी भी सीमा पर सत्यापित नहीं होता है जो स्पष्ट करता है कि उक्त समस्या के प्रति समान दृष्टिकोण रखते हैं।

प्राप्त परिणाम, जो परिकल्पना में नहीं था, मध्यम आय वर्ग के नागरिकों की भ्रूण हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान (199.71) ऊपर वर्णित दोनों ही आय समूहों के प्राप्तांकों के मध्यमानों से काफी अधिक है।

मध्यम आय समूहों के प्राप्तांकों का मध्यमान उच्च समूह से 9.59 अधिक है तथा निम्न आय समूह के प्राप्तांकों के मध्यमान से 8.54 अधिक है।

इन दोनों ही समूहों के मध्यम आय समूह के मध्यमानों के अंतरों का टी अनुपात क्रमश: 3.50 तथा 3.87 है तथा दोनों ही .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित हो रहा है।

विभिन्न आय वर्गों के संबंध में यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि मध्यम आय समूह के नागरिकों का मादा भ्रूण हत्या के प्रति अन्य दो समूहों की अपेक्षा, अधिक अनुकूल दृष्टिकोण पाया जाता है।

संदर्भ-सूची

1. Thakur L. & Abha Sinha (2007); FoeticideAttitude Scale B.R.A. B.U. Muzaffarpur

2. Diamond, Esther E.; (Science ResearchAssoc. chicago III) Relation berween occupational levelAnd MasculineAnd feminine interests, Procedings of theAnnual convergitions (Pt. 1) 177&178
3. Goode, W.J. & Hatt P.K. (1972); Methods in Social Research, New York MC Craw Hill
4. Murphy, G. & likert R (1938); Public OpinionAnd the Individual, New York, Harper
5. Dr.Ani Rekha (2007); Female Poeticide:A curse for Mother India- SocialAspect of Female Foeticide
6. Dr. Kumar Sanjeev (2007); Female Foeticide:A Blof on Society.
7. Dr. Chaudhary Jago;A Psycho-Social Study of Female Foeticide.

युवाओं में बढ़ती नशाखोरी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

डॉ० रश्मि सिंह

मनोविज्ञान विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा

आज नशाखोरी की समस्या हमारे देश में विकराल रूप धारण कर रही है। यह भयंकर रोग समाज के हर सम्प्रदाय तथा हर जाति के लोगों में समान रूप से व्याप्त है। हमारे युवक, जो उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे है, वे भी इससे वंचित नहीं है। युवा पीढ़ी ही आगामी युग की नींव डालती है, जिसे हमारा समाज सहजता से पचा नहीं पाता है, जिससे वह युवा पीढ़ी को कुछ कह बैठता है।

गौतम बुद्ध, महात्मा गाँधी, सरदार भगत सिंह की गिनती भी ऐसे ही युवा वर्ग में की जाती है, जिन्होंने अपने कृत्यों से भारत ही नहीं विश्व इतिहास की दशा और दिशा बदल दी है। हम युवा वर्ग को कुछ भी कहे लेकिन बेरोजगारी हताशा, कुण्ठा, बाजार और समाज के दबाव के कारण वह अपने को नशा का शिकार बना लेता है।

नशाखोरी की भयावहता से सभी परिचित है। प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने इस व्यसन के सामाजिक पहलू के विषय में कहा है– ''संसार की सारी सेनायें मिलकर जितने मानवों और जितनी सम्पत्ति का नाश नहीं करती, उससे ज्यादा नाश, नशे की आदत'' कर देती है।

सामान्यत: मादक द्रव्य का तात्पर्य उन सभी द्रव्यों, पदार्थों एवं औषधियों से लिया जाता है, जिनके सेवन से व्यक्ति नशा, उत्तेजना, सुख, प्रसन्नता और ऊर्जा की अनुभूति करता है। इन औषधियों पदार्थो का एक बार सेवा निरंतर सेवन के लिए प्रेरित करता है। व्यसन एक ऐसी दशा है, जो व्यक्ति को विशेष व्यवहार या वस्तु के सेवन पर इतना आश्रित कर देती है कि वह कायिक एवं मानसिक दृष्टि से जीवन यापन हेतु इसे आवश्यक समझने लगता है। श्रीराम आहूजा के अनुसार 'व्यसन' शब्द शारीरिक निर्भरता दर्शाता है।

अत: व्यसन वह स्थिति है जिसमें शरीर को अपना कार्य संचालित करने के लिए द्रव्य का निरंतर सेवन चाहिए। इस प्रकार धीरे-धीरे मनोवैज्ञानिक निर्भरता की दशा उत्पन्न हो जाती है। विशेषज्ञों का सुझाव है कि मादक द्रव्यों का सेवन करने वाला, इनका सेवन सामान्य बनने के लिए करता है। परंतु यही आदत बनकर कालांतर में शारीरिक एवं मानसिक विकृतियों का अहम् कारण बन जाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार मादक द्रव्य व्यसन अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उन्माद की ऐसी दशा है जो किसी नशीली वस्तु या औषधि के निरंतन प्रयोग में उत्पन्न होती है तथा सेवन कर्त्ता एवं समाज के लिए हानिकारक होती हैं। लिडकिंथ ने भी मदक द्रव्यों के सेवन को विचलनकारी व्यवहार बताया है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में मादक द्रव्यों का प्रयोग सभ्यता के प्रारंभ से ही चला आ रहा है परंतु मादक पदार्थों का प्रयोग उस समय न तो व्यक्ति को विनाश के पथ पर ले जाते थे और न समाज को। धर्म और नैतिकता का दायरा व्यक्ति को बाहर नहीं जाने देती थी। प्राचीन समय में प्रचलित सोमरस कोई नशीला पदार्थ नहीं था। ऋगवेद में कहा गया है कि 'शचि: पावक उच्यते सोम' अर्थात् व्यक्ति को पवित्र और शुद्ध करने वाले पदार्थ को ही सोम कहते हैं।

अथर्ववेद में अधिकांश स्थलों पर 'सुरा' शब्द का प्रयोग सूर्य के लिए किया गया है, जो ऐसा पेय पदार्थ था, जो कान्ति प्रदान करता था। वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों, स्मृतियों, वाराह व गरूड़ पुराण व अन्य धर्मग्रन्थों में भी मादक द्रव्यों की निंदा की गयी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सैनिकों के लिए मद्यपान पर प्रतिबंध लाने की व्यवस्था की गयी है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक मद्यपान की प्रथा प्रारंभ नहीं हुई थी। गुप्त शासन काल में चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि ''भारत में मद्यपान का प्रचलन नहीं है'' इन तथ्यों के बावजूद भी यह सच है कि भारत में भी किसी न किसी रूप में मद्यपान का प्रचलन रहा है, लेकिन वह नियंत्रण में रहा है।

मुस्लिम शासन काल में शराब पीने की प्रथा बाहर के देशों जैसे ईरान से आयी। तम्बाकू तो यूरोप में 16वीं शताब्दी में उत्तरी अमेरिका से लायी गयी और भारत में पोर्तगींज व अंग्रेजी शासन काल के समय आयी। सन् 1979-83 तक सबसे ज्यादा नशेबाज भारत में सिगरेट, बीड़ी, शराब एवं तम्बाकू के ही थे। इसके बाद 'एनलजेसिक दवाईयों को नशे के रूप में प्रयोग करने वाले थे, लेकिन 1984 के बाद हेराइन, स्मैक, ब्राउन सुगर, क्रेक नशे के रूप में काफी लोकप्रिय हुई।

अमेरिका में भी सन् 1700 ई. के पहले केवल परिवार में ही सीमित मात्रा में शराब का प्रयोग होता था। इसके बाद सन् 1850 ई. से 1960 तक प्रति व्यक्ति साल में दो गैलन शराब पी जाने लगी, जो 1980-2000 के दशक में बढ़कर 3.36 गैलन हो गयी और आजकल यह सीमा 5 गैलन को पार कर गयी है।

जिन मादकं द्रव्यों से हम चिन्तित हैं, उन्हें Drug in Modern Society के लेखक प्रो. इमलाह ने मादक द्रव्यों के रसायनिक गुणों एवं मात्रा को ध्यान में रखकर तीन वर्गों में विभक्त किया है:-

1. इस वर्ग में मार्फिया पेथीडाइन मेथाडीन और कोकिन को रखा जा सकता है। ये मनुष्य के तंत्रिका तंत्र पर व्यापक प्रभाव डालती है। एक बार औषधि के रूप में सेवन कर लेने पर शरीर में इसकी मांग अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, रसायनिक संतुलन इससे प्रभावित होता है।
2. द्वितीय वर्ग में क्लोर प्रामैजीन, थोराजाइन, क्वीसिन, पारासिन और में प्रावामेंट को रखा गया है। ये औषधियां भिन्न कारको से उत्तेजित मनुष्य (क्रोध, उत्तेजना, चिड़चिड़ापन) को शान्ति देती है अर्थात् समान्य व्यवहार योग्य बनाती है।
3. इस वर्ग में वनस्पतियों या पौधों से प्राप्त चरस, भांग, गांजा, अफीम आदि को रखा गया है। अफीम से ही मार्फिन एवं हिरोइन निर्मित होता है। हम यह कह सकते है कि इन तीन वर्गों में से किसी एक वर्ग का सेवन करने वाला व्यक्ति व्यसनी बन जाता है। श्रीराम

अहूजा ने गुण के आधार पर द्रव्यों को छह कोटियों- शराब, अवसादक, उत्तेजक, नारकोटिक, भ्रमोत्पादक और ताम्रकूटी में विभक्त किया है।

i) शराब सेवनकर्त्ता पर संवेदनाहारी का कार्य करती है।

ii) अवसादक केन्द्रीय नाड़ी मण्डल को क्षीण करता है। उच्च रक्तचाप, मिर्गी और अनिद्रा के निदान में इसका उपयोग किया जाता है।

iii) उत्तेजक तनाव को कम और नाड़ी मंडल को क्रियाशील करते हुए भी भावात्मक नियंत्रण को क्षीण करता है। इस वर्ग में एम्फेटामाइन, कैफीन और कोकिन प्रचलित है। इस वर्ग के द्रव्य शाीरिक निर्भरता नहीं उत्पन्न करते हैं परंतु एकाएक इसका उपयोग बंद कर देने से आत्महत्या जन्य अवसाद पैदा करते हैं।

iv) नारकोटिक– आनन्द, सामर्थ्य, हिम्मत एवं श्रेष्ठता की भावना पैदा करता है जैसे– अफीम, हिरोइन, (स्मैक, ब्राउन सुगर, मारिजुआना, मारफीन, पैथेडीन, कोकिन)

v) भ्रमोत्पादक वर्ग में एल.एस.डी. एक रसायनिक पदार्थ है, जिसके उपयोग से विभ्रम उत्पन्न होता है, जैसे मनोविदलता के रोगी में उत्पन्न होता है। इसके सेवन से गुणसूत्रों में असामान्य बदलाव आ जाता है। इसका उपयोग हिप्पी लोग ज्यादा करते है। इसे जो चखा वह इसका आदि बन गया। इसके सेवन से व्यक्ति को रंगीन, सुन्दर, दृश्य दिखलाई देता है, जो उसे पहले कभी दिखलाई नहीं दिया होता है। एल.एस.डी. का अनुभव हमेशा सुखदायी ही नहीं होता, कभी-कभी दु:खदायी भी होता है। इसका प्रभाव आठ घण्टे तक रहता है, जो चिन्ता, भय और संवेगात्मक उत्पन्न करता है।

vi) ताम्रकूटी या निकोटिन वर्ग में सिगरेट, बीड़ी, सिंगार, चुरूट, नास और तम्बाकू से निर्मित द्रव्यों की गणना की जाती है। इसके उपयोग से हृदय रोग, फेफड़ों के कैंसर और श्वसनतंत्र की बिमारियां उपयोगकर्त्ता को सहज ही उपहार में मिल जाती है। ऐसे मादक द्रव्यों या औषधि का परित्याग दृढ़इच्छा शक्ति और साइंस के द्वारा ही संभव है।

नवीनतम Psychotropic Drug की समस्या विगत तीन दशकों से उभर कर सामने आयी है। नशीली वस्तुओं के अवैध धंधों जैसे तस्करी के बढ़ते प्रभाव के कारण ये पदार्थ चोरी-छिपे देश में लाये व बेचे जाते है और उसकी नियमित उपलब्धि ही इसके प्रयोग का कारण बनी। पश्चिमी देशों में यह समस्या ज्यादा किकराल रूप धारण कर चुकी है। 80 प्रतिशत विद्यार्थी अमेरिका में मारजुआना जेब में रखकर स्कूल जाते हैं। हमारे देश में भी हालत चिन्ताजनक है। मादक द्रव्यों का सेवन अधिकांश युवकों द्वारा की जा रही है।

यह एक फैशन बन गया है। खुलेआम युवक और युवतियों मादक द्रव्यों का सेवन करते पाये जाते हैं। विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों के शिक्षण विभागों और छात्रावासों में इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखने को मिल रहा है। आपको दुनिया से बेखबर सारी जिम्मेदारियों से फारिंग युवक-युवतियों के ऐसे समूह दिखलायी देते हैं जो नशे में झूमते-नाचते गाते, कह-कहे लगाते एक दूसरे पर गिरते-पड़ते, हशीश, अफीम, गांजा, चरस, हिरोइन में डूबे नजर आ जायेंगे। जितनी बार मादक पदार्थ लिये जाते

है, उतनी ही बार उन्हें लेने की क्षमता बढ़ती जाती है और उन पर निर्भरता भी बढ़ती जाती है। नशा व्यक्ति को गुलाम बना लेती है और आज की अधिकांश युवा पीढ़ी नशे का गुलाम बन चुकी है।

इसके अतिरिक्त मादक द्रव्यों का व्यसन औद्योगीकरण, नगरीकरण, वैश्वीकरण और भौतिकवादी संस्कृति का उपहार है परंतु इसका मुख्य कारण सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक है। आज कल एक तरफ विसंगति पूर्ण सामाजिक जीवन मादक द्रव्यों के सेवन के लिए प्रेरित कर रहा है, वहीं दूसरी तरफ युवा वर्ग प्रसन्नता अर्जित करने, चिन्तामुक्ति, अपरिपवक्ता, यौन सुख और समलैंगिकता, असफलता के निदान हेतु इसका गुलाम बनते जा रहे है। इसी लिए शेक्सपियर ने लिखा है कि–

"'O' God that man should put an enemy in their mouths, steal away their brains, that we should with joy, pleasure and revel transform ourselves into beasts."

''हे ईश्वर, मनुष्य क्यों अपने मुँह में ऐसे दुश्मन को लगाते हैं जो उनकी बुद्धि को हर लेता है ताकि हम आनंद, मौज और मस्ती की खोज में स्वयं को पशुओं के रूप में बदल देते हैं।''

इस मौज-मस्ती के लिए मनुष्य सब कुछ देने पर आमदा हो जाता है। Dr. Faustus का उदाहरण संसार में प्रसिद्ध है जिसने केवल भौतिक सुख के लिए शैतान को अपनी आत्मा देने का सौदा किया था। यह फास्टस-प्रवृत्ति नशें के गुलाम लोगों में आज भी दिखायी पड़ती है। एक युवक ने नशे के लिए अपना एक गुर्दा बेच दिया और फिर एक आँख बचेने का सौदा किया था, जिसे उसके शुभचिंतकों ने बचा लिया। एक बैंककर्मी को मौज-मस्ती लेने में नशे की आदत ने उसे जान और नौकरी दोनों से मुक्त कर दिया।

भारत अपनी भौगोलिक अवस्थिति के कारण भी अपने युवाओं में नशे के प्रति संवेदी देश में परिमणित किया है। इसके लिए पश्चिमोत्तर में स्वर्णिम चन्द्रार्द्ध स्थित है, जिसे बनाने वाले देश हैं– पाकिस्तान, ईरान, अफगानिस्तान, जहाँ अवैध अफीम उत्पादन करने वाले क्षेत्र जो 3,50,000/- वर्ग कि.मी. है। भारत के पूर्व में स्वर्णिम त्रिभुज (गोल्डेन वायेगल) है। इससे बनाने वाले देश है– थाईलैण्ड, लाओस, म्यांमार और वियतनाम। म्यांमार सैनिक शासन से त्रस्त आकर पूर्व एशिया और प्रशांत महासागरीय देशों में अफीम की कालाबाजरी करता है।

भारत म्यांमार का पड़ोसी है। पूर्वोत्तर देशों में इसका व्यापक बाजार है। XIACO अनुसार पूर्वोत्तर में AIDS के अधिकांश रोगी नशीले पदार्थों के सेवन करते हैं और वे शुरूआत प्राय: अफीम से करते है और सुई इंजेक्शन के नशे पर उतर आते हैं और AIDS के सवाइक बन जाते हैं। यह विचारणीय है कि अफगानिस्तान में तालिबान शासन तथा पकिस्तान में सैनिक शासन उन अफीम ठेकेदारों पर लगाम कसने में असमर्थ रहा है, जो इसकी खेती करवाते है। ये ठेकेदार पाकिस्तान के धर्मगुरू और अफगानिस्तान की संसद शोरा में ड्रग माफिया के रूप में चुनकर पहुंच चुके हैं। इस प्रकार स्वर्ण चन्द्रार्द्ध मादक द्रव्य उत्पादन के अनुकूल भौगोलिक दशा निर्मित करता है।

United Nation Office on Drug & Crime के प्रधान संतोनियों मारिया किस्ता के कथन को सत्य माने तो 2006 की बुरी खबर यह है कि अफगानिस्तान में अफीम की खेती में 60 प्रतिशत वृद्धि हुई है। 2009 में 1,56,000 हेक्टेयर पर अफीम की खेती हुई, जो 2010 में बढ़कर 1,92,000 हेक्टेयर हो गयी है। इस वर्ष इसका उत्पादन 6300 मी. टन हुई है, जो विश्व के अफीम उत्पादन

का 92 प्रतिशत है। हालात इससे भी बदतर है कि अफगानिस्तान एक Narcotic State बन गया है। अफगानिस्तान के सकल घरेलु उत्पादन (G.D.P.) का 35 प्रतिशत नारकोटिक्स ट्रेड से आता है। अफीम के अफगानिस्तान में उत्पादन बढ़ने से भारत पर इसका प्रभाव दोहरा पड़ा है।

1. नशे की आदत से हमारे युवाओं की शक्ति क्षीण होती है, जो देश के विकास में लगनी अपेक्षित थी।
2. अफीम की तस्करी से प्राप्त धन को White Money में बदल कर आतंकी संगठन यूरोप और अमेरिका से हथियार खरीदते हैं और ये हथियार, हमारे स्कूली बच्चों, असहायक महिलाओं और ट्रेन यात्रियों की मौत के कारण बन जाते हैं।

उपर्युक्त प्रभावों से स्पष्ट है कि जहाँ प्राचीन भारतीय समाज में जीवन के आदर्श निश्चित नियमों के अनुसार चलते थे तथा वे आदर्श पीढ़ी दर पीढ़ी अलिखित रूप से हमारे संस्कारों में कूट-कूट कर भर दिये जाते थे और उन संस्कारों से हमें कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती थी। वहीं मादक द्रव्यों के सेवन से पश्चिमी संस्कृतिकरण एवं भौतिकतावदी चकाचौंध से कुण्ठा एवं निराशा जागृत हो रही है। इसे आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मादक द्रव्यों के सेवन से किसी भी देश की शान्ति और समृद्धि को जबरदस्त खतरा होता है। भारतीय शैक्षणिक संस्थाओं में इसका प्रसार द्रुत गति से हो चुका है। बिहार भी इसमें पीछे नहीं है। बिहार के शैक्षणिक संस्थाओं में भी इसका उपयोग काफी मात्रा में युवक और युवतियों के द्वारा किया जा रहा है। यहाँ पाउच, गुटका, तम्बाकू और स्वनिर्मित शराब का उपयोग अधिक देखा जाता है। यहाँ पढ़ने वाले युवक सिगरेट और उसमें गांजा भरकर अधिक सेवन करते हैं। अत: यह समस्या चाहे राष्ट्रीय या प्रांतीय स्तर पर ही क्यों न हो, इससे निजात पाने के लिए या दिलाने के लिए सभी को जागरूक होना पड़ेगा। भटकते हुए नवयुवकों को सही मार्ग पर ले आना होगा तथा गंभीर स्थिति की दुरूहता को पहचान कर सही दशा और दिशा में ले जाना है तो हमें आध्यात्मिक युग में लौटा होगा। हमें नैतिक शिक्षा, चरित्र की शिक्षा तथा आत्मा को सही दिशा में ले जाने वाली शिक्षा अपने परिवार में बालक के जन्म पश्चात् से ही देनी होगी। अन्यथा हम भटकते रहेंगे- कभी हिप्पी के रूप में, कभी नशे में झूमते पागल के समान तथा कभी एकांत में बेहोशी की हालात में लम्बी-लम्बी आहें भरते रहेंगे। हम ऊपर से कितनी भी सहानुभूति क्यों न दिखावें, कोई लाभ नहीं होने वाला है। जबतक कि समस्या को जड़ से न उखाड़ फेंका जाय।

जबतक बच्चों को बाल्यकाल से कूट-कूट कर नैतिकता की, मादक द्रव्यों के सेवन से लाभ-हानि की, चरित्र की, आत्मा या मन की शिक्षा नहीं दी जायेगी, तब तक पश्चिम की चकाचौंध वाली संस्कृति निश्चित ही हमें प्रेरित करती रहेगी। साथ ही साथ हम यह भी कहना चाहेंगे कि मादक द्रव्यों के आधार पर 'कर-संग्रह' औचित्यपरक नहीं है। राष्ट्र, देशप्रेमी, जन व स्वस्थ नागरिकों से सुरक्षित, पुष्पित और पल्लवित होता है, अस्वस्थ और मनोरोगियों से नहीं। दो महाशक्तियाँ रूस और अमेरिका का दृढ़ संकल्प इस दिशा में सार्थक परिणाम दे सकता है। भारत भी इसमें कम नहीं, लेकिन ये सभी देश उपभोक्ता बनकर रह गये हैं। फिर भी प्रयास जारी है और जगह-जगह केन्द्र खोलकर इसे न उपयोग करने की शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे भटकते हुए नवयुवक सही रास्ते पर आ सके और भारत और बिहार प्रान्त के भविष्य को और उज्ज्वल बना सकें।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. KHAN, M.Z., "Youth and Anti Social and Anti Legal behaviour" विश्व युवक केन्द्र, न्यूज लेटर, अक्टूबर-दिसम्बर (Page 14-15)
2. SHUKLA, Mahesh, "Adiction Among Indian College going youth" Page - (3-4)
3. Chein Isdore, Psychological Functions of Drug use (edited) London, 1969 Jullian, Joseph Social Problems Prentice Hall, New Jersey 1977.
4. Modi, Ishwar, Drugs : Adiction and prevention, Rawat Publication, New Delhi, 1997
5. W.H.O. Report of Study Group, youth and drugs series No.516
6. Bouchard, Chad opium cultivation Blossoms in Burma Voice of America, India 2007, Publication Division Govt. of India.

जान डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

रत्नेश कुमार जैन

प्राचार्य, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय मुरादाबाद

डॉ० नम्रता जैन

सहा०प्राध्यापिका

प्रस्ताबना

भारत अपनी सभ्यता, संस्कृति, कला धर्म, दर्शन, परम्परा एवं शैक्षिक अवधारणा के गौरवपूर्ण अतीत पर गर्व करता रहा है किन्तु वर्तमान परिवेश में शिक्षा के क्षेत्र में गुणवत्ता में कमी आर्थिक संकट, बेरोजगारी, मूल्यों में गिरावट अनुशासनहीनता प्राचीन परम्परा व अतीत की अवहेलना, नैतिक व चारित्रिक पतन तथा भ्रष्टाचार जैसी अनेक समस्याओं ने भारतीय शिक्षा प्रणाली को प्रभावित किया है। ऐसी स्थिति में हमें शिक्षा के ऐसे सार्थक स्वस्थ की आवश्यकता है जिसके प्रकाश से बच्चों में स्वस्थ लोकतन्त्रीय नागरिकता के गुणों को विकसित किया जा सके वे सच्चरित्र और मेघावी हो तथा मानवीय मूल्यों से युक्त हो उनमें ऐसी रचनात्मक, क्रियाशील प्रवृत्तियों एवं कौशल को विकसित किया जाये जिससे ये स्वावलम्बी तथा आत्मनिर्भर बन कर समाज के उत्तरदायी पटक के रूप में राष्ट्र के विकास में अपना समुक्ति योगदान दे सके। जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन उन्हीं भावनाओं पर आधारित है।

–विश्व के महान दार्शनिकों एवं युगाटा में से एक अमेरिका के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विचारक एवं शिक्षाविद जान डीवी ने अपने व्यक्ति कृतिल, दार्शनिक तथा शैक्षिक विचारों एवं सिद्धान्तों से सम्पूर्ण शैक्षिक जगत को प्रभावित किया। आज विश्व का कोई भी ऐसा देश नहीं है जिसकी शिक्षा व्यवस्था पर जॉन डीवी का प्रभाव न परिलक्षित हो। उनके शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन ने विचारों ने आधुनिक शिक्षा को समग्र रूप से प्रभावित किया है।

जान डीवी का शिक्षा दर्शन का अध्ययन

जॉन डीवी का शिक्षा दर्शन मुख्यत: प्रयोजनवादी विचारधारा पर आधारित है, जिसमें आदर्शवाद और प्रकृतिवाद का समन्वय भी दर्शित है। डीवी द्वारा प्रतिपादित शिक्षा दर्शन में सामाजिक दृष्टिकोण

के अन्तर्गत सामाजिक मान्यताओं का अधिकाधिक समावेश है। डीवी के शिक्षा सिद्धान्त का आधार जीवन शिक्षा और समाज का समन्धित रूप है। उनके अनुसार जीवन जीने के ढंग से उत्पन्न दृष्टिकोण ही दर्शन है और मनुष्य इसी दृष्टिकोण के अनुसार जीवनयापन करता है।

डीवी सभी व्यक्तियों को उसकी रूचि योग्यता तथा आवश्यकतानुसार विकास करने का अवसर देने की स्वतंत्रता प्रदान करने पर बल देते हैं। डीवी महोदय ने देश काल की आवश्यकतानुसार उपयोगी शिक्षा प्रदान करने का प्रावधान किया। इसी कारण उन्होंने शिक्षा को स्वयं जीवन माना है। उनके विचार से शिक्षा का उद्देश्य परिवर्तनशील समाज के लिये मूल्यों की खोज होना चाहिये। उन्होंने सभी समस्याओं तथा उनके समाधान हेतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तरीकों को अपनाने तथा उनका प्रयोग करने पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'हम बहुत सारे वैज्ञानिक ज्ञान तो अपने घर के चूल्हे चक्की तथा अपने हाथ के कला कौशल के माध्यम से ही प्राप्त करते हैं।'

डीवी महोदय बालकों के वास्तविक जीवन जीने की कला सिखाने के साथ उसे प्रजातात्रिक गुणों से परिपूर्ण करना चाहते हैं। उनका मानना है शिक्षा उन समय शक्तियो का विकास है जिसके द्वारा व्यक्ति में अपने वातावरण और नियन्त्रण रखने और अपनी शक्तियों के विकास की क्षमता उत्पन्न होती है। अब उन्होंने शिक्षक को बालक के विकास हेतु निर्वाध एवं उपयुक्त वातावरण को निर्मित करने पर बल दिया है। डीवी का मानना है शिक्षा द्वारा छात्र के गतिशीलन यांसा लबील मन का निर्मित कर. क्रियाओं तथा विचारों में सन्तुलन स्थापित किया जाना चाहिये। बालक को प्रदान की जाने वाली शिक्षा केवल सैद्धान्तिन होकर उसमें सैद्धान्तिक क्रियात्मकता व प्रयोग का समावेश होना चाहिये।

डीवी महोदय के अनुसार व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामाजिक उन्नति हेतु शिक्षा अनिवार्य है। अत: उसने शिक्षा को सामाजीकरण की प्रक्रिया कहा. जिसके द्वारा उसने छात्रों को सामाजिक आदर्शों मान्यताओं की जानकारी प्रदान करने के साथ-साथ सामाजिक वातावरण के अनुरूप ढालते हुए सामाजिक दायित्वों के निर्वहन सम्बन्धी योग्यता को विकसित करने पर बल दिया है जिससे चालक सामाजिक प्रगति में अपनी सहभागिता सुनिश्चित कर सके। वह पूर्णतया आत्मनिर्भर राष्ट्र के ऊपर भार न हो, दूसरों के हित की रक्षा करें और किसों के कार्य में बाधा न डालें। उसके अनुसार शिक्षा का कार्य असहाय प्राणों को सुखी नैतिक एवं कार्यकुशल बनाने में सहायता देना है।

डीवी ने परम्परागत पाठ्यक्रमों को स्तरहीन तथा निरर्थक मानते हुए उसे बालकेन्द्रित बनाने के साथ समाज की तत्कालीन आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्मित करने पर बल दिया। उसका मानना था कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप चालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों या क्रियाशीलता के शब्दों या कार्यों के रूप में वर्णन करना, उसे आत्मनिर्भर बनने की सीख देना, अध्यापक एवं शिष्य दोनों के सीखने की प्रवृत्ति में निहित है।

स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का अध्ययन

युवा जीवन के प्रेरणा स्त्रोत विवेकानन्द एक महान दार्शनिक मार्गदर्शक, साधक युगप्रवर्तक थे जिनका समस्त व्यक्तिव्य ही अपने आप में एक संस्था था। स्वामी जी ने अपने शैक्षिक आध्यात्मिक,

दार्शनिक चिन्तक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारों से तत्कालीन परिवेश को प्रभावित किया। उन्होंने सामाजिक सांस्कृतिक जागृति के अग्रदूत के रूप में मानवतावादी धर्म का पाठ पढ़ाया तथा भारत की पुन जगतगुरू के रूप में प्रतिष्ठित किया।

स्वामी जी का शिक्षा दर्शन बहुत की व्यापक और व्यावहारिक है। उनका वेदान्त दर्शन एक समन्वयवादी शिक्षा दर्शन है जिसमें आदर्शवाद प्रतिवाद प्रयोजनवाद यथार्थवाद तथा मानवतावाद का समन्वय मिलता है। स्वामी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों प्राचीन तथा आधुनिक विचारों का समावेश है। स्वामी जी मानव को ईश्वर की भांति प्रेम करते थे और मानते थे कि मानव शरीर एक मंदिर की भांति है जिसमें आत्मारूपी ईश्वर विराजमान है।

स्वामी जी का मानना था कि बिना मानव की स्वयं की गतियों के विकास में उसका वास्तविक विकास सम्भव नहीं है उसे अपने सतत चेतन प्रयास द्वारा पूर्णता को प्राप्त करना चाहिये। उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा के पुनर्जागरण का सफल प्रयास करने के साथ ही पाश्चात्य जगत की वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा को भी स्वीकार किया उन्होंने व्यष्टि और समष्टि का समन्वय किया तथा सर्वांग दृष्टिकोण लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया क्योंकि उनका मूल मन्त्र था 'सहायता न कि विरोध', 'दूसरों के भावों को आत्मसात करना न कि विनाश' 'समन्वय न कि कलह उनका मानना था कि गरीबों को अपनाना उन्हें शिक्षा देना तथा उन्हें ऊपर उठाना हमारी प्राथमिकता होनी चाहिये। ये लोग मानव जाति की जड़ और शिक्षित वर्ग उनकी शाखाये हैं। स्वामी जी की धारणा थी कि लोकतंत्र का आधुनिक सिद्धान्त और व्यवहार मानव निर्माण के धर्म के लिये प्रभावी रूप से सहायक हो सकता है क्योंकि वह स्वाधीनता, समानता और पावनता में विश्वास करता है। अत: उन्होंने लोकतंत्र की भावना का पोषण किया।

स्वामी जी ने भारत के निर्माण हेतु उठो, जागो और लक्ष्य को प्राप्त किये बिना विश्राम न लो इस मूल मंत्र को युवकों में संचरित किया। उन्होंने एक पूर्ण मानव की शिक्षा के प्रारूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा ने ऐसा धर्म चाहता हूँ जो हर व्यक्ति को अन्न व औरक्षा देने के साथ-साथ उन्हें अपने सभी दु:ख दूर करने की शक्ति प्रदान करें। हम भारतीय पहले है गुजराती बंगाली मद्रासी बाद में! सबको मिलकर देश की दरिद्रता और अज्ञानता दूर करनी चाहिये।

स्वामी जी के अनुसार बालक को सिद्धान्तवादी शिक्षा के बजाय व्यावहारिक शिक्षा का ज्ञान प्रदान करने के साथ स्वयं अनुभव द्वारा सीखने का अवसर देना चाहिये। शिक्षक को एक किसान के रूप में अपने कार्यों को सम्पादित करते रहना चाहिये। पौधा स्वय बढ़ता है, क्या हम उसे बढ़ाते हैं? हमारा कार्य सिर्फ उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करना है। जैसे माली गुलाब को गोभी नहीं बना सकता उसी प्रकार शिक्षक भी बालक की प्रकृति और व्यक्तित्व को नहीं बदल सकता सिर्फ उसे पूर्ण और सुन्दरतम रूप में अभिव्यक्ति करने में सहायता कर सकता है, माध्यम बन सकता है। वह उसके लिये वातावरण प्रस्तुत करता है, निर्देशन देता है, सहायता करता है। स्वामी जी गतिशील प्रकृति से दार्शनिक थे। उनके अनुसार हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जिससे व्यक्ति स्वयं तथा अपने देश का उत्थान कर सके।

स्वामी जी की मानना था कि योग साधना का वह मार्ग है जिससे अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है। उन्होंने मौलिक चिन्तन एवं ध्यान की एकाग्रता को ज्ञान ग्रहण करने का सर्वोत्तम साधन बताया। उनके अनुसार शिक्षा मानव की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है और शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानवीय मूल्यों के उच्चतम आदर्शों जैसे सत्य, सहानुभूति दया, परोपकार, मानवता, रांवा त्याग, बलिदान, आत्मबल, सयम, शौर्य, पराक्रम आदि की प्राप्ति है। उन्होंने सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय मन्त्र को सबके समक्ष रखा।

जान डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

इस प्रकार जॉन डीबी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन सम्बन्धी विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर उनसे पर्याप्त समानता दिखाई पड़ती है। दोनों ही विचारक साध्याय वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वावलम्बन लोकतंत्रीय भावना मानव श्रम की महत्वा मौलिक विज्ञान में रखके प्रवृत्ति क्रियाशीलता योग सामुदायिकता, वसुदेव केंटुम्बकम जैसी भावना को शिक्षा के द्वारा युवा पीडी में निहित करना चाहते हैं। दोनों ही विचारकों ने ज्ञान एवं कर्म का बिलगाव की प्रकृति, वास्तविकता से ज्ञान को दूर रखने की मनोवृत्ति और झूठी मान्यताओं का विरोध करने के साथ शिक्षा की गतिशील एवं व्यावहारिक प्रकृति पर बल दिया है।

जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा दर्शन के सिद्धान्तों, आदर्शों एवं मूल्यों की सार्थक एवं उपयोगी सिद्ध करने हेतु आवश्यकता इस बात की है कि सभी शिक्षक पूर्ण निष्ठा, लगन एवं ईमानदारी के साथ पढ़ायें तथा सभी छात्र अनुशासित ढंग से मन लगाकर समर्पित भाव से पढ़ें। छात्र यदि प्रज्जवलित अग्नि हैं तो शिक्षक उसे ऊर्जा प्रदान करने वाली हवा के समान है। हवा के बहाव की और अग्नि की ऊर्जा स्वत: मुड़ जाती है।

स्वामी जी ने जहां पाश्चात्य शिक्षा के साथ-साथ आध्यात्म विकास पर भी चल दिया है। वही डीवों में अध्यात्म सम्बन्धी विचारों की पूर्णतया उपेक्षा की है।

जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के दार्शनिक एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार उस युग की अपेक्षा वर्तमान परिवेश में कहीं अधिक उपयोगी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं। इस प्रकार जब तक यह सृष्टि चलती रहेगी तब तक इन मनीषियों की शैक्षिक विचारधारा की ज्योति जलती रहेगी।

जान डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के अनुसार शिक्षा का अर्थ:

जॉन डीवी शिक्षा को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। समाज के बिना शिक्षा का कोई महत्व नहीं है। डीवी महोदय शिक्षा के महत्व को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि सामाजिक जीवन के लिये शिक्षा का वहीं महत्व है जो दैहिक जीवन के लिये घोषण व प्रजनन का समाज की सभ्यता, संस्कृति एवं मूल्यों को संरक्षित रखने हेतु उन्हें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित करने हेतु शिक्षा की आवश्यकता होती है।

स्वामी विवेकानन्द का मत था कि जिस प्रकार से एक आम की गुठली में एक सम्पूर्ण वृक्ष का दिया रहता है, उसी प्रकार से मनुष्य में एक सम्पूर्ण मनुष्य का गुण छिपा रहता है। शिक्षा का कार्य इसी की अभिव्यक्ति है। स्वामी जी के अनुसार मनुष्य जो कुछ सीखता है, वह वास्तव में आविष्कार करना ही है। शिक्षा ही वह माध्यम है जो बालक के मन में निहित आन्तरिक शक्तियों को बाह्य रूप

में प्रकट करने में सहायक है। स्वामी जी ने शिक्षा को संकुचित अर्थ में न लेकर इसे व्यावहारिक रूप में स्वीकृत किया है। उनके अनुसार शिक्षा का अर्थ केवल पठन-पाठन से ही नहीं लगाया जाना चाहिये वरन शिक्षा एक व्यापक धारणा है जिसमे मानवीय मूल्यों को भी निहित किया। जाना चाहिये। स्वामी जी के अनुसार शिक्षा सदैव समग्र एवं व्यावहारिक होनी चाहियें जिससे बालक शिक्षित होने के पश्चात अपने को समाज की मुख्यधारा से पृथक न महसूस करे समाज में अपना स्वामी जी का मानना है कि एक बालक में उपस्थित प्रच्छन्न ज्ञान की अभिव्यक्ति हेतु शिक्षक सिर्फ उन समस्त बाघा एवं रुकावटों को दूर करने का कार्य करते हैं। विद्यार्थियों को अपने अनुभव व विचार-शक्ति का प्रयोग द्वारा स्वयं विषयों का मर्म समझ कर सीखकर उसका समुचित उपयोग करना होता है। उसे चालक की रूचि को पहचानकर स्वाभाविक गति से विकास हेतु साधन जुटाना होता है।

डीवी के अनुसार शिक्षा व तो स्वयं में साध्य है और न ही मानव जीवन की तैयारी बल्कि शिक्षा स्वयं जीवत है। जीबी ने शिक्षा के व्यापक अर्थ को प्रस्तुत करते हुए शिक्षा में अनुभव को केन्द्रीय स्थान प्रदान किया है। डीवी के शब्दों में अनुभवों के पुनर्निमाण की प्रक्रियण की शिक्षा कहते हैं। उनके अनुसार मानव समाज में रहते हुए नित्य नवीन अनुभव प्राप्त करता है और इनमें से ऐसे अनुभवों का चयन करता है जो स्वयं उसके व समाज की दृष्टि से लाभदायक होते हैं, डीवी कहते हैं कि वर्तमान समय में व्यक्ति की आवश्यकताओं एवं विकास एवं गति आगे बढ़ाना ही शिक्षा है। शिक्षा के अभाव में प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती है। डीवी का मानना है कि बालक को वही ज्ञान देना चाहिये जो उसका बहुमुखी एवं उपयुक्त ढंग से विकास कर सके। उनके अनुसार बालक की बुद्धि इतनी विवेकशील हो जानी चाहिये कि वह स्वयं प्रत्येक घटना तथा क्रिया के सब पक्षो का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसकी वास्तविकता की खोज कर सके

स्वामी जी के अनुसार शिक्षा सिर्फ कुछ जानकारी का ग्रहण कर लेना नहीं है बल्कि शिक्षा वह है जो आत्मिक विचारों को आत्मसात करना सिखाती है जो मानव निर्माण, जीवन निर्माण और चरित्र निर्माण में सहायक हो। ज्ञान का दान उन लोगों को ही दें, जिन्हें इसकी आवश्यकता है। क्रियामूलक व सर्जनशील ज्ञान से दाता और पात्र दोनों का उत्थान होता है। इसी दान से भारत उस गौरवमय युग की प्राप्ति कर सकता है जिसके अवतरण की घोषणा स्वामी विवेकानन्द कर गये हैं।

डीवी ने शिक्षा को जीवनपर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया कहा है क्योंकि व्यक्ति निरन्तर कुछ न कुछ नवीन अनुभव अपने सम्पूर्ण जीवन में प्राप्त करता रहता है। इस नयी शिक्षा को विकास से सम्बन्धित माना है और कहा है व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियो का विकास करना ही शिक्षा का एकमात्र अन्तिम उद्देश्य है।

स्वामी जी के अनुसार एकाग्रता ही सम्पूर्ण शिक्षा का सार है। 'स्वामी जी कहते है' तथ्यों के संग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को ही में सम्पूर्ण शिक्षा समझता हूँ। यदि मुझे पुनः शिक्षा प्राप्त करनी होती है तो एकाग्रता और अनाशक्ति दोनों ही शक्तियों को विकसित करता और सब उस मन रूरी निर्दोष मंत्र की सहायता से इच्छा मात्र से ही तथ्यों का संग्रह कर लेता!

डीवी का मानना है शिक्षा उन समय शक्तियों का विकास है जिसके द्वारा व्यक्ति में अपने वातावरण पर नियन्त्रण रखने तथा अपनी शक्तियों के विकास की क्षमता उत्पन्न होती है। शिक्षा के द्वारा ही मानव में उन सय क्षमताओं और योग्यताओं को उत्पन्न किया जाता है। जिससे यह अपने

वातावरण के साथ समायोजन स्थापित करता है अपने अनुभवों द्वारा उसमें परिवर्तन और परिमार्जन करता है।

स्वामी जी ने शिक्षा के वास्तविक स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे हमारा चरित्र वने मानसिक शक्ति बढें और हम अपने पैरो पर खड़े हो सके! जिसके लिये उन्होंने तकनीकी विज्ञान व प्राविधिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया!

उपसंहार

इस प्रकार जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के तुलनात्मक विवेचना से स्पष्ट होता है कि शिक्षा सतत चलने वाली विकास की प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज, राज्य एवं राष्ट्र का विकास होता है। दोनों विचारकों का मत है शिक्षा विकास के उच्चतम स्तर तक पहुँचने का एक साधन है। शिक्षा ही वह साधन है जिसके द्वारा हम अपने पूर्वजों के ज्ञान, विचार एवं सभ्यता और संस्कृति को जान सकते हैं उसे भावी पीढ़ी में रूपातन्तरित कर सकते हैं।

जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा उन समग्र शक्तियों का विकास है जिसके द्वारा वातावरण तथा परिवेश की सूचित करने की आवश्यकता को महत्वपूर्ण मानते हैं। जॉन डीवी तथा सनी विवेकानन्द दोनों की विचारकों के शिक्षा सम्बन्धी विचार जितने ही सपाट है उतने ही महत्वपूर्ण सार्थक एवं उपयोगी थी। दोनों ने ही देश की सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति हेतु जगत सत्मक परिवेश में लागा को शिक्षित करने हेतु जन शिक्षा पर विशेष रोल दिया।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- गुप्त, राम बाबू भारतीय शिक्षा शास्त्री, रतन प्रकाशन, आगरा, 1998
- गुप्त, राम बाबू महान पाश्चात्य एवं भारतीय शिक्षा शास्त्री विज्ञान, प्रकाशन, कानपुर
- गुप्ता, डॉ०एस०पी० गुप्ता एण्ड डॉ० अलका भारतीय शिक्षा का तानाबाना, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद
- गुप्त डॉ० दीपनरायण प्रसाद हमारी माध्यमिक शिक्षा इसके सिद्धान्त एवं समस्यायें, कला निकेतन, पटना, 1957
- गोपाल कृष्ण बीसवीं शताब्दी में अमेरिकी शिक्षा गर्ग ब्रदर्स,
- डॉ०एस०पी० एण्ड चौबे, डॉ० अखिलेश चौबे आधुनिक शिक्षा के दार्शनिक और समाज शास्त्रीय सिद्धान्त, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, 2009
- चोपडा, रविकान्त उभरते भारतीय समाज में शिक्षक और शिक्षा एन0सी0ई०आर०टी०. नई दिल्ली
- डॉ०एस०पी० एण्ड चौबे, डॉ० अखिलेश चौबे भारत और पश्चिम के श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री। भवदीय प्रकाशन, अयोध्या 2002
- डॉ०एस०पी० एण्ड चौबे, पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास विनोद पुस्तक मंदिर आगरा 1972
- चतुर्वेदी, प० सीताराम भारतीय एवं यूरोपीय शिक्षा का इतिहास हिन्दी साहित्य कुटीर काशी, 1966
- त्यागी डॉ गुरुशरण दसंद नन्द , डॉ विजय कुमार उदीयमान भारत में शिक्षा, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा 2000

ग्रामीण विकास के लिए कृषि को बढ़ावा: एक दृष्टि

डॉ० शिखा

असिस्टेंट प्रोफेसर (अर्थशास्त्र), बरेली कॉलेज, बरेली

कृषि और सम्बन्धित गतिविधियाँ भारत के 6.40 लाख से अधिक गांवों में रह रही देश की करीब 70 प्रतिशत आबादी की आजीविका का मुख्य स्रोत है (2011 की जनगणना।) इस तरह कृषि का विकास ग्रामीण विकास की रणनीति का सबसे महत्वपूर्ण भाग है। भारत की कुल श्रमशक्ति का करीब आधा हिस्सा खेती में लगता है क्योंकि यहाँ रोजगार के वैकल्पिक साधन सीमित हैं और हमारे जैसे कम आमदनी वाले देश में फिलहाल इनके कम ही रहने की सम्भावना है।

सरकार ने चिरस्थायी ग्रामीण विकास के लिए निवेश बढ़ाने और कृषि के क्षेत्र में बुनियादी ढांचे और अभिशासन में सुधार के लिए तीन सूत्री रणनीति अपनाई। जहाँ एक ओर केन्द्र द्वारा प्रायोजित मौजूदा योजनाओं का दायरा बढ़कर इनके माध्यम से मूल उत्पादन गतिविधियाँ बनाए रखी गई, वहीं कृषि विपणन, ठेके पर खेती, जमीन की पट्टेदारी, कीमत और व्यापार नीति तथा कृषि ऋणों के माध्यम से न सिर्फ कृषि के विकास के लिए बल्कि समूचे ग्रामीण क्षेत्र के समावेशी विकास के प्रयास किए गए।

गांवों में परिवर्तन लाने में कृषि के विकास का महत्व राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) के आंकड़ों से भी स्पष्ट हो जाता हे। देश में खेती को आजीविका का मुख्य जरिया बनाने वाले कृषक परिवारों से सम्बन्धित आंकड़ों के अनुसार देहाती इलाकों में 92 प्रतिशत से अधिक परिवारों की आय की प्रमुख गतिविधि कृषि थी। खेती और पशुपालन से कृषक परिवारों को 67. 2 प्रतिशत आय प्राप्त हो रही थी।

उच्चतर निवेश के लिए 2014 से कृषि और इससे सम्बन्धित क्षेत्र में केन्द्र सरकार के सार्वजनिक व्यय में काफी वृद्धि हुई है। कृषि मंत्रालय का संचयी आवंटन/खर्च पिछले तीन साल के दौरान 153100 करोड़ रुपये से अधिक रहा है। कृषकों की आमदनी बढ़ाने के लिए पशुपालन क्षेत्र के निवेश में काफी बढ़ोत्तरी की गई है। 2011 में नई विनिर्माण नीति में खाद्य प्रसंस्करण क्षेत्र की पहचान सघन रोजगार सृजन वाले प्राथमिकता क्षेत्र के रूप में की गई। खाद्य प्रसंस्करण मंत्रालय की प्रधानमंत्री सम्पदा योजना के माध्यम से उत्पादकों और उद्यमियों को प्रोत्साहनों की व्यवस्था की गई है।

प्राकृतिक संसाधनों को अधिक उत्पादक और फायदेमंद बनाने से ग्रामीण आबादी का बड़ा हिस्सा अपनी रोजी-रोटी के लिए मुख्य रूप से कृषि-आधारित गतिविधियों पर निर्भर हो जायेगी। लेकिन जमीन और पानी जैसे संसाधनों के छीनने और विकृत होने से खेती में ज्यादा सम्भावनाएँ नहीं बची

हैं। ग्रामीण विकास के लिए भूमि और जल का समन्वित विकास बहुत जरूरी है। भारत में प्रति परिवार भूमि की उपलब्धता 1.16 हेक्टेयर और पानी की प्रति व्यक्ति वार्षिक उपलब्धता 1544 घनमीटर है। एक ओर जमीन एक सामान्य परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं रह गई है वहीं भरत पानी की कमी वाला देश भी हो गया है जहाँ साल में प्रति व्यक्ति पानी की उपलब्धता 1544 घनमीटर है। दुनिया के कई इलाके आज जल की कमी की स्थिति का सामना कर रहे हैं (1000 घनमीटर से कम प्रति व्यक्ति उलपब्धता)। उत्पादक कृषि जोतों को बढ़ावा देने के लिए नीति आयोग ने कृषि भूमि की पट्टेदारी हासिल करने के लिए एक आदर्श कानून बनाने का सुझाव दिया है। इसके परिणामस्वरूप उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड ने जमीन की पट्टीदारी सम्बन्धी अपने कानूनों में संशोधन किया है। मध्य प्रदेश ने भी जमीन के बेहतरीन उपयोग और व्यावसायिक विविधता लाने के उद्देश्य से जमीन की पट्टेदारी के बारे में अलग विधेयक पेश किया है। इन उपायों का ग्रामीण विकास पर जोरदार असर पड़ने की सम्भावना है क्योंकि देश में पट्टे पर जमीन लेकर खेती करने वाले काश्तकार बड़ी तादाद में हैं। अध्ययनों से पता चला है कि ग्रामीण गरीबी और सिंचाई सुविधाओं के विकास के बीव विपरीत सम्बन्ध हैं और एक के बढ़ने से दूसरा कम होता है। बारानी खेती वाले इलाकों में सिंचाई सुविधा उपलब्ध हो जाने से उत्पादकता में 2.5 प्रतिशत की वृद्धि होती है। सिंचाई में जमीन की उत्पादकता बढ़ने के साथ-साथ खेती में विविधता लाने की सम्भावना भी बढ़ जाती है। वर्ष 2011-12 के दौरान देश में सिंचित क्षेत्र में 1.14 करोड़ हेक्टयेर की शुद्ध बढ़ोत्तरी हुई जिसमें से 63.6 प्रतिशत टयूबवेल और अन्य संधानों से हुई। सिंचाई क्षमता का लाभ उठाने की दृष्टि से सतही जल संसाधनों के उपयोग में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। ग्रामीण क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन लाने में पानी के महत्व को ध्यान में रखते हुए प्रधानमंत्री कृषि सिंचाई योजना (पीएमकेएसवाई) के माध्यम से जल क्षेत्र में तालमेल कायम करने के लिए चिर-प्रतीक्षित कदम उठाए गये हैं।

ग्रामीण परिवारों को जोखिम से मुक्त कराने के लिए फसल खराब होने से बचाव करना एक ऐसा संकट है जिसका सामना भारत में प्रत्येक ग्रामीण परिवार को कभी न कभी करना ही पड़ता है। बारानी खेती वाले इलाकों में इसकी तीव्रता और बारम्बारता अधिक होती है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों और उपभोक्ताओं, दोनों पर ही असर पड़ता है। प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना में राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना और संशोधित राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना जैसी कई बीमा योजनाओं को समाहित कर प्रारम्भ की गई। ग्रामीण इलाकों में खेती के जोखिमों के असर को दूर करने के लिए प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना एक कारगर और कुशल औजार है। इसे और अधिक समावेशी बनाने के लिए कई उपाय किये गये हैं जिनके तहत जुताई योग्य भूमि पर की जाने वाली खेती के लिए प्रीमियम की दर सिर्फ 1.5 से 2.0 प्रतिशत और फलों, सब्जियों तथा बागानी फसलों, के लिए बीमित राशि के 5 प्रतिशत के बराबर निर्धारित की गई है। वर्ष 2014-15 के बाद प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना के लिए आवंटन लगभग तीन गुना कर दिया गया है। अब तक 24 राज्यों और 3 केन्द्रशासित प्रदेशों में यह योजना लागू है और 2014-15 में खेती वाले करीब 58 लाख हेक्टयेर इलाके को इसके दायरे में लाया गया है। इसकी एक दिलचस्प बात यह है कि योजना के तहत जिन किसानों ने आवेदन किया उनमें से 24 प्रतिशत कर्जदार नहीं रहे हैं।

ग्रामीण और वित्तीय समावेशन से संस्थागत ऋणों से किसान परिवारों की आमदनी में प्रति व्यक्ति 2 डालर की मासिक वृद्धि होती है। वर्ष 2000-01 से किसानों के संस्थागत ऋणों में 18 गुना बढ़ोत्तरी हुई है और उन्हें कम ब्याज पर कर्ज मिलने लगे हैं। लेकिन छोटे और सीमांत किसानों की

ऋणों तक पहुंच और ऊँची ब्याज दरें चिंता का विषय है। हाल में इसी सिलसिल में दो महत्वपूर्ण निर्णय किये गये हैं जिनके अनुसार 3 लाख रुपये तक के अल्पावधि फसली ऋणों पर ब्याज में छूट दी गई है और किसान क्रेडिट कार्य योजना का दायरा बढ़कर आवधिक ऋणों, उपभोग सम्बन्धी खर्च हेतु लिए गये ऋणों और दुर्घटना में मृत्यु की स्थिति में जोखिम सुरक्षा को भी इसमें शामिल कर लिया गया है। जो किसान समय पर अपने ऋणों की अदायगी कर देता है वह 4 प्रतिशत की ब्याज दर पर फसली ऋण पाने का पात्र हो जाता है। नेगोशिएबल वेयरहाउस रिसीट्स (एनडब्ल्यूआर) के आधार पर भी फसल कटाई के बाद दिए जाने वाले ऋणों का वितरण भी किया जा रहा है और इनमें ब्याज में रियायत का फायदा भी दिया जा रहा है। सरकार ने कृषि ऋणों को और अधिक समावेशी बनाया है और काश्तकदार या बटाईदार, पशुपालकों और मछलीपालन करने वालों को भी संस्थागत ऋण देने का प्रावधान किया है। जमीन के मालिकाना हक की हिफाजत के लिए कानूनी व्यवस्था के साथ-साथ काश्तकारों को उनके कार्य में सहायता देने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए नीति आयोग ने कृषि भूमि को पट्टे पर देने के लिए एक आदर्श कानून का प्रारूप तैयार किया है। राज्य इसके आधार पर जमीन को पट्टे पर देने का कानून बना सकते हैं। इससे कृषि क्षेत्र में बढ़ोत्तरी के साथ ही खेती में निवेश में भी बढ़ोत्तरी की सम्भावना है।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था का कृषि पर आधारित स्वरूप अब बदलने लगा है और कई तरह की गतिविधियाँ इसमें शामिल हो रही हैं। लेकिन बुनियादी ढांचे की कमी इसमें बड़ी बाधा है जैसा कि ग्रामीण सड़कों की सघनता, सिंचाई सुविधाओं की उपलब्धता, बिजली आपूर्ति, विपणन सुविधाएँ व नेटवर्क, गोदाम, शीत भण्डार, शीतगृह शृंखला और प्रसंस्करण अवसंरचना से बात स्पष्ट हो जाती है। एक अनुमान के अनुसार फलों की पैक हाउस सुविधाओं में 99 प्रतिशत, रीफर वैन में 85 प्रतिशत, फोल्ड स्टोर्स में 10 प्रतिशत और फलों को पकाने की सुविधा में 91 प्रतिशत की कमी आई है। विपणन के लिए बुनियादी स्थान मंडियों में बिक्री स्थल है। औसतन ये करीब 463 वर्ग किलोमीटर की दूरी (12 किलोमीटर के दायरे में) पर पाए जाते हैं इनका वांछित स्तर हर 80 वर्ग किलोमीटर (करीब 5 किलोमीटर के दायरे में) होना चाहिए। विभिन्न राज्यों के बीच भी व्यापक असमानताएँ पाई गई हैं। पंजाब में हर 6 किलोमीटर के दायरे में एक थोक मण्डी है तो असम में 45 किलोमीटर में यह सुविधा मिलती है। बिजली की खपत के लिहाज से खेती में यंत्रों का उपयोग भी काफी कम है। इसका स्तर 1.84 कि.वा. प्रति हेक्टेयर है जबकि विशेषज्ञों के अनुसार इसे 2.2 कि.वा./हेक्टेयर होना चाहिए। इसी सिलसिले में केन्द्र द्वारा प्रायोजित कई योजनाएँ और केन्द्रीय क्षेत्र की योजना चल रही है जिनमें किसानों और उद्यमियों को बुनियादी ढांचे के विकास के लिए प्रोत्साहन दिए जाते हैं।

सुगम और विकेंद्रित बाजार-ढांचे के निर्माण के लिए किसान और थोक मंडियों के बीच मजबूत सम्पर्क की आवश्यकता लम्बे समय से महसूस की जाती रही है। सरकार ने गांवों के 22,000 हाट बाजारों को उन्नत कर उन्हें ग्रामीण कृषि बाजारों में बदलने का एक महत्वाकांक्षी कार्यक्रम प्रारम्भ किया है जो किसानों के इकट्ठा होने, उनकी उपज के समेकन और स्थानीय खुदरा बाजार की तरह कार्य करेगा। इसके लिए प्रारम्भ में 2000 करोड़ रुपये आवंटित किये गये हैं। ग्राम्स एकीकृत राष्ट्रीय बाजार की परिकल्पना को साकार करने के लिए व्यस्थित सम्पर्क कायम करेगा जिसके तहत फसल समेटने के बाद की बुनियादी गतिविधियों को ग्राम-स्तर पर किसानों द्वारा निपटाया जा सकेगा। इन 'ग्राम्स' के निर्माण के लिए कृषि योजनाओं और मनरेगा के साथ इसका तालमेल कायम करने की

बात भी सोची जा रही है। प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना के तृतीय चरण में ग्रामीण बस्तियों को साल भर खुली रहने वाली सड़कों के जरिए 'ग्राम्स' से जोड़ने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

मूल्य नीति का उद्देश्य न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) के जरिए उत्पादकों को लाभकारी मूल्य प्रदान करना है। लेकिन न्यूनतम समर्थन मूल्य नीति का कार्यान्वयन कुछ ही उत्पादों (चावल, गेहूँ, कपास और गन्ने) में मूल्य निर्धारण तक सीमित रहा है और भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से भी यह पंजाब, हरियाणा, छत्तीगढ़, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, आंध प्रदेश तक सीमित है। इसे समावेशी बनाकर सभी राज्यों और उत्पारदों को इसके दायरे में लाने की आवश्यकता है। देखा गया है कि सभी राज्यों के किसान सभी प्रमुख कृषि जिसों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य जैसी गारंटी की मांग कर रहे हैं। सरकार ने उत्पादन लागत के 150 प्रतिशत के समतुल्य या इससे अधिक का न्यूनतम समर्थन मूल्य देने का क्रांतिकारी निर्णय लिया है। इस तरह घोषित समर्थन मूल्य से ग्रामीण आय का समूचा परिदृश्य ही बदल जाएगा। पहली बार न्यूनतम समर्थन मूल्य के क्रियान्वयन को समावेशी बनाया जा रहा है। सभी राज्यों में 25 अधिसूचित फसलों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य घोषित करने की प्रणाली के बारे में विचार किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में नीति आयोग ने तीन प्रणालियों का सुझाव दिया है जिनमें बाजार आश्वासन, मूल्य में कमी के लिए भुगतान और न्यूनतम समर्थन मूल्य पर निजी आढ़तियों द्वारा खरीद की प्रणाली शामिल है। इन तीनों का समन्वय करके बनाई गई एक विस्तृत प्रणाली जल्द ही शुरू किए जाने की सम्भावना है जिसके तहत इन फसलों के विपणन योग्य कम से कम 40 प्रतिशत अतिशेष की खरीद की जा सकेगी।

कृषि बाजारों और विपणन के आधुनिकीकरण के लिए नया आदर्श कृषि और कृषि उत्पाद तथा पशुधन विपणन अधिनियम (एपीएलएमसी) का सुझाव दिया गया। इस आदर्श कानून में मंडी से बाहर के सौदों और जल्दी नष्ट हो जाने वाले बागानी उत्पादों को बाजार शुल्क से छूट देने के साथ-साथ इलेक्ट्रॉनिक विपणन आदि के बारे में भी स्पष्ट प्रावधान किए गए हैं। सरकार ने अनुबंधित खेती के बारे में भी आदर्श अधिनियम जारी किया है ताकि राज्यों को उत्पादकों और खरीदारों (प्रायोजकों) के हितों के संरक्षण के लिए कानून बनाने में मदद मिले। आदर्श अधिनियम किसानों को अपनी उपज के दामों के बारे में स्वयं फैसला करने और दामों की गारंटी हासिल करने के लिए प्रायोजकों के साथ मोल-भाव करने का अवसर प्रदान करता है। सरकार का लक्ष्य चिर-प्रतीक्षित कृषि विपणन सुधारों की शुरुआत करना है ताकि किसानों को उनकी उपज के बेहतर दाम दिलाए जा सकें। इसमें कृषि उपज विपणन समितियों से सम्बन्धित तमाम सूचनाएँ और सेवाएँ एक ही स्थान पर उपलब्ध करा दी गई हैं। किसान अपने निकट की किसी मण्डी से अपने उत्पादों को ऑनलाइन दिखा सकते हैं और व्यापारी किसी भी स्थान से बोली लगा सकते हें।

वित्तीय समावेशन की संकल्पना को एक बार प्रयास करके पूरा नहीं किया जा सकता है। यह एक सतत प्रक्रिया है। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसको मूर्त रूप देने के लिए सभी हितधारकों को टीम भावना के साथ प्रयास करना चाहिए। इस महती कार्य को सबकी भागीदारी की मदद से ही अंजाम तक पहुँचाया जा सकता है। इसकी सफलता के लिए बैंकर, नौकरशाह, नियामक, वित्तीय सेवाओं से वंचित आदि लोगों में जागरुकता पैदा करना अति आवश्यक है। पूरे परिदृश्य में प्रौद्योगिकी की भूमिका बेहद महत्वपूर्ण है। आज प्रौद्योगिकी से जुड़े तंत्रों जैसे एटीएम, इण्टरनेट, मोबाइल आदि की मदद से ग्रामीण अपनी वित्तीय जरूरतों को पूरा कर रहे हैं।

ग्रामीण युवाओं के पास अपने सपनों को पूरा करने के सीमित विकल्प हैं। उनके लिए जीवनयापन के लिए स्वरोजगार शुरू करना या रोजगार हासिल करना सबसे महत्वपूर्ण है। इसके लिए जरूरी है कि वे अद्यतन तरीके से खेती-किसानी करें या छोटा-मोटा कारोबार करके अपने परिवार का पेट पाले। इसके लिए ग्रामीण युवाओं के लिए जरूरी है कि वे बैंक या वित्तीय संस्थाओं से जुड़ें। बैंक से जुड़ने पर ही वे ऋण, फसलों का बीमा, कारोबार, सरकारी योजनाओं का लाभ आदि का उपभोग कर सकते हैं। इस तरह, वित्तीय समावेशन के सपने को साकार करना ही ग्रामीणों की समस्याओं का सबसे महत्वपूर्ण और कारगर हल है। प्रधानमंत्री जन-धन योजना, प्रधानंत्री मुद्रा योजना, अटल पेंशन योजना, बैंकों द्वारा शुरू किए गए मिनी बैंक, प्रौद्योगिकी से सम्बद्ध उत्पाद आदि से आज ग्रामीण युवाओं को न सिर्फ रोजगार मिल रहा है बल्कि वे स्वरोजगार शुरू करने में भी सफल हो रहे हैं।

व्यवसाय के रूप में ग्रामीण क्षेत्र में कृषि का विकास हो रहा है हालांकि यह और बात है कि अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के मुकाबले खेती के विकास की दर धीमी है। हाल में खाद्य सुरक्षा और आमदनी सुरक्षा की प्राथमिकताओं को भी इसमें शामिल करने के लिए की गई पहलों ने कृषि को और भी समावेशी बना दिया है। ग्रामीण परिवारों की आदमनी बढ़ाने के लिए माहोल तैयार करने की दिशा में महत्वपूर्ण पहल और कार्यक्रम प्रारम्भ किए गये हैं। इनका असर भी चिरस्थायी बना रहेगा जब इनहें विकास योजनाओं की मुख्यधारा में शामिल किया जाए। ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों और प्राथमिकताओं को आधान-लागत में किफायत करने वाली कृषि टेक्नोलॉजी के साथ समेकित किए जाने से कम प्राकृतिक संसाधनों से अधिक पैदावार ली जा सकेगी जिससे गांवों में खुशहाली आएगी और कृषि के क्षेत्र में क्रांतिारी बदलाव आएगा।

ग्रामीणों को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से सबल बनाने के लिए वित्तीय साक्षरता जरूरी है। बैंक से जुड़कर ग्रामीण महाजन के चंगुल से बच सकते हैं। कई बार ग्रामीणों के पैसे चोरी हो जाते हैं या खो जाते हैं, जिसका निदान भी बैंक से जुड़ना है।

नोबल पुरस्कार विजेता डॉयूनुस के मुताबिक गरीबी पर काबू पाने का मूल तत्व खुद गरीब के अंदर होता है। हमें इसके लिए उस व्यक्ति की मदद करनी चाहिए। उसे बैंक से जोड़ना उसकी सबसे बड़ी मदद है, लेकिन इस संदर्भ में सभी हितधारकों, जैसे नीति निर्माताओं, नियामकों, बैंकों, एनजीओ, एमएफआई और अन्य सम्बन्धित वित्तीय संस्थानों द्वारा सकारात्मक कार्रवाई करने की जरूरत है।

ग्रंथ सूची-

1. खाद्य और कृषि संगठन की रिपोर्ट 2011-12
2. कुरुक्षेत्र सितम्बर 2015, पृ0 5-6
3. कुरुक्षेत्र जनवरी 2015, पृ0 24
4. इंडियन इकोनामी - एस.के.मिश्रा, वी.के.पुरी, संस्करण 2004, पृ0 916
5. दत्त एवं सुन्दरम, भारतीय अर्थव्यवस्था, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, रामनगर, नई दिल्ली-110055, 2012